शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना
के विकास में
'आलोचना' पत्रिका का योगदान

डॉ. विश्वनाथ शर्मा
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
इन्दिरा गांधी राजकीय महाविद्यालय
तेजू (अरुणाचल प्रदेश)

जय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी, फोन-३३३५०४

संजय बुक सेन्टर
के. ३८/६, गोलघर, वाराणसी–१
द्वारा प्रकाशित
दूरभाष : ३३३५०४
संस्करण–१९९७

कम्प्यूटर कम्पोजिंग
प्रतिमान कम्प्यूटर्स
बी १/८४ डी, अस्सी
वाराणसी–२२१००५
फोन : ३१३२१२

Rs. 125-00

समर्पण

प्रेरणा स्रोत- डॉ. बसंत प्रसाद सिंह
पूर्व विभागाध्यक्ष– हिन्दी
श्री मुरली मनोहर टाऊन महाविद्यालय
बलिया

एवं

प्रो. कृष्णचन्द लाल
हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भूमिका

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास एवं प्रसार में साहित्यिक पत्रिकाओ का काफी योगदान रहा है। भारतेन्दु युग से लेकर अब तक तमाम ऐसी साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ है जिन्होंने न केवल अपने समय के हिन्दी साहित्य से लोगों को परिचित कराया है बल्कि देशकाल के अनुरूप हिन्दी साहित्य को नई चेतना और नई दिशा भी दी है। विभिन्न साहित्यिक आन्दोलनो का स्वर पहले पहल पत्रिकाओं में ही मुखरित हुआ है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि स्वतन्त्रता के पहले की पत्रिकाओं का मुख्य ध्येय सर्जनात्मक साहित्य को प्रोत्साहित करने का था। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी में 'आलोचना' नाम की एक ऐसी महत्वपूर्ण पत्रिका का एक विशिष्ट रूप एवं महत्व है। यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की समीक्षा अधिकतर पत्र–पत्रिकाओ मे ही पहले प्रकाशित हुई है। इस दृष्टि से 'आलोचना' पत्रिका ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 'आलोचना' पत्रिका ने पुस्तक समीक्षा को एक गम्भीर आलोचना–कर्म मानकर पुस्तक समीक्षाओं को प्रकाशित किया है। इससे 'आलोचना' पत्रिका मे प्रकाशित समीक्षाओं से हिन्दी आलोचना के नए प्रतिमान रेखांकित हुए हैं। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा के स्वरूप–निर्माण मे और विभिन्न समीक्षा–पद्धतियों के विकास में 'आलोचना' पत्रिका का बहुत बडा योगदान है। 'आलोचना' पत्रिका के इस महत्व को ध्यान में रखते हुए मैने 'शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका का योगदान विषय को शोध के लिए चुना। मुझे हर्ष है कि गोरखपुर विश्वविद्यालय के तत्कालीन विभागाध्यक्ष आदरणीय डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने इस विषय पर शोध कार्य करने के लिए न केवल अनुमति प्रदान की बल्कि इस दिशा में पर्याप्त निर्देश देकर मेरे अध्ययन मार्ग को काफी प्रशस्त कर दिया। इसके लिए मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन को मैंने छः अध्यायों में व्यवस्थित किया है। प्रथम अध्याय में 'आलोचना पत्रिका के प्रकाशन के पूर्व की आलोचना–पद्धतियो के विषय में संक्षिप्त रूप से यह बताने का प्रयास किया गया है कि आलोचना की प्रारम्भिक स्थिति कैसी थी। भारतेन्दु युग की समीक्षा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा, तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय तक की समीक्षा की मुख्य प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में शिवदान सिंह चौहान के संपादकत्व में प्रकाशित होने वाली 'आलोचना' पत्रिका की उपलब्धियों का मूल्यांकन किया गया है। 'आलोचना पत्रिका का प्रकाशन शिवदान सिंह चौहान के सम्पादकत्व में १९५१ में आरम्भ हुआ। इस अध्याय में इसकी मुख्य सम्पादकीय घोषणाएँ इसमें प्रकाशित लेखो का वर्गीकरण एवं मूल्यांकन–उस समय के प्रमुख आलोचक तथा आलोचना दृष्टि के बारे में बताया गया है। शिवदान सिंह चौहान ने दो वर्षों तक इस पत्रिका का सम्पादन कार्य किया। उस समय 'आलोचना' पत्रिका का हिन्दी साहित्य में जोरदार स्वागत किया गया। उस समय इस पत्रिका में साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण को रेखांकित किया गया है।

आलोचना' पत्रिका के   का कार्य डॉ धर्मवीर भारती ब्रजेश्वर

वर्मा, रघुवंश एवं विजयदेव नारायण साही को सौंपा गया। तृतीय अध्याय में इस परिवर्तन से 'आलोचना' पत्रिका के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया है उसका विश्लेषण किया गया है। इस समय की 'आलोचना' में प्रकाशित लेखों का वर्गीकरण, लेखों का मूल्यांकन प्रमुख आलोचक एवं उनकी आलोचना का मूल्यांकन किया गया है। इस समय की आलोचना में व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित किया गया है तथा आधुनिकतावाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के संपादन में प्रकाशित 'आलोचना' पत्रिका की समीक्षा की गयी है। 'आलोचना' पत्रिका के सम्पादन का कार्य जब प्रखर रसवादी आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को सौंपा गया तो 'आलोचना' की दृष्टि फिर बदली। वाजपेयी जी ने स्वच्छन्दतावादी दृष्टि को स्थापित करने का प्रयास किया। इस अध्याय में इससे संबन्धित तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय में डॉ. नामवर सिंह द्वारा सम्पादित 'आलोचना' पत्रिका के महत्व को रेखांकित किया गया है। इसमें भी सम्पादकीय वक्तव्य तथा लेखों का मूल्यांकन प्रस्तुत कर प्रमुख आलोचना प्रवृत्तियों के महत्व को देखने का प्रयास किया गया है। इस समय के अंकों में प्रगतिवादी, मार्क्सवाद आलोचना–पद्धति पर विशेष बल दिया गया है। उल्लेखनीय है कि डॉ. नामवर सिंह 'आलोचना' के ऐसे सम्पादक हैं जो एक लम्बे समय से इसके सम्पादन का कार्य कर रहे है। उन्हें 'आलोचना' को नया रूप–रंग देने का काफी अवसर भी मिला है। नामवर जी ने इस लम्बी अवधि की सेवा का भरपूर उपयोग किया है। उन्होंने 'आलोचना' को एक ऐसी पत्रिका के रूप में प्रतिबिम्बित कर दिया है जिसको पढ़ना हर साहित्यिक के लिए अनिवार्य लगता है। आलोचना के क्षेत्र में नये–नये विषयो को जन्म देकर और उन पर बहसें कराकर नामवर जी ने इस पत्रिका को पठनीय और महत्वपूर्ण बना दिया है तथा हिन्दी आलोचना की एक प्रगतिशील धारा को वेग प्रदान कर दिया है।

अन्त में समग्र आकलन प्रस्तुत किया गया है जिसमें पूरे अध्ययन का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। इसमें शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना के विकास मे इस पत्रिका के महत्व को रेखांकित किया गया है।

मैंने अपनी सीमा और सामर्थ्य के अनुसार "शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना के विकास में 'आलोचना' पत्रिका के योगदान" को रेखांकित करने का एक लघु प्रयास किया है। अपने प्रयास मे कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसका निर्णय तो विद्वान लोग करेंगे लेकिन मेरे इस अध्ययन से यदि आगे के अनुसंधित्सों को उपयोगी सामग्री मिल सके अथवा उन्हें अपने अध्ययन को आगे बढ़ाने में इससे कुछ प्रकाश मिल सके तो अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

प्रस्तुत शोधकार्य को सम्पन्न कराने में डॉ.(श्रीमती) शान्ता सिंह, आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, ने समयाभाव होते हुए भी जिस तत्परता से हमारा मार्गदर्शन किया उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ

डा श्रीवास्तव रीडर हिन्दी विभाग गोरखपुर ने

इस शोध प्रबन्ध को सजाने–संवारनें में अमूल्य योगदान दिया, इसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

डॉ. कृष्णचन्द्रलाल, प्रो० हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय एव उनके परिवार ने हमारी हर सम्भव मदद की जिससे मुझे इस कार्य को करने मे बडी ही सुविधा हुई। इसके लिए मैं उनका जीवन भर आभारी रहूँगा।

इस कार्य को करने के लिए जिनकी प्रेरणा मुझे हमेशा प्रेरित करती है वे हैं डॉ. बसन्त प्रसाद सिंह, प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, श्री मुरली मनोहर महाविद्यालय बलिया। उनके प्रति अपना आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ने 'आलोचना' पत्रिका के पुराने अको को उपलब्ध कराकर मेरे शोध कार्य के मार्ग को अत्यन्त सरल बना दिया इसके लिए उनका आभारी हूँ।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पुस्तकालयाध्यक्षों को मै धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने सामग्री–संकलन में हमारी सहायता की।

'आलोचना' पत्रिका पर काम करने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण विद्वानो ने अपने विचारों से हमारी मदद की उनमें–डॉ. नामवर सिंह, डॉ. केदारनाथ सिह, डॉ रघुवंश, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानो के प्रति भी हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में माता जी, पिता जी एवं परिवार के अन्य सदस्य तथा मित्रों को कैसे भुला सकता हूँ, जिनकी मदद के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं हो सकता था। अतः इनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। संजय बुक सेन्टर की तत्परता एवं सहृदयता नें इस कार्य को सरल बना दिया इसलिए इन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

तुलसी जयन्ती
१९९७

विश्वनाथ शर्मा

विषय सूची

प्रथम अध्याय :

'आलोचना' प्रकाशन के पूर्व की हिन्दी आलोचना, भारतेन्दु युगीन समीक्षा, द्विवेदी युगीन समीक्षा, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, पं. पद्म सिंह शर्मा, प कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी परम्परा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दरदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, आचार्य विश्वनाथ मिश्र, अन्य आलोचक, शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा, शुक्ल पद्धति, स्वच्छन्दतावादी या सोष्ठववादी आलोचना, प्रगतिवादी आलोचना।

द्वितीय अध्याय :

'आलोचना' का प्रकाशन प्रारम्भ (१९५१), सम्पादकीय योजनाएँ : शिवदान सिह चौहान, 'आलोचना' का उद्देश्य, साहित्य मे पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा, यथार्थ और साहित्य, प्रगतिशील साहित्य, प्रगतिवादी साहित्य में इतिहास की समस्या, राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या, प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन, इतिहास और आलोचना, आलोचना दृष्टि, प्रमुख आलोचक, आलोचना और रचना, निष्कर्ष, शिवदान सिंह चौहान का पुनर्सम्पादकत्व, सम्पादकीय वक्तव्य : आलोचना–दृष्टि, प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन, नयी कविता, सिद्धान्त चर्चा, नाटक, तथा साहित्य, श्रेष्ठ कृतियों का मूल्यांकन।

तृतीय अध्याय :

आलोचना पत्रिका के नये सम्पादक और उनकी आलोचना दृष्टि, आलोचना पत्रिका के नये सम्पादक, सम्पादकीय वक्तव्य (आलोचना दृष्टि), प्रकाशित लेखों का वर्गीकरण आदिकालीन हिन्दी साहित्य से

लेख हिन्दी साहित्य

से सबधित लेख, आधुनिक हिन्दी साहित्य से संबंधित लेख, कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, काव्यशास्त्र से संबंधित लेख, पाश्चात्य, भारतीय, समसामयिक प्रश्न, विविध लेख, प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन, समीक्षित पुस्तकें, प्रमुख आलोचक एवं उनकी आलोचना दृष्टि।

चतुर्थ अध्याय : ८६

आलोचना पत्रिका के नए सम्पादक, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आलोचना दृष्टि में परिवर्तन, सम्पादकीय वक्तव्य, प्रकाशित लेखों का वर्गीकरण, आदिकालीन संबंधी लेख, मध्यकालीन संबंधी लेख, आधुनिक लेख, कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास काव्यशास्त्र संबंधी लेख, भारतीय, पाश्चात्य, विविध लेख, प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन, समीक्षित पुस्तकें, प्रमुख आलोचक एवं उनकी आलोचना–दृष्टि।

पंचम अध्याय : ११२

डॉ. नामवर सिंह द्वारा सम्पादित आलोचना सम्पादकीय वक्तव्य : लेख, भारतीय काव्य सिद्धान्तों का पुनर्मूल्याकन, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र, पाश्चात्य काव्य–चिन्तन की नयी दिशाएं, शैली वैज्ञानिक, नयी समीक्षा, अस्तित्ववाद, समाजशास्त्रीय समीक्षा, संरचनावादी समीक्षा, विच्छेदवाद, मूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन, गद्य विधाएं, विशेषांक, कविता, प्रमुख समीक्षक :

उपसंहार १५३

परिशिष्ट १६०

प्रथम अध्याय

आलोचना 'पत्रिका के प्रकाशन के पूर्व की आलोचना'

पूर्व पीठिका

हिन्दी आलोचना का जन्म भारतेन्दु काल में ही हो चुका था, किन्तु उसे पोषित कर उसके स्वरूप को संवारने का श्रेय वर्तमान युग को ही है। आरम्भिक काल में आलोचना का सूत्रपात तत्कालीन पत्र–पत्रिकाओं की सम्पादकीय टिप्पणियों और कहीं–कहीं सम्पादक के नाम पत्रों के रूप में हुआ। इस काल में स्वतन्त्र रूप से कोई पुस्तक नही लिखी गई।

'आलोचना' प्रकाशन के पूर्व की आलोचना को हम स्थूल रूप से चार युगों में विभक्त कर देख सकते हैं।

१ : भारतेन्दुकालीन परिचयात्मक आलोचना। (१८६७–१९००)
२ : द्विवेदी जी की गुण–दोष–कथन प्रणाली। (१९०१–१९२०)
३ : शुक्ल जी की वैज्ञानिक प्रणाली। (१९२१–
४ : शुक्लोत्तर कालीन समीक्षा प्रणालियाँ

१ : भारतेन्दु कालीन परिचयात्मक आलोचना

आधुनिक समालोचना का जन्म भारतेन्दु युग से ही माना जाता है। इस तथ्य का विश्लेषण करते हुए गोविन्द त्रिगुणायत ने उस युग के पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली सम्पादकीय टिप्पणियो के विभिन्न उदाहरण दिए हैं–

"भारतेन्दु हरिश्चन्द के समय में उसका प्रारम्भ हो चुका था। 'कविवचन सुधा' (१८६८) तथा हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७३) में प्रायः कुछ नोट समालोचना के नाम से निकला करते थे। भारतेन्दु ने स्वयं 'मुद्राराक्षस' की भूमिका में एक समालो नोट लिखा है 'ब्राह्मण १८८३ मे मिश्र ने इस प्रकार का एक नामक नोट प्रकाशित किया १८८५ मे लाला

श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक पर 'हिन्दी प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट ने छोटी सी समालोचना लिखी। उसी वर्ष प्रेमचन्द जी ने 'आनन्द–कादम्बिनी मे उसी की आलोचना लिखी है। यह सब समालोचनाएँ एक प्रकार से समालोचना न होकर पुस्तक का परिचय मात्र हुआ करती थी। १८६७ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसमें गवेषणात्मक और समालोचना सिद्धान्त सम्बन्धी लेख प्रकाशित होने लगे।" (१)

पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' (जुलाई १८८१) में 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास हैं' शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें उन्होने साहित्य को इस रूप में परिभाषित किया था–"साहित्य यदि (nation) जन समूह के चित्त का चित्रपट कहा जाय तो संगत है, किसी देश का इतिहास पढने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय–समय के आभ्यन्तारिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते है।"(२)

'प्रेमघन' ने सन् १८८१ ई. में 'आनन्द–कादम्बिनी' में प्रकाशित 'दृश्य' रूपक या नाटक' शीर्षक के अपने लेखमाला में लिखा था, "हमारे भाषा के नाटक लिखने वालों के अर्थ भाषा दृश्य–वाक्य के निरूपण, और लक्षण तथा भेद, रीति, नियम और उदाहरण को बताने वाला कोई साहित्य का ग्रन्थ नही, और जो संस्कृत में 'षष्ठ परिच्छेद' साहित्य–दर्पण मे श्री विश्वनाथ कविराज रचित' दश रूपक सूत्र इत्यादि हैं, अब उनमें बहुत से गड़बड़ समय और भाषा परिवर्तन के कारण हो गये और कितनी बातों का विरोध पड़ गया, अतएव मुख्य तो इनका आश्रय लेकर और उस समय से इधर से बने नाटक तथा अंग्रेजी बगला, इसी रीति से हमारी भाषा के भी (जो हैं) और गुजराती तथा महाराष्ट्रीय से भी जांचकर नये तरह पर खास कर इस नागरी भाषा में कोई ग्रन्थ होना अत्यन्त आवश्यक है।"(३)

पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची कविता' शीर्षक से 'हिन्दी प्रदीप' (अक्टूबर ८६) में लिखे निबन्ध में कविता का स्वच्छन्दतावादी दर्शन प्रस्तुत किया है। स्वच्छन्दतावादी कविता पाठकों के मन पर सीधा प्रभाव डालती है। इस दृष्टि से उसकी तुलना वक्तृत्य कला से की जा सकती है। यही बात हम काव्य में भी पाते हैं। किसी प्रसंग को अपने कविता में ऐसे ढंग से बांधना कि पढ़ने या सुनने वाले भड़क उठें। किसी चित्र को आपने ऐसा उत्तम खींचा कि देखने वाले जितना डूबकर उसको देखते हैं उतना ही असर उसका उनपर होता है। कविता को वे 'मनुष्य के हृदयगत भाव का सन्त (एसन्स) मानते हैं।' इसलिए पूर्णत प्रभावशाली होने के लिए उनके अनुसार सच्चा होना आवश्यक है। इस सच्चा होने का क्या मतलब ? भट्ट जी का कहना–"बहुत जल्द ऐसा समय आता है कि झूठा और नकली सोने को असली कर दिखा देने का हुनर लोगों को मालूम हो जाता है। ठीक यही बात कविता से है, निःसन्देह पहले जिन लोगों ने कुछ

---

(१) शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत-गोविन्द त्रिगुणायत, पृ. ३७२
(२) हिन्दी का विकास-(नवल) पृ १५
(३) हिन्दी का विकास-(नवल) पृ १६

कहा, वह सच्ची और खरी बात थी क्योंकि कविता का हुनर (art) तब तक पैदा ही नहीं हुआ था। कविता झूठी और नकली होने की सम्भावना ही नहीं थी। इसको हम प्राथमिक अथवा वास्तविक कविता कहेंगे। कविता हृदय को सीधे प्रभावित करे इसके लिए जरूरी है कि वह नैसर्गिक हो और उसमें कलात्मकता न हो।"(१)

पुस्तक समीक्षाएं

हिन्दी प्रदीप (जून १८८८) में पं. किशोरीलाल गोस्वामी की कविता पुस्तक "समस्या पूर्ति मंजरी' की समीक्षा करते हुए भट्ट जी ने कहा है कि इसकी सम्पूर्ण कवितायें केवल शृंगार रस की न होकर थोड़ी सी सामाजिक देश–भलाई के संबंध में भी होती तो सोना और सुगन्धित कहा जाता।

'हिन्दी प्रदीप' (अक्टूबर १८८७) के अंक में शंकर दीक्षित की पुस्तक 'माधुरी विलास' की समीक्षा करते हुए कविता की भाषा के संबंध में इस प्रकार विचार प्रकट किए–"कविता के लिए उत्तम और उपयुक्त भाषा ओज माधुर्य गुण विशिष्ट बुन्देलखण्ड की मर्दानी बोली है–क्योंकि भाषा कवियों के समूह के उसी प्रान्त में हुए हैं, खैर उसके अभाव में मधुर पर जनानी ब्रज की भाषा भी उपयुक्त है–ठेठ बैसवारे की बोली की कविता न जाने क्यों मुझे भाती है। गोसाईं तुलसीदास की कविता में सब प्रकार की बोली पाई जाती है। इसी से वह अधिक सर्वसम्मत और मधुर है।"(२)

भारतेन्दु युग के प्रमुख साहित्यिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक पं बालकृष्ण भट्ट, 'आनन्द कादम्बिनी' के सम्पादक प्रेमघंन और 'ब्राह्मण' के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र थे। इन पत्रों में पुस्तक समीक्षाए निकलती थी। इनमें समीक्ष्य पुस्तकों का परिचय मात्र दिया जाता था और प्रायः ये संक्षिप्त होती थी। इनको पुस्तक परिचय ही कहना ज्यादा उचित होगा। ऐसी तीन पुस्तक समीक्षाएं उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हैं। इनमें पहली समीक्षा–'नील देवी' दूसरी 'एकान्तवासी योगी' और तीसरी 'सती नाटक' की है।

'नीलदेवी हमारे प्रियवर श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द जी रचित ऐतिहासिक दुखान्त गीतरूपक। यह रूपक के राजा सूरज देव की रानी नीलदेवी का अपने पति के प्राण के बदले में स्वयं गाय के भेष में दिल्ली के बादशाह के सेनापति अब्दुल शरीफ खाँ मूर की सभा में जाकर उक्त पति–प्राणहारक शत्रु का वध कर डालने के बीज पर लिखा गया है। यद्यपि इस रूपक के प्रबन्ध और रचना मे कुछ दोष क्यों न आ गये हों, पर तो भी हम केवल गुण–गान का वर्णन करना उचित न जानते हों, इसमें सातवाँ दृश्य (विशेष लावनी) आठवाँ (इसके पागल का पाठ बहुत ही उत्तम है।) अच्छे हैं और दसवाँ में तीनों दृश्य अच्छे है। हम इसके नवें दृश्य से उद्धृत कर कुमार सोमदेव के वीररस भरे उत्साह पूरित वाक्य अपने रसिकों को इसके कविता को परिचय दिलाने के अर्थ यहाँ लिखते हैं–

---

(१) हिन्दी का विकास-(नवस) पृ २३
(२) हिन्दी का विकास-(नवस) पृ २४

चलहु वीर उठि सुरत सबै जय ध्वजहिं उछावो।
लेहु म्यान सों खड्ग खींच रथ रंग जमाओ।।
परिकर कसि कटि उठो धनुष पे धरिसर साधो।
केसरिया बनो सजि सजि रन कंगन बाँधो।।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय।।

पं. श्रीधर पाठक रचित गोल्डस्मिथ हरमिट का अनुवाद खड़ी बोली मे–"विशेष प्रशंसा के योग्य यह नवीन रचना इसलिए है कि अंग्रेजी में जो पद्य था उसका अनुवाद भाषा के पद्यों में ही किया गया है–जहाँ–जहाँ जितना ग्रन्थकार ने अपनी ओर से मिलाया है वह भाग अधिक रसीला और भावपूर्ण है–हमारे मित्र पाठक महोदय ने अपने इस परिश्रम से हमें यह अच्छी तरह जता दिया कि कविता के पश्चिमी संस्कार (westecn idea) कभी हमारे लिए मनोरंजक और दिलचस्प नहीं हो सकते–इसमें सन्देह नहीं अंग्रेजी अत्यन्त विस्तृत (विस्तृत ?) भाषा और उन्नति के शिखर पर चढ़ी हुई है परन्तु कविता के अंश में हमारी देशी भाषाओं से कभी होड़ नहीं ले सकी–ग्रिफिथ साहब का रामायण शकुन्तला प्रभृति नाटकों का अनुवाद आदि इस बात का पक्का सबूत है कि हमारी भाषाओं काव्यों का अनुवाद जो और भाषाओं में किया गया है वह कितना सर्व सर्वसंगत और विद्वज्जनाहरणीय हुआ वहीं अंग्रेजी में पहले तो इतने अनूठे कोई काव्य हैं नहीं जो अनुवाद के योग्य हों, हैं भी तो हमारी भाषा मे उनका शब्दार्थ अनुवाद कदापि चोखा रसीला सर्वसम्मत और सर्वग्राह्य न होगा।"(१)

"सती नाटक यह हमारे प्रिय मित्र एवं 'ब्राह्मण' के परम हितैषी श्रीयुत मुशी उदित नारायण वकील कलेक्टरी गाजीपुर का अनुवाद है जब हम दूसरे काव्यग्रन्थों को देखते कि नाम में भी फारसी ही, अरबी का आकर शौक भी उरदू ही पर, सो अफसोस होता है कि यह कैसे हिन्दू हैं पर यह पुस्तक देखकर इतना सन्तोष हुआ मानो किसी झाड़–झंखाड़ से भरे हुए वन में एक कल्पवृक्ष का पौधा देख रहे हैं। परमेश्वर करे ऐसी रूचि दूसरे लोगों को भी हो। इस पुस्तक की प्रशंसा हम इसलिए नहीं करते कि लोग हमें पक्षपाती ठहरायेंगे पर पाठकों को इतनी सूचना देते हैं कि यदि हिन्दी भाषा का माधुर्य पातिव्रत की पराकाष्ठा, मात्र स्नेह का जीवित नमूना–प्रेम प्रमादियों के प्रत्यक्ष आचरण एव हार्दिक शान्ति इत्यादि प्रत्यक्ष देखना हो आठ आने का लोभ न करके भारत जीवन आफिस अथवा मुंशी जी से मंगवा के सती नाटक देखिए यह तीनों ग्रन्थ (रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनुदित 'वीर नारी नाटक' और 'पद्मावती' तथा 'सतीनाटक') हमारी नागरी देवी के भूषण हैं पर हम अपने अनुवादक मित्रों को अदब के साथ अनुमति देते हैं कि स्त्रियों की बोली नेक सरल रक्खा करें तो सोने मे सुगन्ध हो।"(२)

इन समीक्षाओं से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु युग के समीक्षक सक्षिप्त पुस्तक समीक्षाओ द्वारा पाठकों को न केवल समीक्ष्य पुस्तक की

---

(१) हिन्दी प्रदीप (भट्ट) मई १८८६
(२) (प मिश्र) मार्च स ५

विषय–वस्तु का परिचय देते थे बल्कि यथासम्भव उस पर आलोचनात्मक टिप्पणी भी करते थे और लेखक को आलोचकीय परामर्श भी देते थे। 'एकान्त वासी योगी' के सम्बन्ध में 'हिन्दी प्रदीप' सम्पादक का यह कथना है कि 'जहाँ–जहाँ जितना ग्रन्थकार ने अपनी ओर से मिलाया है वह भाग अधिक रसीला और माधुर्य पूर्ण है। 'ब्राह्मण' सम्पादक का यह कथन कि अनुवादक 'स्त्रियों की बोली नेक सरल रक्खा करें तो सोने में सुगन्ध हो' आलोचकीय परामर्श के उदाहरण हैं।

इस युग में कुछ विस्तृत समीक्षायें भी लिखी गईं। इनमें से जो दो सर्वाधिक प्रसिद्ध समीक्षाएं हैं वे लाला निवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' पर लिखी गई हैं जिसे लेखक ने 'ऐतिहासिक नाटक' कहा था। पहली समीक्षा 'हिन्दी प्रदीप'(१) में निकली थी और दूसरी 'आनन्द कादम्बिनी'(२) में।

'हिन्दी प्रदीप' में संयोगिता स्वयंवर' के अलावा 'रणधीर प्रेममोहनी', नील देवी', 'भारत दुर्दशा' आदि पर भी भट्ट जी ने समीक्षात्मक टिप्पणियॉ लिखी थी। इनमें से 'नीलदेवी' की समीक्षा किंचित विस्तृत थी। भट्ट जी ने नाटकों के साथ–साथ भारतेन्दु युग के मौलिक और अनूदित उपन्यासों की भी समीक्षा की थी। इसमें नाटक का उपदेशात्मक होना नाटकों का दोष माना गया है।

निष्कर्ष यह कि भारतेन्दु–युग की आलोचना पुस्तक–समीक्षा के रूप मे ही सामने आती है, जो आलोचनात्मक सम्भावनाओं से भरी हुई है। इसमें गुण–दोष विवेचनप्रधान हैं।

द्विवेदी युग की समीक्षा

समालोचना का वास्तविक श्रीगणेश द्विवेदी युग में हुआ था और स्वय द्विवेदी जी के द्वारा किया गया था। महावीर प्रसाद द्विवेदी से पहले भी यद्यपि, कुछ समालोचना सम्बन्धी लेख और ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द प बालकृष्ण भट्ट और उपाध्याय पं. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के साहित्य सम्बन्धी चिन्तन का विकास हमें पं. महावरी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में देखने को मिलता है। द्विवेदी जी संस्कृत के विद्वान थे, इसलिए उन्होंने अपने आलोचनात्मक लेखन का आरम्भ संस्कृत के कवियों और उनकी कृतियों पर विचार से ही किया। पुस्तक रूप में जो उनकी आलोचनाएं प्रकाशित है वे–"विक्रमांक देव चर्चा और नेवध चर्चा, 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' है। दोनों ग्रन्थों में उन्होंने दो संस्कृत कवियों की आलोचना प्रस्तुत की। 'हिन्दी कलिदास की आलोचना' में इन्होंने बाबू सीताराम बी ए. कृत 'कालिदास' की रचनाओं के अनुवादों की आलोचना की है। 'विक्रमांक देव चरित ओर नेवध चर्चा' में इन ग्रन्थों की प्राचीन प्रतिमानों के प्रकाशन में अच्छी समीक्षा की गई है। यह समीक्षा अधिकतर प्रशंसात्मक है। इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इसमें इन्होने

(१) हिन्दी प्रदीप- अप्रैल- १८८६
(२) कादम्बिनी माला-२, मेघ- १०-११-१२, १८८६

भाषा और प्रयोगों के सम्बन्ध में कालिदास का विशेष रूप से विवेचन किया है। इन चार ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे थे जिनमें 'कवि और कविता' नामक निबन्ध प्रसिद्ध है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की समालोचना सम्बन्धी विशेषताएं-

आचार्य द्विवेदी जी हिन्दी के नवीन साहित्य को देश और समाज की परिस्थितियों से जोड़ना चाहते थे। वे प्रगतिशील विचार के गम्भीर अध्येता थे। उनकी सबसे बड़ी देन यह मानी गई है कि उन्होंने व्याकरण की दृष्टि से खडी बोली को व्यवस्थित और परिष्कृत किया। शुक्ल जी ने लिखा है–व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे।"[१]

आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी किस परम्परा के वाहक थे, इसका पता उनके 'नायिका भेद' शीर्षक निबन्ध से चलता है जिसमें उन्होंने रीतिकालीन कविता पर इन शब्दों में बज्र प्रहार किया है–"राजाश्रय मिलने की देरी, राजा जी को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनन्द चखाने के लिए कवि जी को देरी नहीं। १० वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर ५० वर्ष की प्रौढा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतलाकर और उनके हाव–भाव, विलास आदि की सारी दिनचर्या का वर्णन करके ही कविजन सन्तोष नहीं करते थे।"[२]

द्विवेदी जी हिन्दी में नायिका–भेद और रीति निरूपण वाली परम्परा को ध्वस्त कर किस नयी परम्परा का आरम्भ करना चाहते थे, यह उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में बतलाया है–"नायिका भेद और रस तथा अलंकार के विवेचन से पूरित पुस्तकों की भी इस समय आवश्यकता नहीं। हम यह समझते हैं कि 'जसवन्त–जसो–भूषण' जैसे ग्रन्थों से भाषा को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा। यदि इन ग्रंथों के बनाने और छापने में जो धन व्यय किया गया है वह जीवन चरित, इतिहास, अथवा किसी वैज्ञानिक ग्रन्थ के लिए किया जाता तो भाषा का भी उपकार होता और धन का भी सद्व्यय होता।[३]

द्विवेदी जी की समालोचना पद्धति पर मराठी साहित्य का भी प्रभाव पडा था, जिससे उनकी शैली थोड़ी शुष्क इतिवृत्तात्मक और नीरस हो गई थी। इन्होंने अधिकतर कवियों के गुण–दोष कथन तक ही अपने को सीमित रखा। प्रारम्भ में ही तो कवि परिचय की ही प्रवृत्ति थी जिसे देखकर श्याम बिहारी मिश्र ने यह मत व्यक्त किया–"आजकल की तो कुछ समालोचनाओं में पुस्तक का सक्षिप्त में उल्लेख मात्र कर दिया जाता है। ग्रन्थ बहुत विद्वत्ता और गवेषणापूर्वक लिखा गया है। यह पुस्तक शिक्षाप्रद है।"[४]

समालोचना के रूप में द्विवेदी जी ने सबसे बड़ा कार्य समालोचना के आदर्श के सम्बन्ध में किया था। वे नैतिकतावादी थे। इस दृष्टि से वे अंग्रेजी के आलोचक हाइडन के अधिक समीप थे। द्विवेदी जी सरल भाषा को अपनाने

---

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास (पृ. ४२६)

(२) रसरंजन, पृ. ६६

(३) ——— महावीर प्रसाद द्विवेदी- पृ ४०-४१

(४) देव और बिहारी ग्रन्थ- मिश्र भूमिका पृ ३३

पर विशेष बल देते थे। हिन्दी की वर्तमान व्यवस्था शीर्षक अपने व्याख्या मे भाषा के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि–"मैं तो सरल भाषा के लेखक को ही बहुत बड़ा लेखक समझता हूँ। लिखने का मतलब औरो पर अपना भाव प्रकट करना है। जिसका मनोभाव जितने ही लोग अधिक समझ सकेगे उसका प्रयत्न और परिश्रम अतना ही अधिक सफल हुआ समझा जायेगा। जितने बडे–बड़े लेखक हो गये हैं प्रायः सभी सीधी सादी और बहुजन बोधगम्य भाषा के पक्षपाती थे।"(१)

उन्होंने भाषा सम्बन्धी एक निश्चित दृष्टिकोण के आधार पर लेखकों की भाषा का सुधार किया। उनका दृष्टिकोण किसी तरफ शुद्धतावादी न था। उन्होंने कहा है,"मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द है और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिन्दी के शब्द समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी को कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी–फारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते है। उनका बहिष्कार किसी प्रकार सम्भव नहीं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि व्याकरण तो वाग्धारा का दास है।"(२)

जनवादी चेतना

द्विवेदी जी ने आलोचना में जनवादी चेतना का प्रतिनिधित्व किया। इसके विपरीत उनके समकालीन अन्य आलोचक नये युग से थोड़ा–बहुत प्रभावित होते हुए भी साहित्य में सामन्ती प्रवृत्तियों का पोषण करते रहे। ऐसे आलोचकों में प्रमुख थे–मिश्रबन्धु, पं. पद्मसिंह शर्मा, पं कृष्ण बिहारी मिश्र तथा लाला भगवान दीन आदि। मिश्र बन्धु में (पं गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र और पं. शुकदेव बिहारी मिश्र) हैं।

मिश्र बन्धु

इस काल में द्विवेदी जी के बाद दूसरे महत्वपूर्ण समीक्षक मिश्रबन्धु है जो तत्कालीन आदर्शवादी परम्परा में आते हैं। विस्तार और अपेक्षाकृत गहराई दोनों दृष्टियों से उन्होंने तत्कालीन समीक्षा के क्षेत्र में प्रचुर काम किया उन्होने 'हिन्दी नवरत्न' नामक आलोचना ग्रन्थ हिन्दी के नौ चुने हुए कवियों की जीवनी के साथ–साथ उनके काव्यों की व्याख्यात्मक चर्चा की गई इसके अलावा मिश्रबन्धु विनोद निकाल कर मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

'हिन्दी नवरत्न' की भूमिका में मिश्रबन्धुओं ने आलोचना के सम्बन्ध मे अपने जो विचार प्रकट किये थे उनसे उनके आलोचना सम्बन्धी आदर्श का पता चलता है। उन्होंने कहा था "अंग्रेजी में यदि अकेले शेक्सपियर के समालोचको के लेखों का परिमाण जोडा जाय तो वह स्वयं इस कवि की रचनाओं के पन्द्रह गुना निकलेगा। इसी प्रकार अन्य साधारण कवियों तक की रचनाओं के मर्म

---

(१) साहित्यालाप- महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. ५८
(२) वही- पृ ५८

प्रकट करने और उनके गुण दोष परखने में समालोचकों ने उठा नहीं रक्खा। और प्रायः सभी कवियों की रचनाओ के पढ़ने में साधारण पाठक एवं विद्यार्थी तक इन समालोचना ग्रन्थो से उनके गुण–दोष भली भाँति समझने में समर्थ होते हैं।" [१] स्पष्ट है कि मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में आलोचना 'रचना का मर्म प्रकट करने वाली और उनके गुण दोष को परख करने वाली होनी चाहिए। ऐसी आलोचना पाठकों के लिए ही नहीं, रचनाकारों के लिए भी उपयोगी होती है। मिश्रबन्धुओं ने इस प्रसंग में आगे कहा है–भविष्य के लेखकों और कवियो के लिए समालोचना गुरु का काम करती है। क्योंकि उन्हें यह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज में आदर पा सकती है। मिश्रबन्धुओं की समालोचनात्मक दृष्टि नैतिकता के बावजूद अन्य समीक्षकों की अपेक्षा अधिक साहित्यिक थी। वे रस–परम्परा के अनुयायी थे और स्थायी भाव, आलम्बन उद्दीपन आदि के घेरे में कविता को देखने के पक्षपाती थे।

पं. पद्मसिंह शर्मा

पं. पद्मसिंह शर्मा नये युग से थोडा–बहुत प्रभावित थे, लेकिन मूलत उनका झुकाव हिन्दी की रीतिकालीन कविता की ओर था। कहने की जरूरत नहीं है कि रीतिकालीन कविता सामन्तों के दरबार में रची गई। सामन्ती कविता भी जिसकी विशेषता काम–क्रीड़ा का चित्रण करना था। शर्मा जी की साहित्यिक विचारधारा और आलोचनात्मक दृष्टि का चरम प्रतिपालन उनकी आलोचनात्मक कृति 'बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन' मे हुआ है। शर्मा जी ने बिहारी की सतसई की आलोचना करने के पूर्व द्विवेदी काल के शृंगार विरोधी विचारों का खण्डन कर दिया है। स्पष्ट है उनकी समीक्षा दृष्टि में युग का प्रभाव लक्षित नहीं होता। पद्मसिंह शर्मा ने शृंगार रस का गला घुटते हुए देख उसकी रक्षा के लिए उसे अपने लेखों का कवच पहनाने की चेष्टा करते हुए 'बिहारी की सतसई' की भूमिका में लिखा–

"बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार कर लेते है पर शृंगार रस उनके निर्मल बेलों में कुछ खार सा या तेजाब सा खटकता है। वह शृंगार की रसीली लता को विषैली समझकर कविता वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेकने पर तुले हैं। उनकी शुभ सम्मति में शृंगार रस ही सब अनर्थों की जड़ है। शृंगार रस के अश्लील काव्यों ने ही संसार मे अनाचार या दुराचार का प्रचार किया तो सदाचार का संचार सर्वत्र अनायास हो जाय, फिर संसार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने में कुछ भी देर न लगे।" [२]

शर्मा जी ने हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना की पद्धति प्रचलित की। शर्मा जी की आलोचना शैली में गम्भीरता और हल्केपन का विचित्र मिश्रण है। इनकी 'बिहारी सतसई' के अतिरिक्त 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में–'संस्कृत और हिन्दी कविताओं का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव सतसई संहार 'बिहारी का विरह वर्णन' 'भिन्न भिन्न भाषाओ की कविता का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव' आदि लेखों मे

उनकी आलोचना दृष्टि प्रतिफलित हुई है।

पं. कृष्ण बिहारी मिश्र

रीतिवादी परम्परा से प्रभावित समीक्षकों में दूसरे प्रमुख व्यक्ति हैं कृष्ण बिहारी मिश्र। इन्होंने पद्मसिंह शर्मा द्वारा देव की उपेक्षा देखकर 'देव और बिहारी' पुस्तक लिखी जिसमें देव की विशेषताओं का तुलनात्मक ढंग से उद्घाटन किया। मिश्र जी दुराग्रह–हीन होकर स्वीकार करते हैं कि 'आजकल जिस प्रकार की समालोचना प्रचलित है वह अंग्रेजी चाल के आधार पर है। मिश्र जी रस–चर्चा मे शर्मा जी की तरह ही शृंगार रस की वकालत आरम्भ करते है। शृंगारिक कविताओं के पक्ष का जोरदार समर्थन करते हैं। गोपी–कृष्ण की लीलाओं को काव्य का एक शाश्वत विषय सा मान लिया है। उनका कहना है कि रसों में शृंगार रस प्रमुख है। कविता के सम्बन्ध में मिश्र जी ने जो सूत्र दिया, वह बहुत ही सरल है। उनका कहना है कि 'कविता का उद्देश्य हमारी राग में आनन्द प्रदान करना है।''[१] वह आनन्द प्रदान रस के परिपाक से सिद्ध होता है।''[२] शृंगार सब रसो का राजा ठहरता है इसलिए शृंगार रस का कवि श्रेष्ठ है और कवि देव–बिहारी इन शृंगारी कवियों के नेता हैं।''[३]

मतिराम ग्रन्थावली में कुछ साहित्य सिद्धान्तों जैसे काव्य क्या है, काव्य के महत्वपूर्ण विषय कौन से हैं, कविता की भाषा कैसी हो, समालोचना किसे कहते हैं आदि के चर्चा के बाद मतिराम और उनके समकालीन कवियों की कविताओं की प्रकृति तथा मतों का उल्लेख किया है।. साथ ही मतिराम का वश–परिचय देते हुए मतिराम के ग्रन्थों में आये हुए ऐतिहासिक प्रसंगों का उल्लेख किया है। कविताओं का सम्पादन उन्होंने रीतिवादी विषयों के क्रम से किया है। मिश्र जी की आलोचना की भाषा प्रायः सर्वत्र गम्भीर व्यवस्थित है।

लाला भगवान दीन

लाला भगवान दीन भी मिश्रबन्धुओं–पद्मसिंह शर्मा और कृष्णबिहारी मिश्र की धारा के ही आलोचक थे। ये स्वयं खड़ी बोली में कविता लिखते थे। लेकिन रुचि हिन्दी के प्राचीन काव्य में ही थी। इने आदर्श कवि बिहारी थे। ये बिहारी की दुर्दशा देखकर के खीझ उठे और कृष्णबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के उत्तर में 'बिहारी और देव' नामक ग्रन्थ लिखा। इस रीतिवादी परम्परा में दीन जी सबसे कट्टर रूढ़िवादी थे। लाला जी ने अपने ग्रन्थ के पहले अध्याय में बिहारी पर लगाए गये दोषों का निराकरण किया है और उन्हीं दोषों को देव पर थोपा है। इसमें दस दोषों की चर्चा है ये दोष रीति शास्त्रके आधार पर हैं।

दूसरे अध्याय में भगवानदीन जी ने मिश्रबन्धुओं और कृष्णबिहारी मिश्र की भूलों का स्पष्टीकरण किया है। लाला जी की दृष्टि से इन चारो में से किसी ने भी बिहारी की कविता समझी नहीं, उन्होंने बड़े निश्चय के साथ कहा–'देव,

(१) देव बिहारी, पृ. ७३
(२) वही पृ ७४
(३) वही पृ ७५

बिहारी, केशव इत्यादि के ग्रंथों को समझना, उनका शुद्ध पाठ जानना और जिस साहित्य मर्मज्ञता का परिचय उन कविताओ में है उसकी बारीकी तक पहुँचना आज कल के ग्रेजुएटों के वश की बात नहीं।..........ऊपर लिखते हुए दावे को प्रमाणित करने के लिए हम मिश्रबन्धुओं में से दो ग्रेजुएटों (शुकदेव बिहारी मिश्र, बी. ए. और श्याम बिहारी मिश्र एम. ए.) को ही पेश करते है।'[१]

तीसरे अध्याय में लाला जी ने देव द्वारा बिहारी के भावों की चोरी का हवाला दिया है और फिर उनकी बिहारी के साथ तुलना करते हुए दोनों का रूप निर्धारित किया है। लाला जी ने 'भारत–भारती' और 'जयद्रथ वध' की आलोचना की है। वे समस्त नयी प्रवृत्तियों के विरोधी थे उनकी दृष्टि में रीति कालीन कविता ही कविता का आदर्श हो सकती थी। इन्होंने कविता की उभरती हुई नवीन जीवन्त शक्तियों की ओर न देखकर उसके खुरदरेपन को देखा और रीतिकालीन निर्जीव कविता के अलंकृत आवरण के सामने उसे फीका देखकर क्षुब्ध हो गए। 'भारत–भारती' और 'जयद्रध वध' की आलोचना में खोज–खोजकर व्याकरण सम्बन्धी, शब्द चयन सम्बन्धी, छन्द भंग सम्बन्धी, विराम चिह्नों के निर्वाह सम्बन्धी और तुक सम्बन्धी अनेक दोष दिखाए गए हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी परम्परा

सन् १६२० के आस पास हिन्दी आलोचना के स्वरूप में कुछ ऐसा परिवर्तन परिलक्षित होने लगा था जिसे द्विवेदी कालीन समीक्षा से अलग करके देखा जा सकता है। यह नवीनता दो रूपों में दृष्टिगत हुई– १–आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धतियों में, २–छायावादी (स्वच्छन्दतावादी) समीक्षकों की आलोचना मे। भारतेन्दु–युग के आलोचकों ने आलोचना की जिस परम्परा को जन्म दिया था और पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिसका विकास किया, उसकी चरम परिणति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में हुई। अब तक की गुण दोष कथन प्रधान समालोचना शैली के स्थान पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की वैज्ञानिक मनोवैज्ञनिक, ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक आलोचनओं की प्रवृत्तियों को आत्मसात किए हुए अभिनय आलोचना प्रणाली का उदय हुआ। जिस समन्वय साधना का प्रयत्न तुलसी ने काव्य–क्षेत्र में किया था, उसका पुनरूद्धरण उनके भक्त शुक्ल जी ने समालोचना क्षेत्र में किया। जिस तरह से तुलसीदास जी आदर्श प्रिय, नैतिकतावादी महात्मा थे उसी प्रकार शुक्ल जी भी आदर्शप्रिय, नैतिकतावादी विद्वान थे। इसीलिए उनकी समालोचनाओं पर आदर्शवाद और नीतिवाद की पूरी छाप दिखाई पड़ती है। शुक्ल जी ने प्राचीन और नवीन–काव्य–सिद्धान्तो का समन्वय कर अपनी गृह सम्पत्ति देकर समालोचना के नये–नये सिद्धान्त निश्चित किये। एक ओर तो वे प्राचीन रसवाद के समर्थक थे और दूसरी ओर पाश्चात्य समालोचना ऐतिहासिक; मनोवैज्ञानिक, व्याख्यात्मक आदि पक्षों के पूरे पोषक थे। आचार्य शुक्ल जी ने अपने गहन पांडित्य और पारदर्शी प्रतिभा के बल पर साहित्य का अपेक्षाकृत व्यापक और गहरा विवेचन किया। डॉ. रामचन्द्र

(१) बिहारी और देव पृ ४६

तिवारी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की व्यापक समीक्षा दृष्टि के घटक तत्वों का विश्लेषण करते हुए लिखा है–"उनके आलोचक व्यक्तित्व के घटक तत्वों का विश्लेषण किया जाय तो उसमें रस, अलंकार, रीति, गुण, शब्द शक्ति आदि के स्वरूप के सम्यक् बोध से व्युत्पन्न आचार्य, कवियों की अन्तः प्रकृति की छानबीन–दर्शन, विज्ञान आदि विषयों का गम्भीर अध्येता, प्राचीन एवं नवीन कविता का सच्चा व्याख्याता, लोक–प्रवृत्ति का अन्यतम पारखी, व्यापक ऐतिहासिक सामाजिक सन्दर्भ में रचना–विशेष के महत्व का आकलन करने वाला समाजशास्त्री सूक्ष्म अन्वीक्षण–बुद्धि सम्पन्न तार्किक तथा मानव की कर्म चेतना के मूल मनोवेगों की सक्रिय भूमिका के विवेचन में प्रवृत्त नीतिवादी मनोवैज्ञानिक एक साथ दिखाई देंगे।"[१]

समीक्षा सिद्धान्तों की दृढ़ मानवीय और साहित्यिक भूमि पर परीक्षा करने के साथ ही साथ उन्होंने विशिष्ट कवियों की कृतियों का व्यावहारिक मूल्यांकन भी अद्‌भुत ग्राहिका शक्ति, रसात्मक दृष्टि, संवेदनाशील हृदय और संतुलित बुद्धि वैभव से किया। शुक्ल जी की साहित्यिक मान्यताएं उनके हृदय, विवेक और लोक मंगलकारी दृष्टिकोण से एक दृढ़ व्यक्तित्व प्राप्त कर सकीं। वह व्यक्तित्व बड़ा ही आस्थासम्पन्न और उर्जास्वत था। वह अपने प्रतिकूल तत्वों से बहुत कम समझौता कर पाते थे। यही था उनका अपना उदात्त वैभव और बोध।

डॉ. रामविलास शर्मा ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के तीन विशिष्ट गुणों की चर्चा करते हुए लिखा–"दृढ़ता, आत्मविश्वास और निर्भीकता शुक्ल जी के विशेष गुण हैं, लाख विरोधी प्रचार हो वह अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे। रहस्यवाद की भारत व्यापी धूम होने पर उन्होंने उसका विरोध करना नही छोड़ा।"[२] अपनी इन विशेषताओं के कारण आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में अपना एक ऐसा आलोचक व्यक्तित्व रेखांकित किया जिसके सामने बड़े से बड़ा विरोधी भी नत–मस्तक हो जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि सम्बन्धी विशेषताओं को हम इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं–

१ : कला पक्ष और भाव पक्ष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनो–वैज्ञानिक समीक्षा करने की प्रवृत्ति।

२ : कवि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों की खोज करने की प्रवृत्ति, यह बात उनके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट है–'साथ ही साथ प्रेम के अन्तर्गत एक मानसिक दशा का चित्र कैसा चटकीला हो गया है।'

३ : निर्णय देने की प्रवृत्ति– 'सारांश यह कि प्रबन्ध काव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी न शक्ति।"

४ : शब्द शक्ति–मूलक और अलंकार मूलक चमत्कार का रसास्वाद से सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति।

५ : बात को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा।

---

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (डॉ. रामचन्द्र तिवारी) पृ. ७

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना- डॉ रामविलास शर्मा पृ २२५

६ बुद्धि और हृदय का समन्वय स्थापित करना उनकी विशेषता थी।

७ काव्य शास्त्र का विवेचन उन्होंने प्रतिष्ठित काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का संकेत तो किया ही है, उनके आधार पर कवियों की विवेचना भी की है।

८ शुक्ल जी समालोचना के आधार पर मनोभाव और उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में दक्ष थे।

९ शुक्ल जी के आलोचक स्वरूप की एक और विशेषता प्रकट होती है, वह यह कि उन्होंने सदैव कवि की प्रकृत्ति की खोज करने की चेष्टा की थी।

१० : उनकी दृष्टि रचनाकार के हृदय पक्ष तथा कला पक्ष दोनों पर रहती है जिससे लोक जीवन से सम्बद्ध साहित्य दृष्टि भी उजागर हुई।

हिन्दी आलोचना को शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होने साहित्य के सम्बन्ध में एक सुसंगत दृष्टिकोण के निर्माण का प्रयत्न किया। उनके इस दृष्टिकोण का आधार ज्ञान का भौतिकवादी सिद्धान्त है, जिसके अनुसार ज्ञान और भाव का आधार यह भौतिक जगत ही है, कुछ और नहीं। शुक्ल जी चूँकि भाव को विचार निरपेक्ष नहीं मानते, वे भाव के निषेध के पक्ष मे नहीं बल्कि कविता द्वारा उसके परिष्कार के पक्ष में हैं उन्होंने लिखा है–

"मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नही चढ़ाते, बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपर्युक्त सम्बन्ध निर्वाह पर जोर देते हैं।"[१]

कविता का कार्य शुक्ल जी ने मनुष्य के हृदय को स्वार्थ की सीमाओ से मुक्त करना बताया, "इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते है।"[२] शुक्ल जी भाव को कविता का मूल उपादान बताते हुए यह कभी नहीं भूलते कि इस भाव का आधार गोचर जगत ही है। शुक्ल जी का साहित्यिक सिद्धान्त रसवाद है लेकिन वह संस्कृत आचार्यों के रसवाद की पुनरावृत्ति नहीं है। कविता रसात्मक तभी समझी जाती है जब कि पाठक का मन अपने स्वार्थ की सीमाओ से मुक्त होकर उसमें लीन हो जाये। यही अवस्था सौन्दर्य की अवस्था है। शुक्ल जी के अनुसार–"किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप मे जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जायेगी।"[३] उनके विचार से कविता केवल रंगरूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य की भी अत्यन्त मार्मिक दृष्टि सामने रखती है। 'सौन्दर्य' को शुक्ल जी ने कविता की कसौटी बताया है। "सुन्दर और कुरूप काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला–बुरा, शुद्ध–अशुद्ध, पाप–पुण्य, मंगल–अमंगल, उपयोगी–अनुपयोगी ये सब शब्द काव्य क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य क्षेत्र में न कोई बात भली कही

(१ प्रथम भाग- पृ ५३

(२) वही पृ १४१

(३ [illegible] पृ १६

जाती है न बुरी, न शुद्ध, न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बाते केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं–सुन्दर और असुन्दर।"(१) शुक्ल जी का 'सौन्दर्य' 'मगल' का काव्यात्मक पर्याय है, वे कहते हैं कि–"जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौन्दर्य पक्ष पर मुग्ध रहता है।"(२)

शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना में एक सुसंगत दृष्टिकोण का निर्माण किया, वैसे ही आलोचना की भाषा भी तैयार की। उन्होने भारतीय काव्यशास्त्र के शब्दों का सुस्पष्ट और सार्थक प्रयोग तो किया ही, पाश्चात्य आलोचना के शब्दों के सटीक हिन्दी पर्याय भी गढ़े। उनकी भाषा जितनी ही शास्त्रीय है उतनी ही व्यावहारिक भी। जहां कहीं शास्त्र ने उनका साथ नहीं दिया है उन्होंने अपने अनुभव और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक नयी भाषा गढ ली है। उनकी भाषा साहित्य पूर्ण है, तो हास्य व्यंग्य से युक्त भी, गम्भीर विवेचन करने वाली है, तो विरोधियों और विरोधी विचार धाराओं पर सीधा आक्रमण करने वाली भी। आलोचना की यह भाषा उन्होंने आलोचना की भाषा के सम्बन्ध में सिद्धान्त बनाकर नहीं, बल्कि आलोचना के निरन्तर प्रयोग के द्वारा तैयार की थी।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा–पद्धति बड़ी ही प्रभावशाली सिद्ध हुई और उसकी एक परम्परा सी चल पड़ी। परवर्ती समीक्षक शुक्ल जी की मौलिक विचार–धारा और आलोचना को आधार बनाकर अपने ढंग के विकास करते रहे। इनमें गुलाब राय, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, विश्वनाथ मिश्र, चन्द्रबली पाण्डेय, लक्ष्मीनारायण सुधांशु और आधुनिकों में केसरी नारायण शुक्ल, कृष्ण शकर शुक्ल, सत्येन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं।

श्यामसुन्दरदास

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ का प्रणयन व्यवस्थित ढंग से किया। इसमें हम काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यांगों की पहली बार सुन्दर व्याख्या पाते हैं। 'साहित्यालोचन' का पहला अध्याय कला का विवेचन प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार भिन्न–भिन्न अध्यायों में साहित्य, कविता, गद्य, काव्य, दृश्यकाव्य, रस शैली साहित्य की आलोचना विषयों पर पूर्वी और पश्चिमी आचार्यों के मतो के आधार पर विचार किया है या कह सकते हैं कि उनके विचारों को बडी कुशलता से एक में गूंथा है।

'काव्य का विवेचन' में श्याम सुन्दर दास ने काव्य का सर्वांगीण परीक्षण किया है। उन्होंने काव्य को मानव जीवन का विषद चित्रण माना है। काव्य समाज से विछिन्न होकर कवि की वस्तु निरपेक्ष कल्पना और प्राणहीन रूप विलास को लेकर नहीं जी सकता। फिर उन्होंने काव्य का सम्बन्ध लोकहित से जोडा। उन्होंने काव्य की परिभाषा, काव्य और मनोवृत्त, काव्य के विषय, काव्य के विभाग, काव्य और व्यक्ति, ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता, समयानुक्रम रचना प्रणाली तुलनात्मक रचना प्रणाली, रचना शैली आदि काव्य के सभी अंगों पर बहुमूल्य

(१) चिन्तामणि- प्रथम भाग- पृ. १६७
(२) वही पृ १६७

सामग्री प्रस्तुत कर अपनी दृष्टि के अनुसार उनमें एक सूत्रता स्थापित की।

'गद्य काव्य का विवेचन' में उन्होंने उपन्यास और नाटक के भेद–अभेद, उपन्यास के तत्वों, उपन्यास में जीवन की व्याख्या, उपन्यास में सत्यता, वास्तविकता, उपन्यास में नीति, कहानी के रूप रचना–सिद्धान्त, उद्देश्य और निबन्ध के स्वरूप पर विचार प्रकट किया है। 'रसों का विवेचन' में बाबू साहब ने मनुष्य की मौलिक वृत्तियों की छानबीन की है।

'कबीर–ग्रन्थावली' की प्रस्तावना में श्यामसुन्दर दास ने व्यावहारिक समीक्षा लिखी है। इसमें कबीर के आविभार्व–काल, भक्त सन्तों की परम्परा, कबीर का 'काल निर्णय, माता–पिता, गुरु, शिष्य, मृत्यु, सात्विक सिद्धान्त, व्यावहारिक सिद्धान्त तथा रहस्यवाद पर शोध करने के साथ–साथ कबीर के काव्य–पक्ष की संक्षिप्त समीक्षा की है।

पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी

पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी की दो समीक्षा पुस्तकें हैं–'विश्व साहित्य' और हिन्दी साहित्य विमर्श'। इसमें इन्होंने बड़े उदार भाव से पूरब और पश्चिम के साहित्य का परिचय दिया और यह कार्य तब किया जब हिन्दी में इसकी आवश्यकता थी। प्रस्तावना में लेखक ने हिन्दी साहित्य का सामाजिक परिवेश से सम्बन्ध जोड़ा है। भाषा में राष्ट्रीयता का चित्र होता है और भाषा की ये सारी विशेषताएँ साहित्य में भी होती हैं। पश्चिमी साहित्य और आलोचना से प्रभावित होकर इन्होंने सौन्दर्य को कविता का प्राण स्वीकार किया किन्तु इन्होंने सौन्दर्य को बड़े उदार अर्थ में लिया। केवल शिल्पगत सौन्दर्य पर ही इनकी दृष्टि नही अटकी रही वरन् भावगत सौन्दर्य की ओर भी इन्होंने सकेत किया। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'सन्तवाणी संग्रह', 'हिन्दी साहित्य का मध्यकाल', 'हिन्दी साहित्य और कवि कोशल', 'हिन्दी साहित्य और पाश्चात्य विद्वान' और 'उपसंहार' अध्यायों में इन्होंने हिन्दी साहित्य को परखने की चेष्टा की है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र रसवादी परम्परा के मानने वालों में से एक हैं। इन्होंने रसों तथा अन्य काव्य सम्प्रदायों की व्याख्याएँ पुराने लक्षण–ग्रन्थो के आधार पर की हैं। वे संस्कृत के विद्वान थे अतएव संस्कृत के आचार्यों के मतों को बड़ी ईमानदारी और स्पष्टता से प्रस्तुत किया। उन्होंने साहित्य को मनोरंजन का साधन मात्र न मानकर लोक–हित साधना माना है। साहित्य वैयक्तिक रुचियों का नहीं, सामाजिक भावभूमि का प्रतिफलन करने वाला है। इस रूप में वे शुक्ल जी के समर्थक दिखाई पडते हैं। रसों के संबंध में शुक्ल जी ने जो विचार स्थिर किये थे आचार्य मिश्र उन्हीं को दुहराते हैं। 'काव्य और अध्यात्म' पर उनकी व्याख्या शुक्ल जी से बहुत भिन्न नही वरन् समान ही है 'काव्य और सदाचार', काव्य और कला', 'काव्य और सौन्दर्य', 'काव्य और व्यक्ति', 'काव्यगत–आनन्द', 'काव्य और प्रकृति', 'प्रभाववादी समीक्षा', 'आलोचना के प्रकार', 'काव्य और रहस्यवाद', 'काव्य और लोकजीवन', आदि पर इन्होने जो विचार दिये हैं वे मिश्र जी के अपने नहीं बल्कि शुक्ल जी के विचारो की

छाया है।

आलोचना–सिद्धान्त के क्षेत्र में आचार्य मिश्र की मौलिक देन कम हो सकती है परन्तु इतिहास के सीमित क्षेत्र में रीतिकालीन कविताओं, और उनकी प्रवृत्तियों को व्याख्या के क्षेत्र में उनका ऋण हिन्दी साहित्य में स्वीकृत है। आचार्य मिश्र ने उत्तर मध्यकाल को शृंगार काल का नाम देकर उसके तीन अन्तर्विभाग किए–रीति युक्त, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त और इन तीनों धाराओ की विशिष्टताओं को निर्दिष्ट करते हुए उनके काव्य सौन्दर्य को उद्‌घाटित किया।

अन्य आलोचक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के बाद जो आलोचक आते हैं उनका महत्व इसी बात में स्वीकार किया जाना चाहिए कि उन्होंने शुक्ल जी द्वारा निर्धारित प्रणाली में थोड़ा हेर–फेर करते हुए कृतियों के मूल्यांकन का कार्य किया। इसमें गुलाबराय और लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने अपने ढंग से मनन किया। गुलाबराय ने पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र और समाज शास्त्र का भी खुलकर प्रयोग किया और उन्हें हिन्दी काव्य के विवेचन के मेल में बैठाने का प्रयत्न किया। गुलाब राय मूलतः रसवादी आलोचक थे लेकिन उदार चरित्र होने के नाते पूरब–पश्चिम के अन्य मतों का भी आदर करते थे। *'काव्य के रूप'* और *'सिद्धान्त और अध्ययन'* इनके दो साहित्य–शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ हैं।

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने सैद्धान्तिक समीक्षाएँ प्रायः नहीं लिखीं किन्तु व्यावहारिक समीक्षाओं में अपना मत प्रतिपादित किया। ये शुक्ल जी के मत के ही प्रतिपादक हैं *'कहानी का रचना विधान'* में पूर्वी–पश्चिमी विचारों के आलोक में कहानी के रचना विधान के अलग–अलग तत्वों पर चिंतनपूर्ण व्याख्याएँ प्रस्तुत की। *'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', 'हिन्दी गद्य शैली का विकास', हिन्दी गद्य के युग निर्माता'* तीन मुख्य कृतियां हैं। व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में प्रसाद के नाटकों के शास्त्रीय अध्ययन का विशेष महत्व है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने शुक्ल जी की विचार परम्परा में *'जीवन के तत्व और काव्य सिद्धान्त'* तथा *'काव्य में अभिव्यंजनावाद'* नामक पुस्तक लिखीं। पहली पुस्तक में जीवन के विविध तत्वों और काव्य के सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया तो दूसरी पुस्तक मे रसवादी होने के बावजूद अभिव्यंजना के विविध सौन्दर्य की विस्तृत विवेचना की है।

आचार्य शुक्ल जी की परम्परा में आने वाले अन्य समीक्षकों में प्रमुख हैं कृष्णशंकर शुक्ल, केसरी नारायण शुक्ल और सत्येन्द्र। केसरी नारायण ने आधुनिक काव्यधारा में काव्य के स्परूप को निर्मित करने वाली अनेक दृष्टियों का विश्लेषण किया है। *'आधुनिक काव्यधारा का स्रोत'* इनकी दूसरी पुस्तक है जो मूलतः पहली से भिन्न नहीं है।

सत्येन्द्र भी व्यावहारिक समीक्षा लिखने वाले आलोचक ही हैं। *'समीक्षा के सिद्धान्त'* में सैद्धान्तिक पक्ष को भी समझाने की चेष्टा की है। समीक्षा सम्बन्धी इनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं *'गुप्त जी की कला'* *'प्रेमचन्द और उनकी*

कहानी कला', ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन', 'हिन्दी एकांकी', 'साहित्य की झाकी'। सत्येन्द्र शुक्ल जी की परम्परा के ही आलोचक हैं और परवर्ती आलोचकों मे ये निश्चय ही आधिक शक्ति सम्पन्न और दृष्टिशील है। इनका विचार–चिन्तन नया है, साथ ही मौलिक भी।

शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा

आचार्य शुक्ल युग प्रवर्तक आलोचक थे। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र मे नवीन प्रणाली को जन्म दिया। यह प्रणाली व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक मूल्य– निर्धारक और सैद्धान्तिक इन सब दृष्टियों के समुचित समन्वय से तैयार हुई थी। आलोचना की इस उदार और व्यापक आधारभूमि का निर्माण हो जाने के बाद आलोचना की नयी प्रणालियाँ, नए दृष्टिकोण और नयी मान्यताओं का विकास होना स्वाभाविक था। नये आलोचकों में से कुछ ने आलोचना को मनोवैज्ञानिक व्याख्या से जोड़ा और इस प्रकार मनोविज्ञान आलोचना को जन्म दिया। शुक्ल जी के उपरान्त ही मार्क्सवादी चेतना से प्रगतिवादी लेखन का सूत्रपात हो गया था और उसी के साथ मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का आरम्भ भी हुआ। छायावाद की व्याख्या करने वाले आचार्यों ने विशेष आलोचना दृष्टि को आधार बनाया।

शुक्लोत्तर युग में आलोचना की तीन प्रमुख धाराएं विकसित हुई–

१–शुक्ल पद्धति।

२–सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी।

३–प्रगतिवादी आलोचना पद्धति।

शुक्ल पद्धति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस आलोचना पद्धति को विकसित किया उनके परवर्ती आलोचकों ने उसे और पुष्ट किया। उस आलोचना पद्धति की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। आचार्य शुक्ल व्याख्या को आलोचना का प्रमुख अग मानते थे। वे काव्य में रस, छन्द, अलंकार के साथ उसके आन्तरिक मूल्यो और जीवन दृष्टि की व्याख्या में भी विश्वास रखते थे। कवि के व्यक्तित्व के अध्ययन को आलोचना के क्षेत्र में महत्त्व देने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल को ही दिया जाएगा। उनसे पहले आलोचकों की दृष्टि बहुत स्थूल थी। वे कवि के व्यक्तित्व की छानबीन किए बिना ही अपना मत व्यक्त कर देते थे। शुक्ल जी की आलोचना पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता शास्त्रानुसरण है। आचार्य शुक्ल आलोचना में वैयक्तिक रुचि या प्रभावानुभूति की अभिव्यक्ति को वे समालोचना स्वीकार करते थे जो शास्त्र की कसौटी पर खरी प्रमाणित हुई हो। आचार्य शुक्ल जी आलोचना में तुलना और निर्णय दोनों को विशेष महत्व देते थे। उनकी धारणा थी कि समालोचना का सही रूप तब तक नहीं निखरता जब तक तुलना के सहारे स्पष्टीकरण न किया जाय। आचार्य शुक्ल आलोचना के सम्बन्ध में आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण रखते थे। उनकी धारणा थी कि सच्चा आलोचक होने का अधिकारी वही होता है जिसकी रुचि है सब प्रकार के राग द्वेषों से विनिर्मुक्त है और आदर्श तथा पवित्र जीवन को महत्व

देता है। आचार्य शुक्ल जी तुलसी की भाँति समन्वयवादी थे। वे एकागी आलोचना में आलोचना के प्रमुख तत्वों के सम्बन्धित रूप के पोषक थे और दूसरी ओर पाश्चात्य और प्राच्य शास्त्र के समन्वय की कसौटी तैयार करने के पक्षपाती थे।

सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी आलोचना पद्धति

सौष्ठववादी समीक्षा का आधार छायावादी कविता ही है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा ने एक ओर छायावादी काव्य के उपयुक्त नवीन रूप और चेतना की पहचान की, दूसरे रूप और चेतना के आधार पर साहित्यालोचन का एक नया प्रतिमान खोजा। स्वच्छन्दतावादी दृष्टि घिसी–घिसाई अभिव्यक्ति शैलियों को ग्रहण नहीं करती। सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति में आलोचक मूल्यांकन का प्रयास नहीं करता। सौष्ठववादी आलोचक तटस्थ होकर अपनी स्वच्छन्द अनुभूतियो को समालोचना क्षेत्र में उतारने का प्रयास करता है। इसीलिए इस पद्धति को स्वच्छन्दतावादी आलोचना पद्धति भी कहते हैं। सौष्ठववादी समीक्षा के स्परूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. भगवान स्परूप मिश्र ने लिखा है–''इस नवीन समीक्षा के मानदण्ड के तत्वों का निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओं से ही हुआ है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस आलोचना के प्रधान तत्व हैं। इनकी प्रेरणा छायावादी रचनाओं से ही मिलती है। कला–कृति की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को महत्व देने के कारण छायावाद में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता है। कवि के व्यक्तित्व के साथ ही उसकी परिस्थितियों का निरूपण भी आवश्यक माना गया है। कला–कृति में अलंकार आदि शास्त्रीय तत्वों की अपेक्षा पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाले तत्वों का उद्‌घाटन अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है।''[५] सौष्ठववादी समीक्षक काव्य की आन्तरिक व्याख्या पर अधिक मुग्ध होने लगा। वह परम्परा से चले आ रहे उपदेशों को स्वीकार नहीं करता है। छायावादी आलोचक का दृष्किोण उपयोगितावादी नहीं है,'उसकी सृजन–प्रेरणा आनन्द से ही प्राप्त होती है। आनन्द की प्राप्ति ही उसका साध्य है। वही आलोचक सफल माना जाता है जो कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर पाता है। इसीलिए काव्य सौन्दर्य के विश्लेषण द्वारा पाठक को आह्लादित करने की योग्यता को महत्व दिया जाने लगा।

हिन्दी में इस प्रकार की समालोचना के प्रवर्तक के रूप में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नागेन्द्र, महादेवी वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि है। आचार्य वाजपेयी ने समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं का विश्लेषण इस प्रकार किया–

१–रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन।

२–रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सर्जन की लघुता, विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।

३–रीतियों, शैलियों और रचना के वाह्यांगों का अध्ययन।

४–समय, समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

५ कवि की जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का

(५) हिन्दी आलोचना का उद्‌भव और विकास- डॉ भगवत [illegible] मिश्र पृ ४३०

(मानव विश्लेषण)

६—कवि के दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक विचारों आदि का अध्ययन।

७—कवि के जीवन सम्बन्धी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन यदि एक ही वाक्य में कहा जाय तो कह सकते हैं कि साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना प्रधान उद्‌देश्य है। मेरी समझ में समस्त 'वादों' से परे साहित्य समीक्षा का प्रकृत्त पथ यही है। इसी माध्यम से साहित्य का स्थायी और सांस्कृतिक मूल्य आका जा सकता है।"[१]

मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना पद्धति-

यह आलोचना पद्धति छायावाद के ह्रास के साथ—साथ आरंभ हो गई। आलोचकों ने आलोचना के नये प्रतिमानों को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की। ये प्रतिमान अधिकतर मार्क्सवादी थे। इन मार्क्सवादी प्रतिमानों के प्रकाश में जो आलोचनाएँ लिखी गईं उन्हें मार्क्सवादी आलोचना कहा जाने लगा। इस पद्धति को प्रगतिवादी आलोचना पद्धति भी कहते हैं, क्योंकि साहित्य क्षेत्र में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित रचनाओं को प्रगतिवादी कहा जाता है। प्रगतिवाद की मूल चेतना आर्थिक एवं उपयोगितावादी होने के कारण इसे उपयोगितावादी आलोचना पद्धति भी कह देते हैं। प्रगतिवादी समीक्षा की प्रमुख माँग यही है कि रचना मे सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हो। इसीलिए प्रगतिशील समीक्षा ने परिवर्तनशील समाज के परिवर्तनशील ह्रदय की सापेक्षता में सौन्दर्यबोध की व्याख्या की।

मार्क्सवादी आलोचना के स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा कई विद्वानों ने की हैं। अमृतराय ने अत्यन्त संक्षेप में मार्क्सवादी समीक्षा का स्परूप निर्दिष्ट करते हुए लिखा—"मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के सम्बन्ध का उद्‌घाटन करती है।"[२]

मार्क्सवादी आलोचना ऐतिहासिक आलोचना का वह रूप है जिसमें भाव पक्ष का बौद्धिक एवं उपयोगितावादी उद्‌घाटन तथा शैली के सरल—स्वाभाविक एव जन संवेद्य स्परूप सन्निहित रहता है। संक्षेप में इस प्रकार की आलोचना पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

१ मार्क्सवादी आलोचक काव्य के उपयोगितावादी पक्ष का उद्‌घाटन करता है।

२ मार्क्सवादी आलोचक काव्य में प्रेषणीयता को सर्वाधिक महत्त्व देता है। जिस कलाकार की रचना में भावों और विचारों के संप्रेषण की जितनी अधिक शक्ति होती है, वह मार्क्सवादी आलोचक की दृष्टि मे उतना ही उत्तम है।

३ मार्क्सवादी आलोचक काव्य में मिथ्या चमत्कार, निरर्थक अलकारिता, झूठे अभिव्यक्ति—सौष्ठव को कोई महत्व नहीं देते, उसकी आलोचना—

---

(१) हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी (आ नन्ददुलारे बाजपेयी) पृ २६

(२) नयी समीक्षा (अमृत राय) पृ ५

कसौटी काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित प्रतिमान नहीं होते।

४ : मार्क्सवादी आलोचक उसी रचना के वर्ण्य विषय को महत्वपूर्ण समझता है जो जनवादी और जनोपयोगी हो।

५ : मार्क्सवादी की दृष्टि में भौतिक यथार्थवाद का बड़ा महत्व है। इसे ये सामाजिक यथार्थवाद भी कहते हैं जिस रचना में इसका रूप जितना भव्य और स्पष्ट होता है, मार्क्सवादी आलोचक की दृष्टि में वह रचना उतनी ही महान होती है।

६ : मार्क्सवादी आलोचक अनुभूति की गहराई को उतना ही महत्व देता है जितना कि अन्य आलोचक।

मार्क्सवादी आलोचकों में कुछ प्रमुख आलोचकों का नाम इस प्रकार हैं–डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह, शिवदान सिंह चौहान। इन आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा का योगदान महत्वपूर्ण है। इनकी विशेषताओं को गिनाते हुए डॉ. रामदरस मिश्र ने लिखा है–"डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि में पकड़, समझ और अनुभूति शीलता में आलोचक की पूरी–पूरी क्षमता है। जहाँ वे तटस्थ होकर विचार करते हैं वहाँ अच्छी चीज दे जाते हैं और जहाँ आग्रही हो उठते हैं वहाँ निन्दा और स्तुति के दो अलग–अलग मार्ग पकड़ लेते हैं। फिर भी इनमें नवीनता है, मौलिकता है। वे पिटे–पिटाए, घिसे–घिसाए मार्ग में चलना पसन्द नहीं करते। उनकी अभिव्यक्ति प्रणाली बड़ी ही स्पष्ट प्रत्यक्ष और तीखी है और पाठकों को सीधे प्रभावित करती है।"[१] शिवदान सिंह चौहान और डॉ. नामवर सिंह ने आलोचना पत्रिका में प्रगतिवादी चेतना को पूरी तौर पर प्रमाणित किया। इस दृष्टि से उनके योगदान की चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

(१) हिन्दी समीक्षा और स्वधर्म (डॉ मिश्र) पृ २८४

द्वितीय अध्याय

'आलोचना' का प्रकाशन प्रारम्भ (१६५१)

किसी कार्य को आरम्भ करने के पीछे कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य ही रहता है। उसी प्रकार 'आलोचना' पत्रिका का प्रकाशन भी कुछ साहित्यिक उद्देश्यों को लेकर किया गया। उस समय साहित्य में चारो तरफ विचारों में अनिश्चितता दिखाई पड़ रही थी। कुछ नकारात्मक संकीर्ण मतवादी प्रवृत्ति ने अपना प्रकांड ताण्डव रचकर ऐसी असैद्धान्तिक और अबुद्धिवादी आलोचना पद्धति चलाई जिसके आतंक के सामने प्रेरणा और अनुभूति के स्वर मन्द होने लगे, सत्य की संवेदनशील प्रतिभा के पौधे मुरझाने लगे और साहित्यालोचन के मानदंड इस स्वेच्छाचारी संकीर्ण दृष्टिकोण की वेदी पर बलिदान कर दिए गये।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना में विकास के लिए नये पद्य खोजे गए, जिसमें समाजशास्त्र का आधार लेकर 'प्रगतिवाद', और मनोविज्ञान का आधार लेकर 'प्रतीकवाद', दो धाराएँ साहित्यालोचन का दृष्टिकोण बनीं। प्रगतिवादी आलोचना ने सामाजिक जीवन और संघर्ष के व्यापक प्रश्नों से साहित्य का सम्बन्ध स्थापित कराने में शुद्ध कलावादी, असामाजिक प्रतिगामी प्रवृत्तियों और विचारधाराओं से संघर्ष किया। परन्तु हिन्दी का आलोचना साहित्य एक अवांछित गतिरोध की स्थिति में पड़कर मनमाने पथों पर भटकता रहा।

उपर्युक्त परिस्थितियों ने 'आलोचना' पत्रिका को जन्म दिया। इस पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य निम्नलिखित है—

१ आलोचना में गम्भीर सिद्धान्तपरक स्थायी मूल्यों को स्थापित करना।

२ प्राचीन आर्वाचीन समीक्षा पद्धतियो का वैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन विश्लेषण और विवेचन करना

३ : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का उद्‌घाटन करना।

४ : साहित्य के निर्माण में लोक साहित्य, लोक गाथा, ऐतिहासिक परम्परा,जन रुचि, वर्ग दृष्टिकोण और अन्तर्देशीय सांस्कृतिक प्रभावों का अध्ययन करना।

५ : उन तत्वों का निरूपण करना जिनसे साहित्यिक रचना कलात्मक और सुन्दर होती है और नये मान व मूल्यों और नैतिक जीवन आदर्शों की अवधारणा होती है।

६ : हिन्दी साहित्य की नयी उदीयमान प्रतिभाओं को अपनी साहित्यिक क्षमता का विकास करने के लिए प्रोत्साहन देना।

७ : प्राचीन और अधुनातन साहित्य की श्रेष्ठ, अपेक्षया स्थायी रूप से मूल्यवान, मावतावादी रचनाओं के मूल्यांकन द्वारा साहित्यिक अभिरुचि, सांस्कृतिक चेतना और नैतिक भावना को उन्नत करना।

सम्पादकीय घोषणाएं

आलोचना की वर्तमान स्थिति को देखते हुए 'आलोचना' पत्रिका के प्रथम अंक (अक्टूबर १६५१) की सम्पादकीय घोषणा में शिवदान सिंह चौहान ने स्पष्ट रूप से लिखा–'आलोचना' क्यों ? इसमें सम्पादक ने स्पष्ट किया कि हमारे साहित्य और जीवन की जिन सामयिक और स्थायी आवश्यकताओ ने 'आलोचना' का प्रकाशन अनिवार्य बना दिया, उनका संक्षेप में निर्धारण यो किया जा सकता है–

"प्रगतिवादी आलोचना के क्षेत्र में विकृत समाजशास्त्रीयता का प्रतिपादन करने वाली एक नकारात्मक संकीर्ण मतवादी प्रवृत्ति ने अपना अकांड ताण्डव रचकर ऐसी असैद्धान्तिक और अबुद्धिवादी आलोचना पद्धति चलाई, जिसके आतंक के सामने प्रेरणा और अनुभूति के स्रोत बन्द होने लगे, वस्तु–सत्य की सवेदनशील प्रतिभा के पौधे मुरझाने लगे और साहित्यालोचन के मान–दण्ड इस स्वेच्छाचारी संकीर्ण दृष्टिकोण की बेदी पर बलिदान कर दिये गये।"(१)

प्रगतिवादी आलोचना के विपरीत मनोविज्ञान का आधान लेकर आलोचना क्षेत्र में जो अपना दृष्टिकोण बनाया उसके सम्बन्ध में 'आलोचना' के प्रथम अक मे ही सम्पादक ने कहा कि–

"प्रगतिवादी आलोचना साहित्य के सामाजिक प्रयोजनों और दायित्वो को त्यागकर केवल प्रतीकवादी प्रयोगों तक ही सीमित रह गयी और साहित्य और समाज के आधारभूत प्रश्नों के प्रति उसकी अभिरुचि एकांगी और अनुषांगिक ही रही। इसके अतिरिक्त प्राचीन अलंकार–ग्रन्थों की परिपाटी अनुसरण करने वाले आलोचक एक प्रकार से लकीर के फकीर ही रहे और उन्होंने आचार्य शुक्ल के समान आधुनिक चेतना और सामाजिक जीवन वास्तव के अनुकूल उन सिद्धान्तों का नव संस्कार करने का भी कोई उल्लेखनीय प्रवृत्ति नहीं दिखाई। यहाँ तक कि सत साहित्य का मूल्यांकन करने वाली 'लोक–मंगल' और

---

(१) अंक १ पृ २

लोक–रंजन' की शास्त्रीय कसौटियाँ भी उनके निकट मात्र एक रुढ़, अमूर्त 'विचार' बनकर रह गईं।"[१]

प्रगतिवादी और प्रतीकवादी आलोचकों के पास कोई आदर्श न रहा जो प्रत्येक युग के सामयिक संघर्ष में जनता का हित साधन करने वाली सजग चेतना को ठोस आधार लेकर विकास करते जाते हैं और ऐतिहासिक सत्य के स्तरवादी विचारों का मूर्त सजीव युग 'रूप धारण करके साहित्य में मानव मूल्यों और जन हितों के संरक्षक बनते हैं।

आज के संघर्षपूर्ण संक्रान्ति युग में साहित्यिक और सांस्कृतिक जगत का यह गतिरोध तो हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगति के मार्ग में और भी बाधा बना हुआ है।

"आलोचना' इस गतिरोध को तोड़ने का संकल्प लेकर जन्मी है।"[२]

साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा

प्रतीकवादी या प्रयोगवादी लेखक नये प्रयोगों और उक्ति वैचित्र्य के प्रति विशेष आकर्षित रहे जिसके चलते उन्होंने मानव के समग्र व्यक्तित्व के पुनर्निमाण की समस्या को ताख पर रखकर उसे और भी असामाजिक और विकृत बनाया।

'आलोचना' के पहले अंक में सम्पादक ने साहित्य में व्याप्त इस कुरीति पर गहरा क्षोभ व्यक्त किया है–आज हमारे जो भी साहित्यकार हैं चाहे वे सरकारी नौकरी मे हों, राजनीतिक पार्टियों से सम्बद्ध हों उनकी प्रतिभा चाहे जिस श्रेणी की हो इस पर मुझे बहस नहीं करना है। क्योंकि हमारे साहित्य की जीवन्तता उन्हीं में है। उन्हीं से मुझे यह आशा है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के पुनर्निमाण के लिए भगीरथ प्रयत्न करेंगे और जब यह स्थिति आयेगी तभी हमारा साहित्य तमाम संकीर्णताओं से ऊपर उठकर गरिमाशाली हो पायेगा। हमारी पत्रिका के प्रकाशन का एक महत्वपूर्ण उद्‌देश्य यह भी है कि हम अपने साहित्यकारों में मुक्ति कामी और मानववादी संकल्प जगायेंगे।"[३]

इसके लिए सम्पादक ने विश्व के प्राचीन साहित्य के अध्ययन पर विशेष रूप से बल दिया है। सम्पादक की मान्यता है कि प्राचीन विश्व–साहित्य किसी देश और काल की पैदावार क्यों न हो परन्तु इसमें चिरकाल तक मनुष्य जाति को अनुप्राणित करने की शक्ति रहेगी।

सम्पादक की मान्यता है कि हमने जिन मानव मूल्यों को भुला दिया है वे हमें विश्व साहित्य की महान कृतियों के अध्ययन से सहज ही प्राप्त हो सकते है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की महान कृतियों ने मानव को गुलाम नहीं बनाया बल्कि उसे नया उत्साह और नई प्रेरणा दी है क्योंकि महान कलाकार और उनकी कृतियाँ सही अर्थों में क्रांतिकारी होती हैं।"[४]

'आलोचना' के दूसरे अंक के सम्पादकीय में सम्पादक ने प्रतीकवाद की

(१) आलोचना अंक १, पृ. २
(२) वही, पृ. ५
(३) वही पृ ५
(४) वही पृ ७
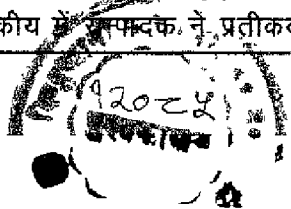
आलोचना करते हुए उसे त्रिशंकुओं का साहित्य कहा है—अर्थात लक्ष्यच्युत व्यक्ति का उद्‌गार। प्रतीकवाद का प्रयोजन हमारी अस्पष्ट एवं अनिर्दिष्ट भावनाओं एवं अनुभूतियों को निजी दृष्टिकोण से विजित करना है। प्रतीकवादी काव्य का विषय सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण और उसकी प्रतीकात्मकता की कृत्रिमता एवं नवीनता के प्रति अतिशय आग्रह के कारण उसमें अस्वाभाविकता और अस्पष्टता का आना स्वाभाविक था और प्रतीकवाद के समर्थकों ने अस्पष्टता को ही काव्य का एक गुण मान लिया। सम्भवतः प्रतीकवादी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यजंना के महत्व की प्रतिष्ठा करना चाहते थे किन्तु अपने लक्ष्य से भटक गये। लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता के स्थान पर उन्होंने दुर्बोधता एव अस्पष्टता को अपना लक्ष्य बना लिया। इसी दुर्बोधता, अस्पष्टता, अतिवादिता से क्षुब्ध होकर शिवदान सिंह चौहान ने इसे 'त्रिशंकुओं' का साहित्य कहा है।

यथार्थ और साहित्य

'आलोचना' अंक ३ (१९५२ अप्रैल) में सम्पादक ने अपने सम्पादकीय मे यथार्थ और साहित्य पर विचार प्रकट करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि हम एक ऐसे संक्रान्ति युग की पैदावार हैं जिसके यथार्थ की ह्रासोन्मुख और विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का द्वन्द्व अपनी चरम अवस्था को पहुँच गया है। एक ओर वर्ग समाज का अन्तिम युग पूँजीवाद अपनी अन्तिम लीला समाप्त करते समय कुछ देर और टिके रहने के लिए लालायित हैं तो दूसरी तरफ समस्त पीड़ा, वेदना, आशा, और निराशा, दुख—दर्द के बीच नवीन मानव युग समाजवाद का उद्‌भव हो रहा है, यही इस संक्रान्ति वाली वास्तविकता है। इसी यथार्थ को साहित्य और कला में प्रतिबिम्बित करने की समस्या इस युग के साहित्यकार की सबसे बुनियादी समस्या है। यथार्थ साहित्य का प्रश्न इसीलिए और भी प्रासंगिक है कि उसकी उचित जानकारी के बाद भी हमारे लेखक युगानुरूप महान साहित्य की रचना कर सकते हैं परन्तु इस समय ऐसा नहीं हो पा रहा है। क्योंकि हमारे साहित्यकार ह्रासकालीन पाश्चात्य तथा अमेरिकी साहित्य की प्रवृत्तियों का अन्धानुकरण कर रहे हैं। यथार्थवाद से हटकर काव्य में प्रतीकवाद तथा साहित्य में फ्रायडवाद जैसी साहित्यिक प्रवृत्तियों और फैशनो की ओर उन्मुख हो रहे हैं इसीलिए यथार्थ और साहित्य पर विचार करना और भी जरूरी हो गया है।"[१]

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए सम्पादक ने कहा है कि महान—साहित्य और कला निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है। इसीलिए उसकी कसौटी ही यथार्थवाद है, मात्र रसों की सृष्टि से, व्यंग्य और वक्रोक्तियों की भरमार या अलंकारों के वैचित्र्य से या अभिव्यक्ति के सौष्ठव से या प्रतीकों के प्रयोग से या सबको मिलाकर ही महान कला या साहित्य का मूल्यांकन सम्भव है। क्योंकि ये सभी कला पक्ष से सम्बन्धित है उसके मौलिक सत्य विषय वस्तु से नहीं। शिवदान सिंह चौहान ने स्पष्ट किया है कि अपनी विशिष्ट सर्जनात्मक प्रतिभा के कारण ही विश्व के महान साहित्यकार

(१) आलोचना अंक ३, पृ. ३

यथार्थ की सही पहचान करक उसकी कलात्मक सृष्टि करने में सफल हुए है–"विश्व साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि यथार्थवादी साहित्य महान दिग्गज प्रतिभाओ की ही सृष्टि है। प्रतिभा के बिना वास्तविकता का वैविध्यपूर्ण मूर्त और सारपूर्ण कलात्मक चित्रण असम्भव है। ऐसे पात्रो की सृष्टि करना असम्भव हैं जो अपन युग क प्रतिनिधियो और उनके जीवन व्यापारो से ऐसी नैतिकता को जन्म देना असम्भव क जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपने युग की प्रगतिशील मानवता के मगल की साधक हो, बाधक नहीं।"[१]

आज के साहित्यकार को यथार्थ को वास्तविक रूप में ग्रहण करना बकिम, शरद, इकबाल और प्रेमचन्द इत्यादि की अपेक्षा कठिनतर कार्य है। क्योकि आज की परिस्थितियाँ उन दिनों से भी जटिल हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन का विघटन हो चुका है और जन पक्ष की शक्तियाँ अभी तक संयुक्त होकर एक विशाल राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म नहीं दे पायी है जो देश के समूचे वातावरण को ही बदल दे। जब तक यह वातावरण नहीं बदलता तब तक उपर्युक्त स्थिति बनी रहेगी।

प्रगतिशील साहित्य : प्रगतिवाद

प्रगतिशील साहित्य, प्रगतिवाद पर विचार प्रकट करते हुए सम्पादक ने अपनी सम्पादकीय घोषणा में कहा है कि अब तक प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवाद को एकार्थक समझा जाता रहा है, पर मूलतः प्रगतिशील साहित्य प्रगतिवाद से भिन्न है। प्रगतिशील साहित्य का प्रगतिवादी होना जरूरी भी नहीं। प्रेमचन्द ने १६३६ में प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद से बोलते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा था, "प्रगतिशील लेखक संघ' यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार मेरे विचार से स्वभावतः प्रगतिशील होता है।"[२] डॉ शर्मा ने प्रगतिशील साहित्य की व्याख्या करते हुए उसे भारतीय जनता की सास्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास" कहा, इसको सम्पादक ने विचित्र सूत्र की संज्ञा देते हुए कहा है कि "यह मार्क्सवादियों के उस औचित्यपूर्ण दावे का स्मरण दिलाता है जो एक वर्गमुक्त समाज की साम्यवादी संस्कृति (सोवियत कला साहित्य) और दर्शन, समाज शास्त्र, ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में स्वयं मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के बारे में पेश करते हैं किन्तु भारत या किसी अन्य पूँजीवादी, अर्थ पूँजीवादी देश के प्रगतिशील साहित्य पर ऐसा दावा थोपना एक सकीर्ण मतवादी प्रवंचना को जन्म देना ही कहा जा सकता है।"[३]

अन्यत्र डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि "प्रगतिशील साहित्य स्वाधीनता, शान्ति और जनतन्त्र का साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य देश से साम्राज्यवाद, सामन्तवादी संस्कृति को निकालने के लिए संघर्ष करता है।"[४]

इस स्थापना पर सम्पादक ने इस रूप में टिप्पणी की कि लेखक महोदय ने अपनी इस नयी परिभाषा में प्रगतिशील साहित्य की परिभाषा संकुचित कर दी

---

(१) आलोचना-३, सम्पादकीय

(२) साहित्य का उद्देश्य- प्रेमचन्द, पृ. ३०

(३) " " ४ पृ २

(४) वही पृ २

है ओर उसे किसी विशेष राजनीतिक पार्टी स जोड दिया है। अगर इन्ही की बात मानी जाय तो प्राचीन लेखकों की तो बात हा मत कीजिए. आधुनिक साहित्य के निर्माताओं भारतेन्दु, बकिम, शरद, रवीन्द्र. इकबाल, आचार्य शुक्ल प्रेमचन्द, पन्त, निराला, राहुल, यशपाल, अश्क, को भी प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता।

साहित्य के शीतकाल की समस्या

इतिहास एक ऐसा लेखनकार्य है इससे अन्तर्गत यथार्थ परिस्थितियो और घटनाओं से सम्बन्धित लिखित और मौखिक वृत्तों आदि को आधरभूत सामग्री बनाया जाता है। 'इतिहास' देश और काल के आयाम में विकसित और विकासशील मानव जीवन का गवेषण एवं तथ्यों पर आधारित युग सापेक्ष्य मानव जीवन की व्याख्या है। साहित्य का इतिहास और इतिहास दोनों मे अन्तर है। दोनों के लेखन में दृष्टि और लेखन की प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इतिहास में कल्पना के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं होती है। इतिहास का कार्य क्रम में घटित हुई घटनाओं का तिथियों सहित ब्योरा प्रस्तुत करना होता है और इतिहासकार की दृष्टि मूलतः वस्तुनिष्ठ हुआ करती है। यूँ व्यक्ति निष्ठता का पूर्णतः बहिष्कार भी नहीं करता है। इसके विपरीत साहित्य के इतिहास में व्यक्तिनिष्ठता का ही प्राधान्य रहता है। यही कारण है कि किसी साहित्य के एक से अधिक इतिहासों में साहित्य का मूल्यांकन एवं उस मूल्यांकन से प्राप्त निष्कर्ष एक ही प्रकार से नही होते। उदाहरण के तौर पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास–दृष्टि को देखा जा सकता है।

कभी–कभी ऐतिहासिक प्रणाली में रचनाओं की उपेक्षा हो जाती है, तथा तथ्यों और तिथियों पर ही ध्यान टिक जाता है जिससे साहित्यिक धारणा गौण हो जाती है। साहित्यिक मूल्य कभी भी स्थिर मूल्य नहीं हो सकते, वे परिवर्तनशील हुआ करते हैं जैसे–''कामायनी एक पुनर्विचार' के अन्तर्गत मुक्तिबोध ने जिस दृष्टि को अपनाया है वह आचार्य वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र की दृष्टि से भिन्न है। पुनर्मूल्यांकन की सार्थकता ही यही है कि किसी भी कृतित्व को बदले हुए संदर्भों में पुनः परिक्षित कर उसकी प्रासंगिकता को परखा जाय तथा उसके भीतर से समसामयिक आवश्यकताओं के अनुसार नित्य नयी प्रेरणायें प्राप्त की जा सके।''[१]

राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या

सम्पादक ने साहित्य के राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य पर विचार करते हुए अन्त मे कहा है–''हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संदर्भ जितना ही तीव्र होता जाता है सांस्कृतिक विरासत के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्वहपूर्ण होता जाता है और इस समस्या को कम करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बदली जाती है।''[२]

---

(१) आलोचना-अंक ५, पृ. ४
(२) आलोचना-अंक ५, सम्पादकीय

सम्पादक ने ऊपर घोषित समस्या के समाधान पर यथा सम्भव प्रकाश डाला है। सम्पादक की मान्यता है कि हिन्दी के साहित्यकारों ने जिस राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग किया है वह अत्यन्त संकीर्ण परिधि में है। कतिपय साहित्यकारों की मान्यता है कि २० से ४२ तक जो राष्ट्रीय आन्दोलन मुखर था उससे ही सम्बन्धित साहित्य को राष्ट्रीय कह सकते है। राष्ट्र की धारणा देश और काल दोनों आयामों में फैली है। देश के स्तर पर यह एक भौगोलिक सीमा से जुडी है काल के स्तर पर वह सारी परम्परा जातीय विश्वासो और भारतीयता की धारणा की अभिव्यक्ति है जिसके मूल मे निहित उदारता, धर्म, सम्प्रदाय आदि सबसे निरपेक्ष होती है। यह भी मानववादी जीवन–दृष्टि का ही एक पक्ष है। इस दृष्टि से राष्ट्रीयता अवरुद्ध हो जाए तो संकीर्ण क्षेत्रीयता के बोधो से विकृत होने का खतरा होगा और उसे विकसित करते जाएँ तो वह उदार मानवतावादी विश्व दृष्टि का आधार बन सकती है। इस दृष्टि–भेद को लक्ष्य में रखकर राष्ट्रीयता के आलोचकों और प्रशसको के भाव को व्याख्यायित करना चाहिए। शिवदान सिंह चौहान का कहना है कि राष्ट्रीय शब्द इतना संकुचित अर्थ मे ग्रहण करना सर्वथा गलत है। अगर हम इसे इस रूप में ग्रहण करें तब तो यह साहित्य केवल विद्रोह का साहित्य है जो केवल गुलाम देश में पैदा होता है। अर्थात जो देश स्वतन्त्र है वहाँ राष्ट्रीय साहित्य या कला की रचना ही नहीं की जा सकती। इस तरह की रचना करने वाले ही राष्ट्रीय कवि या कलाकार है दूसरे कवि या कलाकार राष्ट्रीय ही नहीं। इसका स्पष्ट उदाहरण है कि मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, दिनकर, आदि को तो राष्ट्रीय कवि कहने की बात हमारे मन में आ ही नहीं पाती।"(१) सम्पादक ने इस भ्रान्तिपूर्ण स्थापना का कारण राष्ट्रीय और राष्ट्रवादी को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति को माना है।

सम्पादक ने राष्ट्रीय साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है–"राष्ट्रीय कला या साहित्य से तात्पर्य उस कला और साहित्य से है जो जनसाधारण की भाषा, लोकवार्ता, लोक साहित्य, पौराणिक व्याख्यानों और जनश्रुतियों से मुक्त उस जातीय मुहावरे का प्रयोग करता है जो एक राष्ट्र के लोगों में समान रूप से प्रचलित होता है। इसीलिए जब तक जातीय या राष्ट्रीय भावना का उदय नहीं हुआ तब तक राष्ट्रीय कला और साहित्य का विकास नहीं हुआ।"(२)

राष्ट्रीय एकता की भावना मध्ययुग के अन्त में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के आरम्भ मे पैदा हुई। उन दिनों धर्म ही लोक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम था, मनुष्य की चेतना में अनेक परस्पर विरोधी धर्म साधनाएँ चल रही थीं। वर्ग संघर्ष, जाति संघर्ष, ऊँच–नीच का भेद–भाव, इनका बोल–बाला था। इसी परिस्थिति में कबीर पैदा हुए। कबीर ने इन तमाम रूढ़ियों का विरोध किया और इसीलिए हम राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण कबीर से मानते हैं। रीतिकाल में लोक काव्य के रूपों का सर्वथा तिरस्कार तो नहीं हुआ परन्तु शास्त्रीय विधान इतना जटिल था कि राष्ट्रीय काव्य के रूप की उपेक्षा हुई। ये कवि–जीवन के एकांगी चित्रों की ही रचना थी।

(१) अंक ६

(२) अंक६ पृ ५

भारतेन्दु के समय में इसका दूसरी बार उत्थान हुआ जो विदेशी शासन के स्थापित होने के विरुद्ध थी। भारत में हिन्दी उर्दू गुजराती मराठी बंगाली इत्यादि तमाम भाषाओं में अनेक प्रतिभा सम्पन्न कवि एवं कथाकार पैदा हुए जिन्होंने राष्ट्रीयता पर बल दिया। इन महान साहित्यकारों एवं कलाकारों में भारतेन्दु, बंकिम, शरद, रवीन्द्र, इकबाल, जोश, पन्त निराला, प्रेमचन्द्र, प्रसाद यामिनी राय, विष्णु दिगम्बर, फैयाज खाँ, उस्ताद इनायत अली खाँ आदि प्रमुख है। देश के सांस्कृति जीवन का वातावरण कला निर्माण के अनुकूल था जिसके चलते हमारे साहित्यकारो एवं कलाकारों ने बडे उत्साह के साथ राष्ट्रीय आधार खोजे परन्तु इस पीढ़ी के समाप्त होते ही द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया है। प्रगतिशीलों ने इस ह्रास को रोकने की कोशिश की परन्तु असफल रहे। इसका मुख्य कारण सम्पादक ने आधुनिक विदेशी साहित्य का अन्धानुकरण माना है। अधिकांश रचनाएँ पाश्चात्य कृतियों की शैली और 'टेकनिक' की ही नकल है पात्रों में जीवन्तता नहीं जो होरी में थी। वे कठपुतली लगते हैं, हमें इस नवीनता पर मृगतृष्णा होती है। हमें चाहिए कि पाश्चात्य देशों की ह्रासोन्मुखी सामयिक प्रवृत्तियों का आकर्षण छोड़कर यथार्थ जन जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने वाली श्रेष्ठ रचनाएँ करें। जिसके अनुषंक में राष्ट्रीयता का तृतीय उत्थान फले फूले।

प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन

शिवदान सिंह चौहान ने अपने सम्पादन काल में सभी विधाओं से सम्बन्धित लेख प्रकाशित किया। प्राचीन कालजयी रचनाओं तथा रचनाकारों का मूल्यांकन कराया, साथ ही अर्वाचीन सिद्धान्तों तथा काव्य प्रवृत्तियों का भी। कबीर, सूर, तुलसी, पन्त और प्रेमचन्द की महत्वपूर्ण काव्यगत विशेषताओं को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया तो साथ ही आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद, छायावाद, आदि की भी समीक्षाएँ हुई।

आलोचक का मुख्य कार्य क्या होता है इसकी चर्चा करते हुए डॉ देवराज ने लिखा है, "आलोचक के मुख्य दो कार्य होते हैं–एक– कृति विशेष को रसमय अथवा नीरस बनाने वाले उपादानों की ओर संकेत करना, और दूसरा समुचित दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन करना।"[१]

समाजशास्त्रीय आलोचना की विशेषताओं को बताते हुए डॉ. देवराज ने लिखा, "समाजशास्त्रीय दृष्टि कलाकार के मूल्यांकन में सहायक हो सकती है। आलोचक पूछ सकता है–कलाकार अपने जटिल युग जीवन के कितने अंश को अभिव्यक्ति दे सका है? उसने युग–जीवन को कितनी गहराई और व्यापकता मे उद्घाटित किया है ? कलाकृतियों का रस हम एकान्त में बैठकर लेते हैं, उन्हे हम मुख्यतः आनन्द के लिए पढ़ते हैं। किन्तु जब आलोचक उनका सम्बन्ध युगजीवन से जोड़ता है तो हमें रसानुभूति के साथ यह चेतना भी होती है कि उन कृतियों का ऐतिहासिक रंगमंच होने वाले विराट परिवर्तनों से सम्बन्ध है। निश्चय ही यह चेतना हमें साहित्य और युग दोनों को समझने में सहायता देती

(१) अंक १ पृ ४०

है। आज हमे जान पडता है कि हम समाजशास्त्रीय दृष्टि क बिना साहित्य क पर महत्व का ह्रदयगम नहीं कर सकते।(१)

आलाचक का मुख्य काय कलाकृति का स्पष्टीकरण और मूल्यांकन है। किन्तु जहाँ आलाचक आलाच्य कृति का युग जीवन मे सम्बन्ध जोडता है वहाँ वह दखन का कोशिश करता है कि वह जीवन के किस पहलू का कितनी सफलता से व्यक्त कर पाया है। समाजशास्त्रीय आलोचना के साथ मुख्यतः दो खतरे रहते हैं। डॉ. देवराज के अनुसार "एक खतरा यह है कि ऐसा आलोचक जीवन के स्थूल सामाजिक रूपों को ही देखे और उसके सूक्ष्मतर स्पन्दनों की उपेक्षा कर डाले। कभी–कभी ऐसे समीक्षक कलाकृतियों का मूल्य आँकने बैठ जाते हैं, जिनकी रस–संवेदना शिक्षित या विकसित नहीं है, पर जो अच्छे पंडित है। वे जीवन दर्शन, नैतिक, राजनैतिक मतवादों आदि पर अधिकारपूर्वक बोल सकते हैं। क्योंकि ये चर्चाएँ स्वयं अपने में महत्वपूर्ण हैं इसलिए वे यह भ्रम उत्पन्न कर सकती हैं कि आलोचक की बातें बड़ी महत्त्वशालिनी हैं। दूसरा खतरा यह है कि वह प्रवृत्तियों के विश्लेषण में इतनी फँस जाय कि आलोच्य कृति में विशिष्ट जीवन को कितनी सफलता एवं मार्मिकता से अभिव्यक्त किया गया है, इस मूल प्रश्न को भूल जाय। यह खतरा और भी बढ़ जाता है जब समाजशास्त्रीय आलोचक कलाकार से एक विशिष्ट सिद्धान्त या मतवाद की पुष्टि अथवा प्रचार की मांग करने लगता है। ऐसे आलोचक साहित्य में स्थूल मतवादी घोषणाओं को खोजने और पाने का प्रयत्न करते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें यह देखने का अवकाश नहीं रहता कि आलोच्य कृति में कोई अभिव्यक्ति कहाँ तक सफल अथवा रसमय हुई है।" (२)

'भारतीय आलोचना पद्धति' शीर्षक निबन्ध में गुलाबराय ने स्पष्ट किया है कि भारत में काव्यशास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन है। लोकरुचि पर आश्रित आलोचना का जन्म तो काव्य–शास्त्र से भी पूर्व हुआ होगा इसका पता हमें भरत मुनि क नाट्यशास्त्र से पता चलता है। भारतीय पद्धति में कई प्रकार से आलोचनाएं होती थी–

'भारतीय आलोचना पद्धति' शीर्षक निबन्ध में गुलाबराय ने स्पष्ट किया है कि भारत में काव्यशास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन है। लोक रुचि पर आश्रित आलोचना का जन्म तो काव्य–शास्त्र से भी पूर्व हुआ होगा, इसका पता हमे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से चलता है। भारतीय पद्धति में कई प्रकार से आलोचनाएँ होती थीं–

१ विशेषताएँ बताने वाली कृतियों के रूप में,
२ गुण दोष पद्धति के आधार पर,
३ टीकाओं की काव्यात्मक आलोचनाएँ,
४ कथावाचकों की आलोचनाएँ।

लेख के अन्त में गुलाब राय ने भारतीय आलोचना पद्धति के विषय मे लिखा–

(१) अक–१ प ४२

भारतीय आलोचना का सुझाव शास्त्रीय आलोचना की ओर अधिक रहा किन्तु और प्रकार की आलोचनाओं का अभाव नहीं रहा है। शास्त्रीय आलोचना में रस अलंकार, रीति–वृत्ति आदि का विवेचन होता है।"[1]

डॉ. भगीरथ मिश्र ने भारतीय आलोचना पद्धति की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इनके अनुसार विशेषताएँ निम्नलिखित है–

१. निष्पक्ष तथा तथ्य निरूपण और सैद्धान्तिक विवेचना करना।
२ : वह व्यक्ति प्रधान न होकर विषय प्रधान है।
३ : तर्क द्वारा सिद्धान्त या तथ्य के असत्य पक्ष का खण्डन करना।
४ : अपने समस्त तथ्यान्वेषण को एक स्वतः सिद्धपूर्ण और व्यापक सत्य से एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करना।

डॉ. भगीरथ मिश्र ने पाश्चात्य और भारतीय पद्धतियों की तुलना करते हुए लिखा–"पाश्चात्य आलोचना पद्धति जहाँ पर ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आधारों को प्रमुख महत्व प्रदान करती है, वहाँ भारतीय आलोचना पद्धति प्रत्येक परिस्थिति में परिव्याप्त तथ्यों और सिद्धान्तों को अपनाती है। इन तथ्यों और सिद्धान्तों के प्रकाश में व्यक्ति अपना प्रयत्न केवल पूर्णता की ओर प्रयास मात्र है। परन्तु यहाँ स्मरण रहे कि ये दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे की विरोधिनी नहीं वरन् पूरक हैं और आधुनिक युग में हमें पाश्चात्य पद्धतियों को सहर्ष अपनाते हुए भी भारतीय पद्धति को मूलाधार के रूप में ग्रहण करके चलना ही अधिक प्रयुक्त है।"[2]

डॉ. अब्दुल कलीम ने साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टि स्पष्ट किया है उनका कहना है कि, "मार्क्सवादियों का दृष्टिकोण यह है कि रूप विधान का अध्ययन करके जहाँ तक सम्भव हो, वस्तु से निकटतम सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अन्दर विषय वस्तु से अलग करके रूप को न पूरे तरह समझा जा सकता है, न उसे ठीक–ठीक पसन्द नापसन्द किया जा सकता है। साथ ही यह भी सही है कि विषय वस्तु की कलात्मक सृष्टि बिना कलात्मक रूप विधान के सम्भव नहीं। सच तो यह है कि ये दोनों आंगिक रूप से परस्पर सम्बद्ध तथ्य हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कला रूपों के इतिहास और विकास को सामान्यतः समाज के इतिहास और विकास से असम्बद्ध करके नहीं समझा जा सकता। कला के रूप ज्यों–ज्यों मनमाने ढंग से विकसित नही हो सकते, बल्कि उस विषय वस्तु से सम्बन्धित होकर विकास पाते हैं, जिसे वे रूपायित और प्रतिविम्बित करते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के इस बुनियादी तथ्य को समझने के लिए कला रूपो के विकास और शिल्प–विज्ञान (टेक्नोलाजी) के विकास में तुलना करने से सहायता मिलेगी।"[3]

अनेक आलोचकों की यह धारणा है कि समाजवादी कला किसी भी रूप में स्वच्छन्दतावाद (छायावाद) को अस्वीकृत कर देगी, क्योंकि समाजवादी कला यथार्थवाद पर ही सबसे ज्यादा जोर देती है। डॉ. अब्दुल कलीम ने लिखा है सच्चा मार्क्सवादी स्वच्छन्दतावाद को एकदम अस्वीकृत नहीं करता, बल्कि वह

(१) आलोचना अंक-१, पृ. ४२
(२) आलोचना अंक-२, पृ. ११
(३) वही पृ ५५

इस बात की मांग करता है स्वच्छन्दतावाद को भी सक्रिय और क्रान्तिकारी होना चाहिए न कि आदर्शवादी और बुर्जुआ। क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद क्रान्ति और उसके उद्देश्यों के प्रति मनुष्य की उत्सर्ग भावना की समस्त ऊष्मा उत्कण्ठा और भावजन्य वैभव को व्यक्त करता है। स्वच्छन्दतावाद समाज को प्रतिबिम्बित करने के लिए यथार्थवाद की जरूरत है लेकिन एक सही किस्म के यथार्थवाद की।"[1]

मार्क्सवादी दृष्टिकोण नैतिक मूल्यों से अपना दामन बचा नहीं सकता है परन्तु मार्क्सवाद अश्लील और निराशा को गलत बताता है—डॉ. कलीम ने लिखा है "मार्क्सवाद साहित्य में निराशावाद और अश्लीलता की प्रवृत्तियों को निन्दनीय ठहराता है। वह आशावाद का प्रतिपादन करता है, जो मुक्तिदायी है, उसका आशावाद इसी जगत का है इसके सुख, आनन्द, पुरस्कार यहीं के हैं, लेकिन इसका अर्थ नहीं कि ये सुख—आनन्द अनिवार्यतः शरीर सुख तक ही सीमित है।"[2]

हिन्दी समीक्षा पर एक दृष्टि डालते हुए डॉ. देवराज ने समीक्षा के सभी पद्धतियों पर विचार व्यक्त किया है—छायावादी आलोचना दृष्टि के विषय मे लिखते हैं—"छायावादियों के पास कोई स्पष्ट सामाजिक दर्शन,सामाजिक आदर्श या सन्देश न था, फलतः ये रहस्यवाद के नाम पर शिक्षित समाज को और स्वय अपने को भुलावा देने लगे।"[3]

प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति पर डॉ. रामविलास शर्मा और आचार्य शुक्ल की धारणाएँ क्या थी इस पर डॉ. देवराज ने लिखा—

"काव्य—साहित्य के प्रगतिवादी दृष्टिकोण और शुक्ल जी के दृष्टिकोण मे गहरी समनाताएँ हैं। दोनों इस बात पर जोर देते हैं कि साहित्य की विषय वस्तु सामाजिक होनी चाहिए, उसका कर्म जगत से सम्बन्ध होना चाहिए, और यह कि साहित्यकार को लोक—मंगल की साधना करनी चाहिए। शुक्ल जी प्राचीन वर्ण व्यवस्था के कायल हैं, प्रगतिवादी मार्क्सीय साम्यवाद के।"[4]

डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रगतिवादी विचाराधारा को स्पष्ट करते हुए लिखा—

"१—साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है। प्रगतिशील साहित्य वह है जो साहित्य को आगे बढता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है।

२—प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। यदि वह साहित्य मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नही पड़ता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।

३—यह कहना गलत है कि "श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है।' अर्थात

---

(१) आलोचना- अंक-२, पृ. ५६
(२) वही, पृ. ५८
(३) अंक ३ पृ १०
(४) वही पृ ११
( )

साहित्य म प्रगतिशीलता और श्रेष्ठता समानार्थक नही है।''[५]

'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक निबन्ध में प्रकाशचन्द गुप्त तुलसीदास को दब कण्ठ स सामंतवादी विचारधारा क समर्थक भी मानते हुए स्पष्ट किया ह कि तुलसीदास नारी क प्रति अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टि रखते हैं वर्णाश्रम व्यवस्था क हिमायती हैं।

इसी प्रकार डॉ प्रकाशचन्द गुप्त न [illegible] कबीर की मानवतावादी दृष्टि को रेखांकित करते हुए उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

शिवदान सिंह चौहान ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को महत्वपूर्ण स्थान देत हुए उनक तीन मौलिक निबन्ध प्रकाशित किए। वस्तुतः पत्रिका का आरम्भ ही. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी क 'संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा' निबन्ध से हुआ था। इस निबन्ध मे द्विवेदी जी ने महाकाव्यों की परम्परा पर दृष्टिपात करते हुए रामायण से उसकी शुरुआत मानी। और रामायण की इस विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि उसके मूल में करूणा है। ''महाभारत को यद्यपि महाकाव्य नहीं माना जाता परन्तु यह महाकाव्यों का उद्‌गम स्थल है, मानवता के विकास की पूरी कहानी इस ग्रंथ में चित्रित है। 'नेवध', 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपाल बधम्' आदि महाकाव्य महाभारत की ही देन है। महाभारत एक हाथ की रचना नहीं है। परन्तु एक सम्पूर्ण युग की रचना है।''[१]

रामायण और महाभारत के बाद संस्कृत में तमाम महाकाव्य लिखे गये जिसका पता नही है। अश्वघोष के दो महाकाव्य 'बुद्धचरित', सोदरानन्द' हैं। अश्वघोष की भाषा अत्यन्त सजी हुई है संसार में जो आकर्षक है अश्वघोष उसका वर्णन करते है। तदुपरान्त कालिदास के कुमार सम्भव का नाम आता है। इसमें पार्वती के सौन्दर्य का अत्यन्त मनोरम चित्रण हुआ है जो सीमा का अतिक्रमण कर देता है। कालिदास की विशिष्टता भारतीय साहित्य मे सर्वमान्य है इसके बाद माघ ने 'शिशुपालवधम्' भारवि ने किरातर्जुनीयम् और श्रीहर्ष ने 'नेषधीयचरितम्' की रचना की है। ये सभी महाकाव्य संस्कृत की गरिमा को बढ़ाने वाले हैं। संस्कृत कवि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह जीवन की गूढ़तर कही जाने वाली समस्याओं से एकदम निश्चिन्त रहकर सौन्दर्य सृष्टि करता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य की साधना' निबन्ध में इस मार्ग पर सतर्कता पूर्वक चलने की पुष्टि की है उन्हें खेद है कि आज का अधकचरा साहित्यकार पाश्चात्य साहित्य के अन्धानुकरण में अपनी मौलिकता खो बैठता है। किसी चीज को ग्रहण करने के बाद उसे इस रूप में प्रकट किया जाय कि वह अपना लगे यह द्विवेदी जी को मान्य है।

सामाजिक अमंगल की आशंका द्विवेदी जी को इन उधार लिए हुए विचारों से है। द्विवेदी जी के शब्दों में, ''साहित्य केवल मन की उमंग में आया हुआ मानसिक उल्लास मात्र नहीं है, वह एक पवित्र कर्तव्य है। उसे लिखकर मनुष्य वर्तमान और भावी पीढ़ियों को प्रभावित करना चाहता है।

(१) अंक १ संस्कृत के [illegible] की [illegible] हजारी प्रसाद द्विवेदी- पृ १०

'आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण' शीर्षक लेख में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आदि काल की सम्पूर्ण सामग्री को फिर से देखने की कोशिशें की है। उनकी मान्यता है कि आदि काल में हिन्दी भाषी प्रदेश में रचित एक भी ऐसी रचना नहीं मिलती जिसे हिन्दी की कही जा सके।

डॉ. देवराज के तीन निबन्ध प्रकाशित हुए- 'समाजशास्त्रीय आलोचना' 'हिन्दी समीक्षा एक दृष्टि' 'अतीत का साहित्य' 'क्लासिक की परिभाषा'। समाजशास्त्रीय आलोचना को देवराज मार्क्स की देन मानते हैं। इसकी सामाजिक तरफ संकेत करते हुए वे लिखते हैं—समाजशास्त्रीय दृष्टि साहित्य को समझने का एक उदाहरण है वह पर्याप्त नहीं है। अपने दूसरे निबन्ध 'हिन्दी समीक्षा एक दृष्टि' में उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल से लेकर सशक्त आलोचना की पूरी यात्रा वर्णित की है। 'अतीत का साहित्य—क्लासिक की परिभाषा' इस निबन्ध में लेखक ने अपना विचार इस तरह प्रकट किया है—क्लासिकल साहित्य जीवन के उन तत्वों का वहन करता है जिनकी उपयोगिता या सार्थकता आज भी है।

इतिहास और आलोचना

'इतिहास और आलोचना मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक से दूसरे को अलग करके विचार करना असम्भव है। सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि साहित्य के इतिहास और साहित्यालोचन दोनों की अलग-अलग समस्यायें है। इतिहास की समस्याओं पर विचार के क्रम में आलोचना के प्रतिमान की बात विषयान्तर मानी जाती है। अधिकांश विचारकों ने काल विभाजन को इतिहास की मुख्य समस्या माना है। नामवर सिंह ने साहित्येतिहास के अध्ययन की नयी दृष्टि का संकेत किया है, "इन प्रस्तावित कालो के कारण हमारा साहित्यिक इतिहास खण्डित हुआ है। इन युगों के द्वारा हमें इतिहास के खण्ड चित्र प्राप्त होते हैं, इतिहास का अखण्ड प्रवाह नहीं मिलता। जिसे संक्रमण बिन्दु अथवा सन्धिरेखा पर इतिहास दो युगों में तोड़ा जाता है, वहाँ इतिहास की चिन्ता धारा ही नहीं रहती बल्कि इस टूटने की क्रिया में बहुत कुछ छूट भी जाता है और टूटा ही रह जाता है। इसी प्रकार एक खण्ड का व्यवस्थित ढाँचा बनाते समय कुछ महत्वपूर्ण तथ्य, अथवा ऐसे तथ्य जो महत्वपूर्ण हो सकते है, समेटने से रह जाते हैं।"[१]

यह प्रवृत्ति जिस तरह से इतिहास के लिए घातक है उसी तरह से आलोचना के लिए भी। जब साहित्य का विद्यार्थी साहित्यालोचन में प्रवृत्त होता है तो उसका ध्यान साहित्य के मर्म पर न जाकर विभाजन और वर्गीकरण तक रह जाता है। किसी साहित्यकार के गुणों की खोज करने के बजाय वह उसमे ऐसी बात तलाश करता है जो उसे किसी विशेष धारा से जोड़ती या काटती है अर्थात हमारी समीक्षा पद्धति निषेधात्मक हो जाती है।

साहित्य के अध्ययन अथवा आलोचना के मानदण्ड निर्धारण के लिए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की उपयुक्तता और आवश्यकता का विचार करते हुए

(१) इतिहास और [illegible] सिंह पृ. १६५

नामवर सिंह न स्पष्ट किया–"आलोचना का कार्य सश्लिष्ट समसामयिक सगठित और परिभाषित करना हैं एक प्रकार से यही साहित्य का प्रतिमान भी है और साहित्य का इतिहास भी। पर हिन्दी आलोचना इतिहास के ही समान लक्ष्यच्युत हो गयी वह साहित्य स हो नही बल्कि जीवन से ही विच्छिन्न हो गई है। विचारों म [illegible] एव स्थायित्व नहीं रहने के कारण गोल–माल भाषा में हवाई बात की जाती है। कहने के लिए हिन्दी में आलोचनात्मक इतिहास भी लिखे जा रहे हैं और आलोचना के वर्गीकरण म ऐतिहासिक आलोचना भी शामिल है पर परिणाम कुछ भी नही निकलता। इतनी सी बात भी नही मानी जा रही है कि तमाम साहित्यकारो की कृतियो का लेखा जोखा ही इतिहास नही है बल्कि एक साहित्य का या एक साहित्यिक कृति का समुचित मूल्याकन भी इतिहास हो सकता है। कलेवर के छोटे–बडे होने का प्रश्न नही है, प्रश्न मूल्यांकन के–ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का है। इतिहास का पूनर्नवीकरण शीर्षक सम्पादकीय मे विद्वान सम्पादक ने स्पष्ट किया है–

"इतिहास के नवीनीकरण का प्रश्न समीक्षा के नवीनीकरण का प्रश्न हो जाता है।"[१] यद्यपि बाद में इस घोषणा का निर्वाह नहीं किया गया हैं।

इतिहास का पुनर्मूल्यांकन अन्ततः मूल्यांकन का प्रतिमान है। नामवर सिह ने पुनर्मूल्यांकन के रूप में प्रायः कोरी नवीनता एवं मौलिकता के प्रदर्शन तथा उसके परिणाम स्परूप साहित्यकारों के 'स्टैन्डर्ड' मे आए में आपत्ति की। नामवर सिंह ने कहा, "किसी ने देव को बिहारी से बड़ा बताया, किसी ने घनानन्द का उद्धार किया परन्तु इनमें सन्तुलन को ताख पर रख दिया। पुनर्मूल्यांकन के नाम पर वस्तुतः यह मूल्यहीनता या फिर मूल्य मूढ़ता है, किसी ऐतिहासिक तारतम्य के अभाव में ऐसे पुनर्मूल्यांकन से अव्यवस्था की सृष्टि होती है।"[२]

अन्त में इतिहास और आलोचना के सम्बन्धों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि जो जितना जागरुक आलोचक होगा उसका इतिहास बोध भी उतना ही स्थायित्व लिये होगा। जागरुक समीक्षा दृष्टि के लिए इतिहास का सही परिप्रेक्ष्य अपरिहार्य है।

डॉ. सत्येन्द्र के 'प्रेमचन्द के वाद, उपन्यास साहित्य का प्रवृत्ति–विकास 'हिन्दी साहित्य के विकास क्रम में लोकवार्ता की पृष्टिभूमि', 'सूरसागर', निबन्ध प्रकाशित हुए। पहले निबन्ध में प्रेमचन्द के पूर्व, प्रेमचन्द के समय, उसके बाद प्रेमचन्द के वाद की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है। पहले दौर का पात्र तिलस्मी होता, कुछ भी करने में समर्थ था प्रेमचन्द ने अपने पात्रों को विपत्तियो से जूझते हुए दिखाया, बाद में यशपाल आदि ने पात्रों में क्रान्ति का बीज बोया। दूसरे निबन्ध में उन्होंने स्पष्ट किया है–हिन्दी साहित्य के मर्म पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वस्तु विचार और कला तीनों में ही लोक वार्ता के आधार से अविकसित सम्बन्ध रखा गया है।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के दो निबन्ध–'भरतीय काव्यशास्त्र का नवनिर्माण' और 'हिन्दी आलोचना' प्रकाशित हुए दोनों निबन्धों में इनका

(१) आलोचना- अंक १२ [illegible]

(२) इतिहास और [illegible] सिह पृ १७१

काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट है। पहले निबन्ध में रस–सिद्धान्त अलंकार मत रीति मल. आक्रोति मत और ध्वनि मत पर इन्होंने प्रकाश डाला है। इन्होंने रस ध्वनि को ही काव्य का जीवन माना है।

सम्पादक न दूसरी भाषाओं के शोध पूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये जिसमे बंगला साहित्य क गोपाल हाल्दार को दो रचनाए–'समसामयिक बंगला साहित्य तथा 'बंगला साहित्य मे 'आलोचना', प्रकाशित हुई। पहले निबन्ध में लेखक ने रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के बाद बंगला साहित्य की दरिद्रता पर प्रकाश डाला है। कुछ लोगो जैसे–विष्णु दे, अशोक राहा, मृणाल दास आदि की प्रशंसा भी की है। दूसरे निबन्ध में बगला आलोचना को लेखक ने यूरोपीय साहित्य से से पुष्ट माना है। ये भी दो खेमे में बँटे हुए हैं। कुछ आलोचक अपनी खुराक अमेरिका और इंग्लैण्ड से और कुछ रूस और चीनी साहित्य से ग्रहण करते हैं। एक तीसरा गुट भी है जो इलियट को गुरू मानता है।

डी. के.. बेडकर का 'रससिद्धान्त का स्वरूप', 'आलोचना' के अंकों (न ३ और नं. ४) में प्रकाशित हुआ। इसमें इन्होंने रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन किया है। रस से हीन कला, कला नहीं। रस व्यवस्था एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त न होकर कला स्परूप शास्त्रों का भारतीय प्रमेय है। भरत मुनि से अपनी बात को शुरू करके रस के सभी अंगों पर इन्होंने विचार किया है।

डॉ. हरदेव बाहरी ने अपने दो निबन्धों 'साहित्यिक हिन्दी का स्परूप' 'हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास' में भाषा वैज्ञानिक मान्यता ज्ञापित की है। पहले निबन्ध में हिन्दी की वकालत करते हुए कहा है हिन्दी जिस तरह न मराठी है न बंगाली उसी तरह हिन्दी संस्कृत है और न ब्रजभाषा। इसीलिए मै साहित्यिक हिन्दी को खड़ी बोली से दूर नहीं मानता।

प्रो. ऐहतेसाम हुसेन ने 'उर्दू साहित्य भाषा की उत्पत्ति और उसका प्रारम्भिक विकास' में खोज पूर्ण सामग्री दी है। उनके अनुसार उर्दू का जन्म स्थान पंजाब और दिल्ली है और इसकी भी उत्पत्ति हिन्दी के आस पास ही हुई थी। जिस तरह हिन्दी पर संस्कृत का विशेष प्रभाव है उसी तरह उर्दू पर फारसी का प्रभाव है।

इन लेखकों के अतिरिक्त नरेन्द्र शर्मा, गुलाब राय प्रभाकर माचवे, डॉ नगेन्द्र, डॉ. रघुवंश, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, डॉ. रांगेय राघव, डॉ देवेन्द्र सत्यार्थी, नामवर सिंह इत्यादि के निबन्ध प्रकाशित हुए। सम्पादक ने कविता, कहानी, उपन्यास रससिद्धान्त, नाटक, आलोचना, साहित्य, भाषा विज्ञान, इतिहास इत्यादि सभी विधाओं की शोध पूर्ण रचनाएं प्रकाशित की।

रचना और आलोचना

साहित्य की रचना और आलोचना की धारायें समान्तर होती हैं। प्रत्येक युग की रचनात्मक प्रवृत्ति उस युगीन प्रवृत्ति के अनुकूल होती है और उसी के अनुरूप आलोचना का समान्तर निर्धारित होते हैं। देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ इस प्रकार रचना और आलोचना का स्परूप निर्धारित करती हैं।

भक्ति युग और रीतिकाल इसके हैं में भक्ति और

भक्ति भावना को प्रमुखता मिली तो रीतिकाल में रीति तत्व और श्रृंगार रस को प्रमुखता मिली और उन युगों की आलोचना की प्रवृत्तियां भी उसी प्रकार चली, रीतिकाल में लक्ष्य ग्रन्थों की भरमार दिखाई पड़ती है और रीतिकाल के अधिकाँश कवियों का साहित्य जिस तरह जीवन से कटा हुआ है समकालीन आलोचना भी उसी भाँति जीवन मूल्यों से कटी हुई थी।

आलोच्य अवधि में तार–सप्तक और दूसरा सप्तक दोनों प्रकाशित हो चुके थे और इनके प्रकाशन ने साहित्य जगत में सा मचा दिया था। "समकालीन कवियों ने अपने आधुनिकता बोध पर गर्व करते हुए प्राचीनता का पूर्वत बहिष्कार किया, जबकि उनका यह आधुनिकता बोध पश्चिम की निराशा वादिता एव क्षयोन्मुखता की देन थी। नये काव्य में घोर व्यक्तिवाद, भोगवाद एव उच्श्रृंखलता की जैसी अभिव्यक्ति हुई वह न प्रतिभा के वैष्टि्य की सूचक थी, न कलात्मक सौन्दर्य की और न हीं समाजहित की। आधुनिक कवियों ने नये बिम्बों का धडल्ले से प्रयोग किया, जिनका औचित्य इतना ही था कि वे नये थे। इसी तरह से नये प्रतीकों, उपमानों और शब्दों का भी वर्णन किया। एक नयाबिम्ब–

'कोठरी में दीप की लौ सेंकता ठंडा अँधेरा।'

प्रतीक-

'प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया'

उपमान-

'आपरेशन थियेटर सी जो हर काम करते हुए भी चुप है।'

नये शब्द–

निर्व्याख्या, अस्मिता, ईप्सा, क्लिन, समवाय, इयत्ता, विर्प्यास।

समकालीन श्रेष्ठ आलोचकों, 'शिवदान सिंह चौहान, नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ. नगेन्द्र ने नयी कविता का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इसकी त्रुटियों, एवं न्यूनताओं पर प्रकाश डाला।

शिवदान सिंह चौहान ने इसी प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्य में पूर्ण मानव पर बल देते हुए 'आलोचना' के प्रथम अंक की सम्पादकीय टिप्पणी लिखी–

"प्रतीकवादी या प्रयोगवादी लेखक नये प्रयोगों–नवीनता, उक्ति वैचित्र्य और मनोवैज्ञानिकता के नाम पर साहित्य में मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण की समस्या को तिलांजलि देकर उसे और भी एकांकी असामाजिक और विकृत बनाने में दत्तचित्त रहे।"[१]

नये कवियों ने जिस प्राचीन परम्परा का पूर्णतः बहिष्कार किया जिसके चलते साहित्य का हृास हुआ, शिवदान सिंह ने उन्हीं उसी प्राचीनता से जोडने की बार बार सलाह दी।

"विश्व साहित्य की महाकृतियां हमारे भीतर मनुष्य जीवन की ऐतिहासिक परम्परा की अनुभूति कराती है........ये कतिपय मानव–मूल्य हैं जो हमें विश्व–साहित्य की महानवृत्तियों के अध्ययन से सहज ही प्राप्त होते हैं, ये वृत्तियां आज हमारी जनता में इस विश्व संकट के समय शान्ति, आजादी और जनवाद के संघर्ष के

(१) अंक १ पृ ३

अन्ततः विजयी होने का विश्वास जगा सकती हैं और हमारे साहित्यकारों को पूर्ण मानव के चारित्र की सृष्टि करने में योग दे सकती है।"(१)

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने कविता के सम्बन्ध में अपना विचार स्पष्ट किया. "इनमें अनेक रचनायें भोडे व्यंग्य की सृष्टि करती हैं उनमें व्यर्थ परम्परा का निर्वाह नहीं हाता।"(२)

डॉ. रामविलास शर्मा के भी नयी कविता के सम्बन्ध में लगभग ऐसे ही विचार हैं–

किसी शास्त्रीय आलोचक की क्या मजाल कि प्रयोगवादी कविताओं की निष्पक्ष समीक्षा करकेभी पूर्वाग्रही कहलाने से बच सके। जहाँ कहीं आलोचक ने नयी कविता के सिलसिले में रस की चर्चा की कि नये कवि छल बल सहित अपने–अपने वक्तव्यों और परिभाषाओं का अस्त्र लेकर उसके सामने खड़े हो जायेंगे तब आलोचक के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं या तो वह शास्त्र और कविता दोनों को लेकर वहाँ भाग खड़ा हो जहाँ रसमर्मज्ञ–पाठक एवं श्रोता हो या नये कवियों के अर्थहीन वक्तव्यों परमुग्ध पर होकर कहने लगें–'मनुष्य को बिम्बों के सहारे जीना चाहिए।' प्रयोगवाद एक नया सौन्दर्यशास्त्र लेकर आया है।"(३)

आलोच्य काल में रचना और आलोचना में कौन बड़ा है ? इस पर भी खूब चर्चा हुई। टी एस. इलियट ने रचना शक्ति को आलोचनाशक्ति से किसी भी स्थिति में श्रेष्ठ नही माना। उसका कहना है कि जहाँ रचनात्मक श्रेष्ठ दीखती है वहाँ कारण यही है कि जो श्रेष्ठ लगती है वह ज्यादा आलोचनात्मक होती है। दरअसल यह विवाद का विषय ही नहीं है क्योंकि रचना में आलोचना के तत्व और आलोचना में रचना के तत्व घुले मिले रहते हैं। समीक्षा रचना की ही मूल संवेदना के इर्द गिर्द होगी।

आलोच्य काल में जिस अनुपात में रचना परम्परा विच्छिन्न, आवेश पूर्ण तात्कालिक और वैचारिक दृष्टि से दरिद्र हुई उसी अनुपात में आलोचना भी हुई। आलोचक रचनाकार से तो अनुशासन और समझदारी की मांग करता रहा पर आलोचकों के एक बड़े वर्ग ने इससे उदासीनता प्रकट की।

आलोचना दृष्टि

'आलोचना पत्रिका के विद्वान सम्पादक शिवदान सिंह चौहान ने अपने प्रथम सम्पादकीय वक्तव्य में ही 'आलोचना' पत्रिका की दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए विश्व–साहित्य की महान कृतियों के अध्ययन पर जोर दिया था। ये रचना हमारे भीतर मनुष्य जीवन की ऐतिहासिक परम्परा की अनुभूति कराती है, उनमे वे सभी मानव मूल्य हैं जिससे व्यक्ति अपने को पहचान सकता है। रामायण, महाभारत जैसी कृतियों ने सदैव मनुष्यता को नया उत्साह नयी प्रेरणा दी है। इन ग्रंथों की मान्यता विशुद्ध मानवतावादी दृष्टि का द्योतक है। अन्य आलोचको के जो निबन्ध प्रकाशित हुए उनमें भी अधिकांश इसी मानदण्ड के अनुरूप है।

(१) आलोचना-अंक १ पृ ७
(२) वही
(३) १९५६ पृ ८०

अपनी प्राचीनता को प्रत्येक ने नये रूप में ग्रहण करने की सलाह दी है क्योकि ससार के विरले देशों को ऐसी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर मिलती है। अपने निबन्ध में इसी सांस्कृतिक धरोहर की तरफ संकेत करते हुए डॉ. देवराज कहते हैं "मैं हिन्दी लेखकों से कहना चाहता हूँ कि वे अपने देश की प्राचीन क्लासिक की उपेक्षा न करें और ह्रासकालीन हिन्दी–साहित्य की अपेक्षा उस संस्कृत साहित्य से अधिक प्रेरणा लेने का प्रयत्न करें जो समुन्नत भारत में लिखा गया था।"[१]

समकालीन आलोचकों की सीमाओं की तरफ संकेत करते हुए उनका अभिमत है, "आज के अधिकांश आलोचक सस्ती नारेबाजी और निन्दा स्तुति के अतिरिक्त कुछ और कम कर पाते हैं। वे प्रायः श्रेष्ठ साहित्य के विधायक विविध उपादानों की जीवन चेतना से वंचित रहते हैं और इसीलिए सन्तुलित आलोचना नहीं कर पाते।"[२]

तथाकथित प्रगतिवादियों के साहित्य को सम्पादक ने 'त्रिशंकुओं' के साहित्य को संज्ञा दी। यह स्पष्ट किया कि इन कृतियो में सम्पूर्ण मानव की तलाश करना निरर्थक है। इसके समाधान के लिए विश्व साहित्य की उन महान कृतियों के अध्ययन अनुशीलन पर जोर दिया जो मानवता को आगे बढने के लिए सतत् प्रेरित करती हैं। पूर्ण मानव के प्रतिष्ठा प्रसंग में सम्पादक ने द्विवेदी जी के निबन्ध का उदाहरण दिया है जिसमें मनुष्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति और दुर्बलता दोनों के साथ प्रतिष्ठित होता है।

"महाभारत का अदना से अदना चरित्र भी ठहरना नहीं जानता। किसी के चेहरे पर शिकन नहीं पड़ने पाती। महाभारत पढ़ते समय पाठक एक जादू भरे अरण्य में प्रवेश करता है जहाँ पग–पग पर विपत्ति है, पर भय नहीं है जहाँ जीवन की चेष्टायें बार–बार असफलता की चट्टान पर अक्सर कर चूर–चूर हो जाती हैं पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नही होता, गलती करने वाला अपने गलती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपने घृणा का खुल कर प्रदर्शन करता है।'[३]

सम्पादक की टिप्पणी है कि इन विश्व साहित्य की महान कृतियों के अध्ययन से वे तमाम मानव मूल्य सहज ही उपलब्ध हो सकते हैं जो इस विश्व सकट के समय हमारी जनता में शक्ति, आजादी और जनवाद के संघर्ष मे अन्ततः विजयी होने का संकल्प जगायेंगे।'[४]

एक वर्ष

'आलोचना' प्रकाशन के एक वर्ष होने पर सम्पादक ने विशेष टिप्पणी मे कहा कि 'आलोचना' के पहले अंक में जिन उद्देश्यों की घोषणा की गई थी इस अल्प अवधि में उतना हो पाना तो असम्भव है परन्तु इतना तो हुआ ही है कि 'आलोचना' ने हिन्दी में गम्भीर सिद्धान्त परक स्थायी मूल्य के आलोचना

(१) आलोचना, अंक १, पृ. ४३
(२) वही, पृ. ४४
(३) अंक १, १९५१, अक्टूबर- सम्पादकीय
(४) अंक १ १९५१ अक्टूबर सम्पादकीय

साहित्य के निर्माण को ठोस प्रोत्साहन दिया है साथ ही इस पत्रिका ने ऐसे बुनियादी सवाल उठाये है जिसका समाधान खोजकर साहित्यकार महान कृतियों की रचना कर सकता है। इस पत्रिका ने हिन्दी आलोचना के स्तर को उदात्त नैतिक और रचनात्मक बनाया है। आगे इस पत्रिका की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए सम्पादक ने कहा– पिछले पाँच वर्षों से हिन्दी आलोचना काफी विश्रृंखल उत्साह हीन और अस्त–व्यस्त हो गयी थी। इस बीच तमाम थीसिसें लिखी गई लेकिन अपवाद को छोड़कर मौलिक चिन्तन दिखते ही कितने हैं अर्थात हिन्दी आलोचना में मौलिक चिन्तन की परम्परा नही के बराबर थी। ऐसी स्थिति में एक ही वर्ष में हिन्दी आलोचना का पूर्णत दोष मुक्त कर देना तिलस्म माना जायगा जो यहाँ भी नही हुआ है। हम धीरे–धीरे सुनहरे भविष्य की ओर बढ़ रहे हैं।''[1]

निष्कर्ष

आलोचना के सूत्रपात का उद्देश्य ही था कि वह हिन्दी आलोचना के स्तर को ऊँचा करे। आलोचना ने साहित्यिक गतिरोध को तोड कर साहित्यालोचन का वैज्ञानिक मूल्य निर्धारित किया। इसमें स्थायी मूल्य के आलोचना साहित्य के निर्माण को ठोस आधार प्रदान किया गया। इस पत्रिका में आधुनिक साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और हिन्दी के साहित्यकारों की कृतियों का कलागत सौन्दर्य और सामाजिक मूल्य आंका, साथ ही प्राचीन कृतियों का मूल्यांकन करके उनकी मानवतावादी परम्परा से हिन्दी जगत को अवगत कराया। इस प्रकार 'आलोचना' पत्रिका ने आलोचना के मानदण्ड स्थापित करने का प्रयास किया, जिसमें वह सफल भी हुई। इस क्रम में प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिकतम काव्य प्रवृत्तियों पर शोध पूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए। इस पत्रिका में हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों द्वारा लिखित उच्च कोटि की पुस्तक समीक्षाएं भी प्रकाशित हुईं।

शिवदान सिंह चौहान का पुनर्सम्पादकत्व

सम्पादकीय वक्तव्य, दृष्टिकोण–

सर्वप्रथम 'आलोचना' का प्रकाशन अक्टूबर १९५१ में शिवदान सिंह चौहान के सम्पादकत्व में शुरू हुआ था। वे सिर्फ छः अंक ही निकाल पाये थे कि सम्पादन कार्य में व्यवधान पड़ गया और सम्पादन कार्य एक व्यक्ति के स्थान पर एक सम्पादक मण्डल को सौंपा गया। इस सम्पादक मण्डल में उस समय के जाने–माने साहित्यकार डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा और विजयदेव नारायण साही थे।

सम्पादक मण्डल में विभिन्न दृष्टिकोण के लोगों के होने के कारण जल्द ही यह अनुभव किया गया कि सम्पादक का कार्य एक ऐसे व्यक्ति को सौंपा जाय जिसकी आलोचना दृष्टि परिपक्व एवं साफ हो, इस प्रयोजन से यह कार्य

(१) अंक ४ पृ ७

आचार्यनन्द दुलारे वाजपेयी को दिया गया क्योंकि आचार्य वाजपेयी उस समय तक आलोचना के क्षेत्र में अपनी अच्छी पहचान बना चुके थे।

आचार्य वाजपेयी सौन्दर्यवादी रसवादी चिन्तक थे और उन्होंने रूप मे इस पत्रिका का ढालने का भी कोशिश की। इन्होंने नयी कविता प्रगतिवाद प्रतीकवाद सबका कड़ा विरोध किया। पत्रिका प्रगतिवादी दृष्टि को ध्यान में रखकर चली थी पर नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा दृष्टि के भेद के कारण बीच में इसका [illegible] इसलिए आचार्य वाजपेयी 'आलोचना' के क्रम ६ हा अंको के बाद ४८ महीने का बंदी के उपरान्त इस पत्रिका का संपादन कार्य शिवदान सिंह चौहान को फिर सौंपा गया। शुरू मे भी शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिवादी आलोचना दृष्टि को पुष्ट प्रौढ एवं स्पष्ट किया था फिर इस कार्य को जुलाई १९६३ मे आगे बढ़ाने की बीड़ा उठाया।

शिवदान सिंह चौहान ने अपने पुनर्सम्पादकत्व में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के विशेषांकों का एक क्रम चलाया जिसमें उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित कृतियों का फिर से मूल्यांकन कराने की चेष्टा की। इसमे कथा–साहित्य, नाटक, उपन्यास आदि सबको वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखने समझने का प्रयास किया गया। हिन्दी साहित्य के साथ ही इन्होंने विश्वसाहित्य को भी अपने सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया। ये कहते हैं–"विश्व साहित्य की महाकृतियों की यह सबसे महत्वपूर्ण शिक्षा है, जो मानवता को आगे बढ़ने के लिए सतत् उकसाती रहती है। विश्वसाहित्य की महाकृतियां हमारे भीतर मनुष्य जीवन की ऐतिहासिक परम्परा की अनुभूति कराती हैं। विश्वविद्यालय की महान कृतियों के अध्ययन से मानव मूल्य सहज ही प्राप्त होते हैं जो हमें इस विश्व संकट के समय शान्ति, आजादी और जनवाद के संघर्ष में अन्ततः विजयी होने का विश्वास जगा सकती हैं, और हमारे साहित्यकारों को पूर्ण मानव–चरित्रों की सृष्टि करने में योग दे सकती हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की महान कृतियों ने मनुष्यों के दिमागों को गुलाम नहीं बनाया, उन्हें नया उत्साह और नयी प्रेरणाएं ही दी हैं।"[1]

प्रगतिशील साहित्य के निर्माण और आज तक की उसकी प्रगति पर विचार करते हुए अपने सम्पादकीय वक्तव्य में शिवदान सिंह ने लिखा है, "मनुष्य की संवेदना को कुंठित करने वाले, जब पलायनवादी लोकप्रिय साहित्य से जो सस्ता मनोरंजन करता है या साहित्य की उस धारा से जिसमें नई अभिव्यक्ति की धाराएं चुक जाती हैं और जो केवल रूढ़ि की आवृत्ति करके जैसे अर्थहीन टकसाली बन जाती है, विद्रोह करके साहित्य की जो नई प्रवृत्ति साहस पूर्वक अभिव्यक्ति के नए माध्यम नए बिम्ब और नई भाषा को खोजती है, वह मूलतः अपने आप में प्रगतिशील होती है। अपने समय में यही काम छायावाद और फिर प्रगतिवाद की धाराओं ने किया था। और प्रसन्नता की बात यह है कि नई और पुरानी पीढ़ी और सभी विचारधाराओं के प्रतिभा सम्पन्न लेखकों ने नव सृजन के इन रचनात्मक प्रयत्नों में समान उत्साह से भाग लिया है–साहसपूर्वक नये नये प्रयोग किए हैं और इतना कुछ नया रचा है कि हिन्दी साहित्य की

(१) पूर्णांक १ अक्टूबर १९५१ पृ ७
(२) वही जून १९६५, पृ ८

पिछले सोलह–सत्रह वर्षों की उपलब्धियों पर हम आज गर्व कर सकते हैं।'[२]

शिवदान सिंह चौहान का यह भी मत है कि आजादी के बाद नई कहानी नई कविता आदि नये–नये नामों से जो आदोलन संचालित हुए उनमें भी मानव प्रेम है और उनमें अनुभति की गहराई है। उन्ही के शब्दों में "प्रयोगवाद नई कविता नई कहानी सचेतन कहानी आदि नामों से जो आन्दोलन चले है उनके उद्देश्यों को चाहें जिस शब्दावली में परिभाषित क्यों न किया गया हो और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाओं में चाहें कभी शीतयुद्धीय स्वाजनवाद–प्रगतिवाद विरोध की ध्वनि क्यों न रही हों लेकिन इस दौर में रचनाएं नये काव्य और नये कथा साहित्य के टिकाऊ और श्रेष्ठ–भाग का जायजा लें तो यह निर्विवाद है कि उसमें युग की वास्तविकता का ही गहरी कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है, जो यद्यपि शिल्प और वस्तु की नवीनता और संश्लिष्टता के कारण सहज, सप्रेषणीय नही है और किंचित दुरूह और अपरिचित भी लगती है लेकिन प्रयोगों, नये चौकाने वाले बिम्ब विधानों, पुरानी मान्यताओं और थोथे आदर्शों के प्रति जनास्था और द्रोह के भीतर उनमें गहरा मानव–प्रेम और जीवनाकांक्षा ध्वनित है।"[१]

'आज की कहानी आन्दोलन की उपलब्धियाँ' शीर्षक सम्पादकीय मे शिवदान सिह चौहान ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की कहानियों का मूल्यांकन करते हुए नई कहानियों की उपलब्धियों को रेखांकित किया है। शिवदान सिह चौहान यह मानते हैं कि साहित्य में कोई भी नई प्रवृत्ति अपनी परम्परा में ही विकसित होती है। कभी वह परम्परा का विद्रोह करती है और कभी उसके श्रेष्ठ अशों को लेकर अपनी नई दिशाएं स्पष्ट करती हैं। शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में, "हर नया साहित्यिक आन्दोलन अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से विद्रोह करता है, किन्तु साथ ही उस परम्परा की श्रेष्ठ और मूल्यवान उपलब्धियों का अपने अन्दर समाहार करके उसका विस्तार भी करता है। सामन्ती नैतिक भाव–बोध की संकीर्णताओं में कैद रीतिवादी कविता के विरुद्ध छायावाद का विद्रोह अगर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जय तो वास्तविक अर्थ में भौतिक और युगान्तकारी था।"[२]

छायावाद के अनुयायियों ने भक्ति की जनवादी परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया। प्रगतिवाद ने छायावादी काव्य में बढ़ती हुई असामाजिक व्यक्तिनिष्ठा और पराजयवाद की प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह किया, लेकिन साथ ही पन्त निराला, प्रसाद के काव्य के मूलतः मानवतावादी और मुक्तिकामी स्वर को पूरा समर्थन किया और उसे हिन्दी साहित्य में अक्षुण्ण विरासत के रूप में स्वीकारा। इसके विपरीत बाद मे आने वाले आन्दोलनों नई कविता और प्रयोगवाद भारतीय साहित्य परम्परा को पूरा अस्वीकार कर अपनी ही सत्ता स्वीकारने और स्वीकार कराने में लगे रहे।

शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में–"एक आन्दोलन के रूप में प्रयोगवाद और बाद में नई कविता ने पाश्चात्य की मानवद्रोही कला प्रवृत्तियों के प्रभाव मे ...ची भारतीय परम्परा का तिरस्कार करके अपने को एकदम अभूतपूर्व और

(१) आलोचना पूर्णांक ३३ जून १९६५ पृ ७
(२) वही पूर्णांक ३१ जुलाई १९६४ पृ ३

विशिष्ट सिद्ध करने की कोशिश की। इस आन्दोलन के संचालकों ने बौद्धत्य से भरा कुछ ऐसा रूप अपनाया मानो उनसे पहले के सभी कवि और साहित्यकार मर्ख थे आरोपित–आदर्शवाद' के दलदल में फँसे दयनीय प्राणी थे जिससे वे 'यथार्थ' का खेल आंखों से देखने में असमर्थ रहें और चूँकि व कला की 'रचना प्रक्रिया' से अनभिज्ञ थे इसलिए उनकी कविता सही मानों में कविता नहीं है वह इतिहास पुराण दर्शन नैतिक उपदेश समाजशास्त्र आदि और चाहे जो कुछ हो। परम्परा का इस तरह विरोध इतिहास में पहली बार किया गया ...

प्रयोगवाद और नइ कविता के आन्दोलनों ने परम्परा का तिरस्कार करके अपनी काव्य शैली की विशिष्टता और सामाजिक दायित्व के प्रति उदासीन रहन का जिस प्रवत्ति का इतन जार–शार स प्रचार किया था उसका तात्कालिक सफलता न आलाचकों को चौंका दिया। इससे उनकी आत्माभिव्यक्ति का ही नहीं बल्कि साहित्य मे जल्द से जल्द 'आत्मप्रतिष्ठा' की आकुलता ही झलकती है। जिसका परिणाम यह हुआ कि इसकी सफलता के जितने बडे–बडे दावे किए गए उनके मुकाबले में श्रेष्ठ प्रयोगवादी या नई कविताओं की फसल नगण्य रही और नई सामाजिकता, युगसत्य आदि को झुठलाने के रूप में ही अक्सर पूरे हुए। स्फूर्ति, गहराई, चेतना देने की जगह उन्होंने अवसाद, कुंठा व्यर्थता और अनास्था ही पैदा करने की कोशिश की।"[२] इसी प्रकार से शिवदान सिंह चौहान ने भाषा का प्रश्न और भारत की एकता 'लेखक और युद्ध स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी' साहित्य नया मोड–नये सन्दर्भ–नये प्रश्न,' आलोचक और लेखक' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत अपने प्रगतिवाद का मार्ग प्रशस्त किया। शिवदान सिंह चौहान ऐसे प्रगतिशील साहित्यकारों में से हैं जो हिन्दी के प्रगतिशील आन्दोलन के लगभग प्रारम्भ से ही उसके साथ रहे और उनका मुख्य क्षेत्र समालोचना रहा है।

इनका प्रगतिशील दृष्टिकोण स्पष्ट और स्वस्थ है। उनका साहित्य का अध्ययन गम्भीर है, कलात्मक रूचि परिष्कृत है। इसीलिए इनकी समीक्षाओं मे प्रगतिवादी दृष्टिकोण के रूखे सूखे अभिव्यजंन का पिटा–पिटाया आदेश नही रहता, वे सौन्दर्यानुभूतियों, मानव की सहज संवेदनाओं विकसित कलात्मक उपलब्धियों को साहित्य में देखने के पक्षपाती हैं। इसीलिए उनकी समीक्षा मे प्रगति की सम्भावनाएं हमेशा बनी रहती हैं। शिवदान सिंह चौहान ने 'रसवाद मनोविज्ञान, प्रभाववाद, आदि आलोचना और रचना के दृष्टिकोणों का उनकी एकांगिता के कारण समर्थन नहीं किया है। प्रगतिवाद के समर्थक होकर भी उसकी खामियों के प्रति सावधान हैं।

आरम्भिक काल में सम्पादक बनने के साथ इनकी समीक्षा दृष्टि और मान्यता की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। दूसरी बार ये सम्पादक हुए तो इनकी आलोचना दृष्टि में और प्रौढ़ता होनी स्वाभाविक थी। हिन्दी साहित्य को उदार दृष्टि से देखने का प्रयास इन्होंने किया और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य और विश्व साहित्य का मूल्यांकन कर हिन्दी समीक्षा को नया रूप

---

(१) आलोचना पूर्णांक ३ जुलाई १९६४ पृ ४
(२) पूर्णांक ३१ जुलाई १९६४ पृ २

देने का सफल प्रयास किया।

प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन

१—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक मुल्याकन—

शिवदान सिंह चौहान ने स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी साहित्य की हर विधा का मूल्याकन करने का प्रयास किया है। इसमे कविता नाटक उपन्यास और समीक्षा को नये सन्दर्भ में देखने की कोशिश की गई है। आजादी के बाद जो कुछ भी लिखा गया उस पर देश की परिस्थितियों का गुरु प्रभाव पड़ा। भारत की आजादी ने जिस व्यापक ऐतिहासिक परिप्रक्ष्य और सास्कृतिक विकास की सम्भावनाओं के नये क्षितिज खोले थे अपनी विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियो ओर अन्तराष्ट्रीय प्रभावो क कारण इस बीच हमारे साहित्य का विकास, कुछ अधिक संश्लिष्ट रूपों में हुआ है।

शिवदान सिंह के शब्दों में, "हिन्दी के सवेदनशील रचनाकार प्रगतिवादी हो या कला के लिए कलावादी, आजादी के बाद कुछ ही दिनो में यह महसूस करने लगे कि आजादी के पहले की सरल दुनिया का अन्त हो गया। जीवन भी जटिल समस्याएं और भी जटिल हो गई। और अब प्रश्न राजनीतिक उद्देश्यो और सम्मेलनों के सम्बद्ध या असम्बद्ध होने का नहीं। लेखक होने के नाते अपनी अनुभूति की गहराई में जीवन के यथार्थ को पाने और उसे अभिव्यक्ति देकर सत्य का उद्घाटन करने का है।"(१)

इसी दृष्टि को सामने रखकर 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता' का भी मूल्यांकन कराने का प्रयास किया गया। इसमे 'हिन्दी कविता' प्रवृत्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन', 'हिन्दी कविता' प्रगतिशील 'हिन्दी कविता, प्रयोगशील' हिन्दी गीत कवित्त', 'हिन्दी कविता—प्रबन्ध काव्य' आदि महत्वपूर्ण हैं।

'हिन्दी कविता : प्रवृत्यात्मक विवेचन और मूल्यांकन' शीर्षक निबन्ध मे जगदीश गुप्त का कहना है कि "हिन्दी साहित्य में 'स्वतन्त्रता' जिस विधा मे सबसे अधिक प्रतिफलित हुई है वह है कविता, परन्तु यह प्रतिफलन वस्तु के स्तर पर उतना नहीं हुआ जितना काव्य के निहित 'रूप' तथा अभिव्यजंना शिल्प के स्तर पर।"(२)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हर क्षेत्र में एकात्म भाव से देश की सारी चेतना सहसा उठ खड़ी हुई और समस्याओं से मुकाबला करने के लिए तैयार हो गई। लेकिन जगदीश गुप्त का कहना है कि काव्य में ऐसा नहीं हुआ। उन्हीं के शब्दो मे "आन्तरिक—सांस्कृतिक क्षेत्र में रिक्तता, विघटन एवं विसंगति के स्वर ही अधिक सुनाई देते रहे हैं। कविता के भीतर पैठकर वही स्वर धीरे—धीरे आत्म मथन, उत्पीड़न, क्रान्ति, विद्रोह, व्यंग्य विद्रूप, अनास्था और विडम्बना की विचित्र अनुगूंजें पैदा करते रहे तथा कभी कभी ऐसा भी लगने लगा कि सहस्राब्दियों से जीवन को अखण्ड रूप से धारण और रक्षित किए रहने वाली आस्था, उदात्तता और स्वार्थ के घेरे को तोड़कर रहने वाली आस्था, व्यापक मानवीय हित की ओर बढ़ने वाली सहज सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही समाप्त होने जा

(१) पूर्णांक ३३ जून १६६५, पृ ७

(२) वही पृ ६५

रही है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि कवि–कर्म कठिन से कठिनतर होता गया। और कविता भी अपनी रंगात्मक शक्ति भर संघर्ष को झेलने लगी।"[१]

स्वातन्त्र्यात्तर हिन्दी प्रगतिशील कविता का मूल्यांकन करते हुए डॉ शिवकुमार मिश्र का अनुभव हुआ–"स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता का इतिहास अपने पूर्ववर्ती इतिहास को स्थिर रखते हुए, अधिक प्रशस्त लीकों पर आगे बढ़ने, कला और शिल्प की अधिक समुन्नत भूमियों का स्पर्श करने तथा लोकप्रियता के उच्चतर सोपानों तक सहज ही पहुँच सकने का इतिहास है इनको लगा कि प्रगतिशील आन्दोलन जैसा कोई आन्दोलन नहीं है। और न ही प्रगतिवाद जैसा कोई काव्य युग, परन्तु स्वातन्त्र्यात्तर काव्य सृजन इस तथ्य का साक्षी है कि प्रगतिशील चेतना तथा उससे संयुक्त काव्य रचना आज की विरल नहीं हो सकी है।"[२]

प्रगतिशील कवि की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए डॉ. शिवुकमार मिश्र कहते हैं कि, "प्रगतिशील कविता की स्वातन्त्र्योत्तर नई और सम्पन्न भूमिकाओं को सामने लाने में इस युग के अनेकानेक महत्वपूर्ण तथा लोकप्रिय कवियों का योग रहा है, जिन्होंने भावभूमि तथा शैली की भिन्नता के बावजूद अपनी कवि चेतना की प्रगतिशील तथा सामाजिक स्थानों को न केवल जीवित रखा है बल्कि उन्हें सर्जना का आधार भी बनाया है।"[३]

इन्होंने प्रगतिवादी कविता की सामाजिक यथार्थ दृष्टि सौन्दर्यबोध आदि की चर्चा करते हुए लिखा, "सामाजिक यथार्थ की चेतना प्रगतिशील कवि को जीवनाभिमुख बनाती है, परिवेश की सारी भयावहता, सारे तनावों के बावजूद उसे घुट–घुट कर मरने की ओर नहीं, प्रत्युत आशा, विश्वास और जीवन की सारी दिशाओं की ओर सक्रिय करती है जीवन के प्रति, मनुष्य तथा मानव समाज के नए भविष्य के प्रति प्रगतिशील कवि की निष्काम्य आस्था का यही स्रोत है। इस युग की प्रगतिशील कविता ने अस्पष्टताओं के घटाटोप में घिरी मानवतावाद की व्याख्याओं को भी नये आधार तथा स्तम्भ दिए हैं। प्रगतिशील कविता सच्ची मानवतावादी कविता है। यह मनुष्य के सचेतन व्यक्तित्व को प्रधानता देती है। इस कविता के केन्द्र में समूचे दुख–सुख के लिए एक सामाजिक मानव की ही मूर्ति प्रतिष्ठित है। यह किसी एक भूभाग की परिधिबद्ध नहीं, इसका क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है।"[४] और अन्त में डॉ. शिवकुमार मिश्र का निष्कर्ष है कि स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता के समूचे प्रसार को उसकी सारी मूलभूत विशेषताओं के साथ समेट सकने की ओर यह एक छोटा सा उदाहरण है। इस कविता की अपनी कुछ सीमाएं हैं, परन्तु महत्व सीमाओं का नहीं, उन सीमाओं के बावजूद की गई उपलब्धियों का है। इस भूमि पर प्रगतिशील कविता अपनी शेष सम्भावनाओं के साथ इस युग में, इस प्रकार अपना परिचय दे रही है, जैसे अभी–अभी उसका जन्म हुआ हो।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रयोगशील कविता का मूल्यांकन करते हुए डॉ. रमाशंकर

---

(१) *आलोचना पूर्णांक ३३, जून ६५, पृ. ६५*
(२) *वही पृ ७२*
(३) *वही पृ ६५ हिन्दी कविता —डॉ शिवकुमार मिश्र पृ ७४*
(४) *पूर्णांक ३३ जून ६५ पृ ७७*

मिश्र ने स्वीकार किया है, "स्वातन्त्र्योत्तर कविता में नये सौन्दर्य की व्याख्या की गई है। सत्य के निरीक्षण और परीक्षण में सौन्दर्य बोध के स्तरों को प्रभावित किया है। प्रयोगशील कविता सौन्दर्यबोध के नये धरातलों को स्पर्श तो करती ही है साथ ही उनकी सृष्टि भी करती है। प्रयोगशील कविता का धर्म–यथार्थ के विराटत्व के प्रति आस्थावान है। जीवन के सत्यों का अन्वेषण करते हुए इस काव्य में जीवन की विराटता सहज ही समन्वित हो गई है। यदि व्यष्टि चेतन की अभिव्यंजना की जाती तो 'आत्म–केन्द्रीय करण' का एक नया गतिरोध उत्पन्न हो सकता था। किन्तु इस धारा में संवदनशीलता की अतिशयता के कारण जीवन मूल्यों के वास्तविक स्वरूपों के दर्शन होने लगते हैं। यही प्रयोगशील कविता का वैशिष्ट्य है।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता के साथ नाटक, कथा साहित्य और सिद्धान्तो का भी मूल्यांकन किया गया है। इनमें 'हिन्दी उपन्यास और स्वप्न विश्लेषण डॉ. वीर रांगा, हिन्दी कहानी : नई प्रवृत्तियां और उपलब्धियां, नयी पीढी की उपलब्धियां, बारह नयी कहानियां, 'स्वतन्त्रता के पश्चात हिन्दी नाटक विकास की भूमिका 'डॉ. सुरेश अवस्थी, हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो नाटक' इत्यादि उल्लेखनीय निबन्ध है।

इन निबन्धों में पूर्ण विवेचन करते हुए उनके महत्वपूर्ण पक्षों को रेखांकित किया गया है। डॉ. बच्चन सिंह ने हिन्दी कहानी और उसकी प्रवृत्तियों को और उसकी उपलब्धियों को मूल्यांकित किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचन एवं सिद्धान्तों को भी विस्तृत रूप से देखा गया है। इनमें जो प्रमुख निबन्ध और लेखक छपे हैं उनमें–शिक्षा का स्वरूप, समाजवादी यथार्थवाद, रचना प्रक्रिया का प्रश्न, अस्तित्ववाद एक विश्लेषण, साहित्य की प्रगतिशीलता एवं प्रगतिशील साहित्य, आधुनिकता और लोकचेतना, नई कविता की भाषा, शब्द प्रयोग एक विहंगम दृष्टि, मार्क्सवादी कला दृष्टि और आधुनिक कविता और रस सिद्धान्त, सौन्दर्यशास्त्र के नए आयाम, परम्परा और प्रयोग, आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में, समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न इत्यादि हैं।

सौन्दर्य शास्त्र के नये आधार की चर्चा करते हुए कुमार विकल ने लिखा है–"सौन्दर्यशास्त्र के नये आधारों में इतिहास तथा समाजशास्त्र की भी गणना की जा कसती है। मार्क्सवादी समीक्षा–प्रणाली ने सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन में इन शास्त्रों का अच्छा उपयोग किया है। इनकी उपयोगिता इस तथ्य पर निर्भर है कि मानव चेतना के कुछ विशिष्ट सौन्दर्य शास्त्रीय संस्कारों और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों पर विशेष प्रकार के सामाजिक आर्थिक विकास का स्पष्ट प्रभाव है। मार्क्सवादी चिन्तन प्रणाली ने सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन के विकास में ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है।"[2]

इनका कहना है 'चाहे पाश्चात्य साहित्यकार या भारतीय साहित्यकार इन लोगों ने सौन्दर्य ज्ञान को एक परिधि में बांधकर रखा है जबकि चाहिए यह कि

(१) आलोचना पूर्णांक ३३, जून ६५, पृ. ८६

(१) आलोचना पूर्णांक ३३ जून ६५ प्रगतिवादी समीक्षा सीमा और पृ ५४

सौन्दर्यशास्त्र, अध्ययन को व्यावहारिक आलोचना के निकट लाकर एक स्वतन्त्र रूप दिया जाय। कुमरा विकल के शब्दों में–"हिजेल और क्रोचे जैसे पाश्चात्य तथा दासगुप्त कान्तिचन्द पाण्डेय और सुरेन्द्र बरलिंग जैसे भारतीय अध्येताओ ने सौन्दय शास्त्र का केवल सैद्धान्तिक निरूपण की सीमा में उपस्थित किया है और उस दार्शनिक परिधि म बाध रखा है जबकि सौन्दय शास्त्र का व्यावहारिक आलोचना क धरातल पर उतरना चाहिए।"(१)

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना में प्रगतिवादी समीक्षा सीमा और सम्भावना की चर्चा करते हुए डॉ. चन्द्र भूषण तिवारी ने स्पष्ट किया है "हिन्दी क प्रगतिशील समीक्षा कला तथा साहित्य सम्बन्धी उस वस्तुवादी दृष्टिकोण का परिणाम है, जो कला कृति को एक सामाजिक पदार्थ मानते हुए उसके विभिन्न सौन्दर्य पक्ष का विश्लेषण करता है–उसके आविर्भाव–मूलक कारणों से लेकर उसकी मूल्य विषयक क्षमता तक।"(२)

सौन्दर्य शास्त्र के विषय में चर्चा करने के क्रम में आजादी के कुछ ही पहले अपनी समीक्षात्मक कृति 'प्रगतिवाद' में श्री शिवदान सिंह चौहान ने स्पष्ट किया था कि, "प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक रचना किस युग की उपज है, सामंती या पंजूवादी– बल्कि उसके सामने यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य शक्ति का क्या कारण है, अर्थात वह रचना आज भी सौन्दर्य बोध कराने में क्यों सफल है ?"(३)

आजादी के तुरन्त बाद प्रगतिवादी समीक्षकों का ध्यान इस ओर गया कि साहित्य और कला के वास्तविक मानों का आलेख वर्तमान समीक्षा में बहुत कम है। फिर प्रगतिशील साहित्यकार 'प्रगतिशील साहित्य, प्रगतिवादी समीक्षा में रूप तत्व का महत्व, समाज का अन्तर्सम्बन्ध आदि पर विचार करने लगे। 'नयी समीक्षा पद्धति : सीमा और सम्भावना' शीर्षक निबन्ध में विश्वम्भर मानव ने नयी समीक्षा की उत्पत्ति और विकास पर प्रकाश डालते हुए लिखा, "हिन्दी में नयी समीक्षा प्रयोगवाद के साथ प्रारम्भ होती है। 'नयी कविता' प्रयोग वाद का ही दूसरा नाम है, अतः इस निकाय के उन समर्थकों को जिन्होंने उत्तर छायावाद काल में लिखना प्रारम्भ किया, नयी समीक्षा के लेखक समझना चाहिए। आलोचना मे एक प्रकार का, गतिरोध इन प्रयोगवादी समीक्षकों ने भी उत्पन्न किया है। प्रयोगवादी समीक्षा दलबद्ध लोगों की समीक्षा है और प्रगतिबादी समीक्षा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई है। सामान्य रूप से प्रयोगवाद के लेखक ही प्रयोगवाद की समीक्षक भी हैं। जो लोग रचनात्मक कार्य नहीं करते हैं वे भी अपने को समीक्षक ही समझते हैं।"(४)

विश्वम्भर मानव इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि नए समीक्षक केवल समकालीन साहित्य के आलोचक हैं। ये न तो पूरे हिन्दी–साहित्य को अपनी आलोचना का विषय बनाते हैं और न आलोचना की पूर्णता की ओर ही इनका ध्यान है। साहित्य के एक अंश की ये आलोचना करते हैं, उसके भी एक

(१) आलोचना पूर्णांक ३३, जून ६५, प्रगतिवादी समीक्षा सीमा और सम्भावना, पृ. ५४
(२) वही, पृ. १२५
(३) वही पृ १२४
(४) पूर्णांक ३३, जून ६५, पृ १२५

पक्ष की, और वह भी एक विशेष दृष्टिकोण से। ये लोग अपनी आलोचना मे विशेष शब्दावली का प्रयोग करते हैं और दूसरों की आलोचना को पसन्द नहीं करते हैं फिर दलबद्धता को बुरा नहीं मानते हैं।

नयी समीक्षा की उत्पत्ति के बारे में विश्वम्भर मानव का अभिमत है कि 'नयी समीक्षा का आरम्भ 'तारसप्तक' और उसकी भूमिका क प्रकाशन के साथ १९४३ से समझना चाहिए। श्री सच्चिदानन्द 'अज्ञेय' जैसे एक नई काव्य धारा के प्रवर्तक हैं वैसे ही एक नूतन समीक्षा प्रणाली के भी। इस काव्यधारा को 'प्रयोगवाद' और इस आलोचना पद्धति का 'नयी समीक्षा' कहते हैं।''[१]

शुरू–शुरू मे नयी समीक्षा पर छायावाद का प्रभाव भी देखा गया, लेकिन बाद में इन्होंने अपने आप को इससे जल्द ही मुक्त कर लिया! प्रारम्भ में ये प्रगतिवाद के भी प्रशसक थे। प्रयोगवाद फ्रायडवाद पर आधारित अन्तःचेतनावादी प्रवृत्तियों का समर्थक है और नई समीक्षा इस वाद की प्रचारक। इस प्रकार प्रयोगवाद और प्रगतिवाद दो विरोधी वाद हैं, प्रगतिवादी समीक्षा और नई समीक्षा दो विरोधी समीक्षा पद्धतियां। डॉ. विश्वम्भर मानव ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है–''नई कविता का जन्म प्रयोगवादी काव्य के विश्लेषण–विवेचन और मूल्यांकन के लिए हुआ है। वैसे होना तो चाहिए था इसका नाम प्रयोगवादी समीक्षा, पर क्योंकि प्रयोगवादी काव्य ने बहुत से आक्षेपों से बचने के लिए अपना नाम अब नई कविता रख लिया है। उसी तरह से प्रयोगवादी समीक्षा भी नई कविता।''[२]

इन उपर्युक्त निबन्धों, सिद्धान्तों के पश्चात शिवदान सिंह चौहान ने अपने इस सम्पादन काल में--विश्व साहित्य और उसके कुछ विशेष साहित्यकारो को भी नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। जिनमें कुछ प्रमुख निबन्ध निम्नलिखित हैं–सार्त्र हेमिंग्वे, कामू, शेक्सपियर, राबर्ट फ्रास्ट और ब्रेख्त आदि की काव्यगत उपलब्धियों के भीतर से उनके योरोपीय साहित्य का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया गया। सार्त्र की कला (प्रकाश चन्द गुप्त), लैटिन उच्च अमेरिका में साहित्य और कला विकास (प्रो. लाजपतराय), हेमिंग्वे की कला (प्रकाश चन्द गुप्त), कायू की कला (प्रकाशचन्द गुप्त), शेक्सपियर और मानव प्रकृति (ऐग्नेस हेलर), अंग्रेजी कविता : दिशा संकेत (सकल दीप सिंह), अमेरीकी कवि राबर्ट फास्ट (सलाम मछली शहर), ब्रेख्त : आधुनिक यूरोपिय साहित्य का एक महान व्यक्तित्व (सुधा महेश्वरी) इत्यादि।

पुनर्मूल्यांकन

इसके पश्चात एक और महत्वपूर्ण कार्य इन्होंने किया कि ये परिप्रेक्ष्य, समय परिवर्तन के साथ साहित्य और साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों में पहले की चर्चित रचनाओं का पुनर्मूल्यांकन करना उपयोगी लगा। उन्हीं रचनाओं को इसमें स्थान दिया गया जो अपने समय में किन्ही कारणों से चर्चित एवं विवादास्पद रही थी।

स्वातन्त्र्योत्तर काल की श्रेष्ठ कृतियों के पुनर्मूल्यांकन के अन्तर्गत पंत

१ आलोचना पूर्णांक ३३, जून ६५, पृ. १३६

(२) पूर्णांक ३३ जून ६५, पृ २३०

जी द्वारा रचित महाकाव्य 'लोकायतन' का मूल्यांकन इलाचन्द जोशी ने किया है। 'लोकायतन' हिन्दी के मध्य युगीन और आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा के साथ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और नवीनतम कडी के रूप मे जुडकर हमारे सामने आता है। इस महाकाव्य की विशिष्टता का एक कारण यह है कि इसमे पंत जी का जीवन व्यापी साधना एक ऊँच धरातल पर उभरकर समग्र युग क बिखराव का समेटती और संजोती हुई, अपनी सिद्धि को महाकाव्य क परिप्रेक्ष्य म लाकर खडा कर देती है। इलाचन्द्र जोशी न इस महाकवि एव उनक इस काव्य की विशषताओं का रखांकित किया "कोइ विरला महाकवि ही व्यापक विहगावलोकन क उच्च बिन्दु पर खडा होने का साहस कर सकता है जहाँ स काल क बडे–बडे की झांकी विस्तार से देखी जा सकती है। उसी बिन्दु स, उन्ही महाकाल खण्डों के बीच कुलबुलाता हुआ वर्तमान युग, अपन ह्रास और विघटन की पूरी प्रक्रियाओं के साथ महासागर के बीच एक छोटे से दीप की तरह तैरता हुआ, अपने वास्तविक रूप में दिखाई दे सकता है।

'लोकायतन' का कवि उसी उच्च बिन्दु पर खडा है। वहीं से यह युग–युग से स्पंदित भारतीय मानस का मंथन करता हुआ, वर्तमान युग की विघटित परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण और विश्लेषण के साथ ही, भावी युगो के अधिमानस के पूर्ण विकसति रूप की मांगलिक झाँकी प्रस्तुत करता है।"[१]

इलाचन्द जोशी वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए ऐसे महाकाव्यों के पुनर्मूल्यांकन पर बल देते हुए कहते हैं, "लोकायतन' के कवि का जीवन–दर्शन कल्पना की उदारता में विशाल और भावों की गहराई में अतल व्यापी है। उसकी इस विराट दार्शनिक योजना में सभी युगों का चिन्तन समाहित है, परस्पर विरोधी लगने वाले सभी दार्शनिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक मतवाद उसमें घुलमिलकर, रहस्यमयी रासायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप, एक सुगन्धित सुन्दर और अति यथार्थ महादर्शन का निखरा हुआ रूप प्रस्तुत करते हैं।"[२]

इसी प्रकार से 'चांद का मुँह टेढ़ा है' का पुनर्मूल्यांकन करते हुए विष्णु चन्द शर्मा ने लिखा, "तीव्र संवेदना में मुक्ति बोध दैनिक जीवन के तथ्यों की अपूर्णता की परीक्षा लिया करते हैं। दैनिक अपूर्णता के ज्ञान, संवेदना के वे विवेकी यात्री हैं। अपनी विशाल दृष्टि से वे अभ्यन्तर के विराट जीवन बिम्बों की रचना करते हैं। ये बिम्ब विवेक का बहता रस या आत्मा का प्रतीक सूर्य हैं उसका अभ्यन्तर विराट हैं उसमें परम्परा के अग्नि, सरोवर, पृथ्वी, सूर्य, ब्रह्म राक्षस सब हैं। ये ही उनके बिम्ब हैं। मुक्तिबोध रोजमर्रा के यथार्थ को ही चित्रित नहीं करते हैं। वे यथार्थ की अपूर्णता को ही अपनी सर्वथा निजी अपूर्णता समझते हैं।"[३]

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में एक 'लिरिज्म' है, एक यथार्थ प्रवण रूमानी किस्म की कल्पनाशीलता है, एक आवेश है और अन्त में आत्मालोचन है। वे यह मानकर चलते थे कि 'चेतना को अधिकाधिक यथार्थ संगत बनाने के लिए, अतिशय संवेदनशील, जिज्ञासु तथा आत्म निरपेक्ष मन की आवश्यकता होती है।

---

(१) आलोचना पूर्णांक ३३, जून ६५, पृ. १६५
(२) वही पृ १६६
(३) वही पृ १६८

मुक्ति की रचना प्रक्रिया का यही मर्म है। ये प्रबुद्ध और सक्रिय जीवन की नवीन विराट अनुभूति के जीवंत कवि हैं और वही संयत, विराट, नव्य–काव्य हमारे सामने है, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में।"[१]

इसी क्रम में चित्रलेखा एक पुनर्मूल्याकन करते हुए चन्द्रकांत बादिबडेकर लिखते हैं, "चित्रलेखा एक बहुचर्चित उपन्यास है और हिन्दी उपन्यासो की विकास रेखा में इस महत्वपूर्ण बिन्दु की उपेक्षा प्रायः नहीं की जा सकती। हिन्दी आलोचना की यह एक कमी है कि आलोचना जितनी कलाकृति की समस्या एव सामाजिक, आर्थिक परिवेश को लेकर की जाती है, उतनी कलात्मक मूल्यों को लेकर नहीं की जाती। फलतः किसी उपन्यास को उसके कला वाहय मूल्यों के कारण अत्यधिक महत्व दिया जाता है। अथवा किसी सुन्दर उपन्यास की उपेक्षा भी हो जाती है।"[२]

इस उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव की चर्चा करते हुए बाडिवडेकर जी ने लिखा है, "यह कृति अनासोले फ्रांस की 'थामा' से कितनी प्रभावित है, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु पाश्चात्य विचारों का प्रभाव लेखक ने आत्मसात् अवश्य किया है। यह दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–श्वेतांक और यशोधरा का सहयोजन, हाथ पकड़कर बोलना, नाव पर घूमने जाना, काशी यात्रा से लौटने के पूर्व बाजार जाकर चीजों को खरीदना, वाटिका में यशोधरा के साथ बीजगुप्त का भ्रमण, पर्यटन, जलयान की प्रतीक्षा आदि बातों को पढ़ते समय यह अवश्य लगता है कि यह समय चन्द्रगुप्त मौर्य का समय नहीं होगा। कहीं लेखक अतिसामयिक वस्तु को पौराणिक रूप तो नहीं दे रहा है ?"[३]

इन कृतियों के पश्चात कुछ और भी महत्वपूर्ण कृतियों का मूल्यांकन कर उसके महत्व को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार शिवदान सिंह चौहान ने अपने पुनर्सम्पादकत्व में 'आलोचना' पत्रिका को विचारधारात्मक संघर्ष का माध्यम बनाया और यथार्थवादी साहित्य के मूल्यांकन की समस्याओं पर विभिन्न विद्वानों के लेखों को प्रकाशित कर हिन्दी आलोचना को नयी दिशा प्रदान की। उन्होंने महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों का पुनर्मूल्यांकन कराकर उन पर नये सिरे से विचार करने का मार्ग प्रशस्त किया। हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों पर समीक्षात्मक लेख प्रकाशित करके शिवदान सिंह चौहान ने उनके मूल्यांकन की ठोस भूमि तैयार की।

---

(१) आलोचना पूर्णांक ३३, जून ६५, पृ. २१०
(२) आलोचना पूर्णांक ३६ दिसम्बर ६६ पृ १३२
(३) वही पृ १४५

तृतीय अध्याय

आलोचना पत्रिका के नये सम्पादक और उनकी आलोचना दृष्टि

आलोचना पत्रिका के नए सम्पादक-

पत्रिका के पाँचवें वर्ष के दूसरे अंक से सम्पादक का गुरुत्तर दायित्व आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी को सौंपा गया। 'आलोचना' के सम्पादकों में दो बार परिवर्तन पहले ही किया जा चुका है, यह तीसरा पविर्तन है। यह परिवर्तन निश्चित रूप से इस बात का द्योतक है कि 'आलोचना' पत्रिका के रूप को संवार कर और प्रखर किया जाये ताकि अपने असली रूप को पा सके। जिसकी कल्पना पहले से ही की गई है। इसके पूर्व डॉ. धर्मवीर भारती, ब्रजेश्वर वर्मा, विजयदेव नारायण साही, एवं डॉ. रघुवंश तथा सहकारी सम्पादक क्षेमचन्द 'सुमन' थे। कई लोगों के हाथों में होने के कारण न केवल लेखों निबन्धों एवं अन्य प्रकाशनार्थ एकत्र सामग्री को एक निश्चित दिशा देने में परेशानी होती होगी, बल्कि सम्पादकीय लेखों को सम्पादित करने में भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा। यह बात भी सुस्पष्ट है कि चारो लोग साहित्य के भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण को मानने वाले थे। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए किसी एक व्यक्ति के हाथों इस कार्य को सौंपा गया। साथ ही इस निर्णय का एक कारण यह भी होगा कि आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी स्पष्ट आलोचना दृष्टि सम्पन्न समीक्षक थे जिसमें किसी उहापोह की स्थिति की सम्भावना नहीं थी।

सम्पादकीय वक्तव्य

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने पहले ही सम्पादकीय में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया। पत्रिका के उद्देश्य को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं कि 'पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी साहित्य के विकास का करले

वाली जो पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं उनमें 'आलोचना' का विशिष्ट महत्व है।' इसके सम्पादको में परिवर्तन होता आया है लेकिन इसके लेख सामग्री सम्पादकीय स्तर नीचे नहीं उतरा। विशेषांको का तो बहुत ही जोरदार ढंग से स्वागत हुआ। यह पहला अंक अपेक्षाकृत देर से प्रकाशित होने का कारण मनोनुकूल सामग्री न होना है। आगामी अंक व्यवस्थित एवं नियमित प्रकाशित होंगे मेरा पूर्ण विश्वास है।''[१]

'आलोचना' मे रचनात्मक कृतियाँ न होने के कारण इसे सार्वजनिक बनाने का हमारा लक्ष्य है। हिन्दी साहित्य स्तर पर लेखकों पाठकों के एक राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता है। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति करना हमारा लक्ष्य है।

आज हिन्दी के समीक्षा क्षेत्र में प्रचलित अनेक वादों पर अपना विचार व्यक्त करते हुए आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने कहा–''छोटे–छोटे गिरोह बनने की आशंका स्वतंत्र रचनाकारों, कवियों, लेखकों के मार्ग में बाधा भी रही है। रचना और आलोचना के बीच सन्तुलन आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना निमार्णकारी प्रतिभा कुंठित होती है। 'आलोचना' के द्वारा विभिन्न वादो में विभेद की अपेक्षा पारस्परिक समानता की ओर ज्यादे बल होगा।

आज के साहित्यकार जटिल प्रश्नों की सृष्टि कर रहे हैं जिससे कि लेखक की मनोवृत्ति, मानसिक स्थिति और उसके आशय को समझने में पाठक को परेशानी होती है। 'आलोचना' द्वारा सम्यक साहित्यिक बोध देना हमारा कार्य होगा। हम किसी साहित्यिक कृति में कोई ऐसी वस्तु नहीं देखेंगे जो उसमें नहीं है। साहित्यिक आपाधापी के कुघातक परिणाम से बचने एवं दूरवर्ती लक्ष्य के रूप में कार्य सदैव सामने रखेंगे।

'आलोचना' प्राचीन साहित्य को नये परिप्रेक्ष्य में भी देखने का प्रयास करेगी। जिससे कि राष्ट्र के वर्तमान संक्रान्ति काल में प्राचीन और नवीन की एक सुसम्बद्ध शृंखला बढ़ी हुई देखना चाहते हैं।

आचार्य नन्द दुलारे जी ने अपने सम्पादकीय लेखों के माध्यम से 'नई कविता' पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा, ''हिन्दी की प्रौढ़ काव्य धारा से नये प्रयोगियों की रचना इतनी भिन्न हो गई है कि दोनों में किसी प्रकार का तारतम्य दे पाना कठिन है। ये सामान्य पाठक के किसी काम की नहीं, नवीनता के आधार पर सीमित और संकीर्ण होती जा रही है।''[२]

नई कही जाने वाली कविता की भाव सम्पत्ति की साधारणीकरण ने सदेह और विश्वास है ही नहीं बल्कि असामाजिक, लोकरुचि, आशा–आकाक्षा के प्रतिकूल और निजी वैयक्तिक है जिससे समाज भी उसकी समझ में आता नहीं। उन्होंने नई कविता के कवियों को अपना विचार देते हुए लिखा है कि–''नई कविता के उन्नायक यदि हिन्दी काव्य की संघर्षशील राष्ट्रीय परम्परा को कुछ भी महत्व देते हों तो उन्हे अपने रचना–क्षणो में अति संयम शालीनता और दायित्व का परिचय देना ही होगा।''[३]

---

(१) आलोचना पूर्णांक १८, अप्रैल ५६, पृ. १
(२) आलोचना पूर्णांक १८ अक्टूबर ५६ पृ ३
(३) वही पृ १३५

किसी साहित्य पर उस देश काल, परिवेश का बहुत बडा हाथ होता है। इसकी चर्चा करते हुए अपने सम्पादकीय में आचार्य वाजपेयी जी ने लेख लिखा है। सन १६४७ के राजनीतिक परिवर्तन के बाद देश में शीघ्रता से बडे–बडे परिवर्तन हुए। समग्र रूप से वे परिवर्तन देश को उन्नति की दिशा में ले गए। यद्यपि इनक साथ ही कुछ समस्याए भी उठी। पहल क कवि विदशी सरकार के आक्राश में दबे–दबे रचनाएं करते थे। मौलिक वैषम्य के विरोध में न ही ईमानदारी के साथ सोच और विचार कर सकते थे और न ही अपने विश्वासो को काव्य में उतार सकते थे। जिससे कृतियाँ राष्ट्रीय उपयोग से दूर होती जा रही हैं।

हर देश की तरह अपने देश में भी हिन्दी साहित्य मे लेखकों के संगठन की आवश्कयता पर बल देते हुए अपने सम्पादकीय लख म इस विचार को लोगों के सामने रखते हुए कहते हैं कि–"अनेक देशों में लेखकों के अपने राष्ट्रीय संगठन हैं। प्रतिवर्ष अथवा वर्ष में एक बार से अधिक बार उनके अधिवेशन में अपने लेखा–जोखा लगाते हैं। इस तरह के संगठन की आवश्यकता हिन्दी साहित्य में अप्रत्याशित परिवर्तन ला सकेगा और नई संजीवनी शक्ति द्वारा अपने प्रश्नों का निराकरण कर सकेगा।"(१)

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने अपने सम्पादकीय 'प्रगति और पुर्णांक २३ में इस बात को स्पष्ट किया है कि "पिछले दो दशकों के हिन्दी साहित्य की समग्र प्रगति पर दृष्टिपात करते रहे है और आगे के अंकों में भी एक–एक साहित्य रूप को लेकर विस्तार के साथ–साथ पृथक–पृथक चर्चा करने का अवसर हमें मिलेगा।"(२)

इस 'पृथक–पृथक' में इन्होंने गिनाया कि आलोचना इसके बाद कविता नाटक और उन्यास को क्रमशः विशेषांकों के माध्यम से देखेंगे परन्तु इनके सम्पादन समय का दूसरा ही अंक नाटक विशेषांक, सातवाँ तथा आठवाँ अंक काव्यालोचन विशेषांक एवं काव्यालोचन शेषांक के रूप में निकला। जिस क्रम की घोषणा अपने सम्पादकीय मे की थी वह क्रम पूरा भी नहीं हुआ, तब तक इनका कार्य काल समाप्त हो गया।

आचार्य वाजपेयी ने अपने सम्पादकीय वक्तव्यों के माध्यम से नई कविता, समीक्षा के मानदण्ड, सिद्धान्तों की प्रगति, वादों का विरोध, आधुनिक काव्य चिन्तन पर स्पष्ट रूप से अपना विचार प्रकट किया। आचार्य वाजपेयी साहित्य में 'वाद' के कट्टर विरोधी थे। इनका मत है कि साहित्य ठीक अपनी नई दिशा में जा रहा था तभी वादों के पक्षधरों ने आकर साहित्य को एकांगी बना दिया। उन्हीं के शब्दों में,

"जब साहित्य–दृष्टि इस नई दिशा में अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी और अपनी स्वाभाविक परिणति भी प्राप्त करती, तब सहसा नये वादो का नारा लेकर बहुत से नये चिन्तक क्षेत्र में गए। काव्य रचना में 'आदेशों का प्रभाव बढ़ने लगा और कविता फिर से एकांगी आग्रहों की परिचारिका बन गई।

(१) आलोचना पूर्णांक २१- जनवरी ५७- पृ- ३
(२) वही पूर्णांक 23 जुलाई ५७ पृ १३५

ये और बात है कि जिन 'वादों' का प्रचलन हुआ ये सभी विदेशी 'वाद' हैं।"(१)

आचार्य वाजपेयी जी अपनी आशंका प्रकट करते हुए लिखते हैं कि "आज पश्चिम की तरह हिन्दी में भी वाद–बहुलता का युग आया जान पडता है। यथार्थवाद, प्रगतिवाद, अति यथार्थवाद, प्रतीकवाद, आदि के नाम से यहाँ बहुत प्रचलित है परन्तु उन सभी प्रवृत्तियों में अगर वास्तविक स्रोत का विकास नही हुआ तो ये सब सिद्धान्त मात्र कोरी वस्तु ही बन कर रह जायेंगी।"(२)

प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने 'आलोचना' के कुल ६ अंकों का सम्पादन किया। इन्होंने अपने पहले ही सम्पादकीय वक्तव्य में पत्रिका के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहा था कि, "आलोचना' पत्रिका को सार्वजनिक बनाने एव हिन्दी साहित्य स्तर पर लेखकों/पाठकों के एक राष्ट्र व्यापी संगठन की आवश्यकता है। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा इस उद्‌देश्य की पूर्ति करना हमारा लक्ष्य है।"(३)

पत्रिका को सार्वजनिक' बनाने के लिए ही इन्होंने हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। इसमें आदिकालीन मध्यकालीन आधुनिक एवं पाश्चात्य सभी लेखकों पर व्यक्तिगत रूप में निबन्ध प्रकाशित कर उनका मूल्यांकन करने का उपक्रम किया गया। इसमें कालिदास, वाल्मीकि, रवीन्द्र नाथ, तुलसीदास, वर्डसवर्थ, शेली, गेटे इत्यादि प्रमुख है। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, दिनकर, अज्ञेय एव अचल आदि आधुनिक कवियों पर नये ढंग से विचार करने का प्रयत्न किया गया है।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने उस समय नई काव्य चेतना के विश्लेषण और नयी कविता के मूल्यांकन की ओर विशेष ध्यान दिया, इसके लिए उन्होने उस समय के चर्चित प्रतिष्ठित विद्वानों एवं समीक्षकों से समीक्षात्मक एव सैद्धान्तिक लेख लिखवाये।

कविता विषयक लेख

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने सम्पादकीय में भी इस बात पर बल दिया है कि कविता पर हमारा विशेष ध्यान केन्द्रित होगा। नई कविता की प्रवृत्तियो के मूल्यांकन हेतु 'नई कविता प्रभावों की परीक्षा, नई कविता प्रयोग की समस्या नई कविता एक प्रश्न, आदि प्रमुख लेखों को प्रकाशित किया। स्वयं सम्पादकीय लेख में नई कविता पर अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि, "हिन्दी की प्रौढ़ काव्य धारा से नये प्रयोगियों की रचना इतनी भिन्न हो गई है कि दोनो मे किसी प्रकार का तारतम्य दे पाना कठिन है। ये सामान्य पाठक के किसी काम की नहीं, नवीनता के आधार पर सीमित और संकीर्ण होती जा रही है।"(४)

---

(१) आलोचना पूर्णांक २५, जनवरी ५६, पृ. ३
(२) आलोचना पूर्णांक २६, अप्रैल ५६, पृ. २
(३) आलोचना पूर्णांक १८, अप्रैल ५६, पृ. २
(४) पूर्णांक २० अक्टूबर ५६ पृ २

छन्द के स्थान पर लय की चर्चा प्रयोगवादी विचारक अवश्य करते है परन्तु छन्द का बहिष्कार करके लय की उपयोगिता बताना एक विचित्र अन्तर्विरोध का परिणाम है। जब नये प्रकार की काव्य शैली प्रचलित हुई तो ये अपने काव्य का मर्म बताने के लिए आलोचक भी बन गए और काव्यगत मूल्य बताने के लिए अपना ही उदाहरण लेते रहे। इनका यह भी मानना है कि नई कही जाने वाली कविता की भाव सम्पत्ति के साधारणीकरण में इतना संदेह और अविश्वास है कि नहीं बल्कि असामाजिक, लोकरुचि, आशा, आकांक्षा के प्रतिकूल और निजी या वैयक्तिक है जिससे समाज के समझ में आता ही नहीं है।

आचार्य वाजपेयी जी ने हिन्दी के रचनाकारों को सलाह देते हुए लिखा है, "नई कविता के उन्नायक यदि हिन्दी काव्य की संघर्षशील राष्ट्रीय परम्परा को कुछ भी मूल्य या महत्व देते हों तो उन्हें अपने रचना–क्षणों में अति संयम शालीनता और दायित्व का परिचय देना होगा।"(१)

आचार्य वाजपेयी जी का यह मत है कि कविता ऐसी होनी चाहिए कि सर्वसाधारण को समझ में आ जाय, "तथा कथित नई कविता में बुद्धिरस का बाहुल्य है, इसीलिए कविता की यह नई धारा साहित्यकों के लिए अटपटी और आग्राह्य बनी हुई है।"(२)

प्रस्तुत प्रश्न शीर्षक के अन्तर्गत नई कविता की दो समीक्षाएं प्रकाशित की गई। इसमें क्रमशः ब्रजलाल वर्मा एवं प्रताप सिंह चौहान ने अपने अपने विचार प्रकट किये हैं। इसमें नई कविता के हर पहलू पर विस्तृत रूप से विचार विमर्श किया गया है। ब्रजलाल वर्मा नई कविता पर व्यंग्य करते हुए कहते है कि 'नई कविता' के नाम से इधर एक विशिष्ट शैली और 'स्कूल' की काव्य कृति को पुकारा जाने लगा है। और अब शायद यह कहना अनावश्यक है कि सभी सामयिक अथवा आधुनिक कविता नई होते हुए भी नई कविता नहीं है। 'नई कविता' नाम परिवर्तन पर आवेश करते हुए वे कहते है, "आधुनिक कविता के इतिहास का कोई भी पर्यवेक्षक इसी यथार्थ को स्वीकार करेगा कि नई कविता ने पिछले पच्चीस वर्षों में अपने तीन नाम बदले हैं। सबसे पहला नाम था प्रगतिवाद, दूसरा नाम था प्रयोगवाद और तीसरा नाम है--नई कविता। ध्यान रहे कि नई कविता के आज के पोषक नामों की इस परम्परा को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। नाम क्या ? वे नई कविता तथा प्रगतिवाद में कोई संसर्ग भी तैयार करने को तैयार नहीं और हम तो नई कविता को प्रयोगवाद भी कहते घबराते हैं क्योंकि इस दिशा में 'अप्रैय' के विधि निषेध पहले से ही निर्धारित हैं– वे कहते हैं–'प्रयोग का वाद नहीं हम वादी नहीं रहे, नही हैं। न प्रयोग अपने में इष्ट या साध्य है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।"(३)

नई कविता के शिल्पविधान रूप और अनुभूति, आदि पर अपना विचार व्यक्त करते हुए प्रभाकर माचवे ने कहा है, "सहसा यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी के कवि क्या पढ़ते हैं ? उनका अध्ययन कितना गहरा है, कितनी भाषाओं का

---

(१) आलोचना पूर्णांक २०, अक्टूबर ५६, पृ. ३
(२) वही, पृ. ४
(३) आलोचना पूर्णांक २० अक्टूबर ५६ पृ ६५

है ? कितने विषयों का है, वाग्वैदग्ध्य का उनके पास क्या मूल्य है ? क्या संगीत को शब्दार्थ से वे असम्पृक्त मानते है ? उनमें अनुभूति की सच्चाई कितनी है ? आलोचकों को कवियों की महानता का बिल्ला चिपकाने की इतनी जल्दी क्यों है ? उन पर प्रभाकर कितने हैं, किनके है, कैसे हैं ? आधुनिक कविता में गूँज कितनी है, अनुगूँज कितनी है ?''(१)

ब्रजलाल वर्मा ने अपनी समीक्षात्मक टिप्पणी में कहा है कि नई कविता शायद समालोचकों के कठोर अनुशासन एव नियन्त्रण से बचते रहने के लिए अपना नाम और रूप बदलती रही। ये पूछते हैं कि फिर नई कविता की यह परिवर्तन परम्परा पकड़ में कैसे आई ? इसका उत्तर भी सरल ही है। नाम रूप का परिर्वतन संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, नाम रूप के बदलने पर भी स्वभाव, संस्कार, और आचरण में कोई अन्तर नहीं आता।''(२)

नई कविता का व्यापक विरोध होते हुए वह अपना पैर जमाने में सफल हुई। जगदीश गुप्त इस विरोध को स्वीकारते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार छायावाद को अपने आरम्भ के काल में बड़ा विरोध का सामना करना पडा किन्तु अन्ततोगत्वा अपनी जड़ जमा गई, उसी प्रकार नई कविता के प्रारम्भ मे उठने वाले विवाद एक दिन क्षीण हो जायेंगे, और नई कविता व्यापक प्रतिष्ठा की अधिकारिणी हो सकेगी।

नई कविता के कर्णधारों ने अंग्रेजी समालोचकों की भाँति ही स्वच्छन्दतावादी तथा छायावादी धाराओं को मृत एवं व्यतीत मानने में ही नई कविता का गौरव समझा। बालकृष्ण राव के शब्दों में, ''यह दूसरी बात है कि पुरानी कविता शनै शनैः सामान बाँधकर जाने की तैयारी में लगी हुई है और नई कविता अपना घर जमा रही है।''

उपर्युक्त धारणाओं के स्पष्टीकरण में जगदीश गुप्त ने नई कविता की बौद्धिकता एवं विशेषता पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा कि ''नई कविता' युग की नई चेतना से उत्पन्न हुई है और बौद्धिकता की छाया में विकसित हो रही है, अतः उसमें अन्तर्निहित आलोचनात्मकता मिलती है। यथार्थ चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग्य तथा शैलीगत वैचित्र्य एवं नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक विधान आदि नई कविता की विशेषताएं हैं।''(३)

नई कविता पर अपनी मान्यताओं को मानो ज्ञापित करते हुए जगदीश गुप्त ने फिर लिखा, ''नई कविता आकर्षण को ही नहीं विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर कर देना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम, सताती अधिक है, कहते हैं सताए जाने में भी एक मजा होता है। कभी-कभी तो वह जीवन के भयानक तथ्यों की ओर संकेत करके हमें सहमा देती है-उन तथ्यों की ओर जिनको हम सहज रूप में शायद कभी नहीं देख पाते।''(४)

'नई कविता' की समीक्षा लिखते हुए प्रताप सिंह चौहान लिखते है,

---

(१) आलोचना पूर्णांक २०, अक्टूबर ५६, पृ. ६६
(२) आलोचना पूर्णांक २० अक्टूबर ५६ पृ ६५
(३) पूर्णांक [illegible] अप्रैल ५३ पृ ५[illegible]
(४) वही पृ ३०

'आज का प्रयोगवादी कवि अपनी भाषा, अलंकार तथा छन्दों के प्रयोग में इतना व्यस्त है कि उसे अपने बाहर की दुनिया की कुछ भी परवाह नहीं है। वह प्राय शरीर को ही आत्मा मान बैठा है। अतएव उसकी इस प्रकार की घोर वैयक्तिक तथा समाज निरपेक्ष रचनाओं का भविष्य कितना उज्जवल है अधिक सोचने समझने की बात नहीं है।"[1]

ब्रजलाल वर्मा ने नई कविता की कमियो पर अपना दृष्टिकोण विस्तृत रूप से प्रकट किया है, उनका कहना है कि "प्रयोगवादी प्रगतिवादी नई कवितावादी बे–सिर–पैर के अनर्गल प्रसंगों की अवधारणा, प्रचलित शब्दावली स्वच्छन्द एव निरस शैली में करने लगे। पाठक न समझ पाया इनकी कविता को.... वह कविता के दुरूह और दुर्ललित होने, का उपालम्भ प्रस्तुत करने लगा। इन कवियों ने दुरूहता और दुर्लालित्य के निवारण के लिए दो बातें कहीं –जिनमें एक शिकायत थी, दूसरा आश्वासन।

१ : पाठक तुम्हारी समझ में फेर है, अपनी समझ दुरुस्त करो तब नई कविता समझ सकोगे।

२ : नई कविता सुनने समझने का अभ्यास नहीं हुआ है। धैर्य धारण करो कुछ समय में समझ में आने लगेगा।"[2]

ब्रजलाल वर्मा ने नई कविता को समझने के लिए १५ सूत्र दिये है जिससे कि पाठक को नई कविता को समझने में सुविधा होगी। वे नई कविता के सामान्य लक्षणों को गिना रहे हैं जो निम्नलिखित हैं–

१ : नई कविता के शीर्षस्थ नेता जिस कविता को नई कविता कहते हैं वही नई कविता है।

२ : जहाँ कविता स्वच्छन्द न हो, स्वच्छन्द हो वहीं नई कविता है।

३ : जो कविता नई कविता के किसी संकलन में प्रकाशिता हो वह नई कविता है।

४ : जिसके शब्द में लय और तुक न हो प्रत्युत वर्ण मात्रा में ही लय और तुक हो वह नई कविता है अथवा यों कहें कि जिसमें शब्द संगीत न होकर वर्ण संगीत हो वह नई कविता है।

५ : जो भक्ति कालीन, रीति कालीन तथा आधुनिक कालीन (विशेष रूप से छायावादी) काव्य धारा के प्रतिरोधी स्परूप में हो वह भी नई कविता है।

६ : जिसमें 'मानव हृदय के भावों और विचारों का तारतम्य पूर्ण नहीं, वरन् विकल एवं टूटाफूटा वर्णन हो, आशय यह कि हृदयगत भावों का क्रम से वर्णन न हो, बीच–बीच में भावों को छोड़ दिया गया हो और रिक्त भाव –स्थान की पूति पाठक को स्वयं करनी पड़े वह नई कविता है।

७ : जिसमें पुराने शब्दों के नये अर्थ, पुराने अर्थों के लिए नये शब्द तथा नवीन अर्थ के लिए नवनिर्मित शब्दों का प्रयोग हो वह नई कविता है।

८ : जिसमें फ्रायड के काम शास्त्र की सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक और अडलर अंग के व्यावहारिक नहीं, सैद्धान्तिक विचारों की व्याख्या हो वह

---

(१) आलोचना पूर्णांक २० अक्टूबर ५६ पृ ६०
(२) पूर्णांक २४ अक्टूबर ५७ पृ ४०

नई कविता है।

६ : जिसके ६० प्रतिशत आशय को पाठक न समझ पावे, वह १० प्रतिशत ही आशय पकड सके तथा जिसका आशय उसका रचयिता कवि ही ठीक–ठीक समझ सके वह नई कविता है।

१० घिसे पिटे, सौन्दर्य बोध, सचयन, मुलम्मा, परिवेश, चतन, अवचेतन,उपचेतन मनः स्थिति, पूर्वग्रह, बिम्ब, संवेदन, शिल्प, रूढि, अर्थ–लय, प्रयोग, युग सत्य, कुण्ठा, काव्य, प्रक्रिया, सवेग, अनगढ आदि शब्द नई कविता के शक्ल के पारिभाषिक शब्द हैं। ये शब्द जहाँ आवे वहाँ नई कविता का कुछ न कुछ ससर्ग अवश्य होता है।

११ . जिसमे उक्ति वैचित्र्य के स्थान पर शब्द का प्रयोग वैयित्र्य हो, बौद्धिक जटिलता हो, भाव का हृदय से कुछ भी सम्बन्ध न हो, बुद्धि ही सारा काम कर रही हो, वह नई कविता है।

१२ : जिसमें प्राचीन रस– निष्पत्ति और साधारणी करण के सारे सिद्धान्त असिद्ध ठहरते हों अथवा वर्णन ऐसा हो कि रस सिद्धान्त की सारी शास्त्रीयता असंगत प्रतीत होने लगे वह नई कविता है।

१३ : अंग्रेजी की नई कविता के कवियों–जैसे टी ए इलियट, एजरा पाउण्ड ह्विट मैन, प्रभूति कवियों की परम्परा और शैली की छाया जहाँ हो वह नई कविता है।

१४ : नयी कविता के प्रचार तथा प्राचीन काव्य के धिक्कार में जहाँ कहीं कुछ मिल जाय वह नयी कविता है।

१५ : युग का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का नहीं, जीवन–खण्ड का नहीं, जहाँ केवल किसी 'क्षण' की या क्षणिक 'मूड' की अवतारणा हो वह नई कविता है।

इस प्रकार १५ सूत्रों को कंठस्थ कर लेने से पाठक यह जान लेगा कि यह नई कविता है अथवा नहीं।"[१]

अन्त में वे कवियों से निवेदन करते हुए मानव की मूल सौन्दर्य बोध वृत्तियों को बनाये रखने के लिए कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "हम तो नये कवि से कहेंगे कि मानव की मूल सौन्दर्य–बोध वृत्तियों में किसी प्रकार पविर्तन नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें बदलने का प्रयास व्यर्थ रहेगा। मानव–हृदय की चेतना उज्जवलित करने वाले तत्वों का कविता में समावेश होता रहे तो कविता रहेगी अन्यथा एक बुद्धि विलास मात्र होकर वह अपना स्वाभाविक स्परूप खो बैठेगी।"[२]

इस प्रकार जो नई कविता के सम्बन्ध में आलोचना प्रत्यालोचना होती रही उससे पाठकों साहित्यकारों को नई कविता को समझने, परखने में मदद मिली। उल्लेखनीय है कि नई कविता समर्थक आलोचकों ने उसके समर्थन मे केवल सतही उत्साह नहीं दिया बल्कि उसकी चेतना को समझने के लिए नये काव्य मूल्यों और मानदण्डों को भी रेखांकित किया है। इससे हिन्दी समीक्षा ने कविता के मूल्याकन के नई शब्दावली समाविष्ट हुई। नई कविता का मूल्यांकन करते समय लोगो का ध्यान अर्थ की लय बौद्धिकता जैसे नये

१) २४ अक्टूबर ५७ पृ ४२

काव्य मूल्यों की ओर आकृष्ट हुआ। समर्थन के साथ ही नयी कविता के विरोध का जो स्वर उभरा उसे भी नई कविता को स्थापित होने और अपना शास्त्र विकसित करने मे प्रकारान्तर से मदद भी मिली।

उल्लेखनीय है कि एक समय मे छायावाद को भी अपने आरम्भ काल मे कटु आलोचना का सामना करना पडा था फिर बाद मे उसने अपन को स्थापित कर लिया उसी प्रकार आशा है कि इस विरोध के बाद भी नई कविता को अपने आप को स्थापित कर लेने में सफलता मिलेगी। इस संदर्भ में बालकृष्ण राव का नई कविता के भविष्य से सम्बन्धी यह आशा वाद उल्लेखनीय है कि "पुरानी कविता शनैः शनैः अपना सामान बॉधकर जाने की तैयारी मे है तथा नई कविता अपना घर जमा रही है।"[१]

नाटक सम्बन्धी लेख

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने अपने सम्पादन काल के दूसरे ही अक को 'नाटक विशेषांक' के रूप में निकाला। इसका एक और कारण हो सकता है कि इसके पहले के अंकों मे 'इतिहास विशेषांक', आलोचना विशेषाक उपन्यास विशेषांक निकल चुके थे। जैसा कि अपने सम्पादकीय लेख में ही आचार्य वाजपेयी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि 'आलोचना' प्राचीन साहित्य को नये परिप्रक्ष्य में देखने का प्रयास करेगी। जिससे कि राष्ट्र के वर्तमान संक्रान्ति काल में प्राचीन और नवीन की एक सुसम्बद्ध और समन्वित शृंखला बनी रहे। उसी क्रम में नाटक विशेषांक को भी देखने का प्रयास इस अंक में किया गया है। नाटक का आरम्भ और विकास से लेकर वर्तमान नाटको तक की समीक्षाए की गई। इसमें पद्य नाटक, हिन्दी गीति नाट्य, एकांकी का विकास, हिन्दी लोक नाट्य, पश्चिमी नाटक, बंगला साहित्य के नाट्य तथा रंगमंच, प्रदेशिक भाषाओ का नाटक, संस्कृत नाटक, आधुनिक हिन्दी नाटक आदि पर विद्वान लेखको द्वारा समीक्षाएं लिखवायी गई जिससे कि नाटक का सही सही मूल्यांकन किया जा सके।

इस सम्पादन काल के निबन्धो को संख्या के दृष्टि से देखा जाय तो कुल २३ निबन्ध नाटक पर हैं, जिसमे सिर्फ विशेषाक में ही १७ निबंध है। जबकि यह संख्या किसी भी विधा से ज्यादे है, आधुनिक कविता पर १४, भारतीय काव्यशास्त्र पर १०, पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर १३, उपन्यास पर ५, कहानी शून्य है। यह तो रही लेखों की सूची। परन्तु मूल्यांकन के लिए जिन पुस्तकों का चुनाव हुआ उसमें यह संख्या लगभग उलटी है। उसमें कविता की संख्या अधिक है, तब कहानी फिर उपन्यास और अन्त में नाटक का नम्बर है। नाटक के क्षेत्र में प्रगति की चर्चा करते हुए आचार्य वाजपेयी ने स्वीकार किया है कि इसमें प्रगति के बावजूद और गुंजाइश है, यद्यपि हिन्दी में रंगमंच का अभाव सदा से ही खटकता रहा है। उन्हीं के शब्दों में, "नाटक का उल्लेख सदा हिन्दी रंगमंच के अभाव का स्मरण दिलाता है। यह बहुत बड़ी कमी है और हिन्दी नाट्य साहित्य पर उसकी गहरी प्रतिक्रिया हुई है। पर इसका यह आशय नही

(१) पूर्णांक २४ अक्टूबर ५७ पृ २४

कि नाटक के क्षेत्र में हिन्दी में कोई प्रगति नहीं हुई. यदि नाटक रंगमंच और अभिनय की वस्तु है तो उसके साथ ही साहित्य की भी वस्तु है। इस रूप में हम उसे प्रदेय और विकास युक्त पाते हैं।"[१]

नाटकों में सार्वभौमिकता, दार्शनिकता, सामाजिक दायित्व की चर्चा करते हुए सम्पाद ने प्रसाद के नाटकों की समीक्षा की है जिसमें उनको ये सभी नाटक तत्व सहज ही देखने को मिल जाते हैं। इस पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं, "प्रसाद के नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी धारा के अनुरूप हुई है। प्रसाद के नाटकों में नाटक के मूल गुण--संघर्ष की अच्छी योजना है। जो सघर्ष उनमें प्रस्तुत है वह वैयक्तिक चरित्र और सामाजिक चरित्र अथवा परिस्थिति का संघर्ष है। रस के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक दायत्वि के परस्पर विरोध को प्रदर्शित करने का अवसर उन्हें मिला। दार्शनिक दृष्टिकोण के सहयोग द्वारा पात्रों को विराट और सार्वभौमिकता की स्थिति पर वे उठ सके। यह कम श्रेय की बात नहीं कि रंग मंच के अभाव में उन्होंने अपनी कृतियों में मूल नाटकीय गुणों की सृष्टि की।"[२]

प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता पर डॉ. दशरथ ओझा विचार करते हुए लिखते हैं कि, "प्रसाद के नाटकों को दृश्य काव्य की कोटि से बहिष्कृत करने वालों का मत है कि ये नाटक पढ़ने के लिए उच्च स्थान पाते हुए भी दृश्य काव्य की कोटि में नहीं आ सके। इन नाटकों का यदा कदा सफल अभिनय भी हुआ किन्तु आज की बदलती हुई मान्यताओं के सामने उन्हें रंगमंच में कोई स्थान नहीं मिल सका।"[३]

इसी बात की पुष्टि में भगवती चरण वर्मा का मत है कि, "प्रसाद के नाटक अभिनेय हैं किन्तु रंगमंचीय नहीं। यह मत इतना स्पष्ट है कि इस पर विवाद व्यर्थ है। आज रंगमंच का जो रूप हमारे सामने है उसमें इतनी सामर्थ्य नही कि उच्च कोटि के नाटकों का अभिनय आकर्षक बनाया जा सके।"[४]

किसी भी भाषा में नाटक तभी सफल होगा जब उसमें अभिनय के योग्य रगमंच हो और उसके लिए प्रेक्षक भी उसने ही महत्वपूर्ण हैं जितना कि रंगमच की तैयारी। स्वयं डॉ. दशरथ ओझा ने भी इस बात को स्वीकारते हुए लिखते है "स्मरण रहे कि किसी भी भाषा में अमर नाट्य कृति बड़ी होगी जिसमे मानवता को पूर्णता की ओर ले जाने की क्षमता होगी। ऐसे नाटकों की रचना तभी होगी जब उनके अभिनय के योग्य रंगमंच बनेंगे। ऐसे रंगमंच तभी बनेगे जब उनके लिए प्रेक्षक होंगे। प्रसाद के नाटकों के लिए रंगमंच तैयार करने की आवश्यकता नहीं प्रेक्षक बनाने की आवश्यकता है।"[५]

वैसे तो पूरे हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है लेकिन नाटक के क्षेत्र में पाश्चात्य सिद्धान्तों, नाटककारों एंव शैली का काफी प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु काल से लेकर आज तक के हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव का

---

(१) आलोचना पूर्णांक २३, अक्टूबर ५७, पृ. ५
(२) वही, पृ. ५
(३) आलोचना पूर्णांक १६ जुलाई ५६ पृ ८४
(४) वही पृ ८४
(५) वही पृ ८५

सर्वेक्षण करने से पता चलता है कि प्रारम्भ में पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभंजन ने इस साहित्यिक विधा के विकास को अवरुद्ध करने वाली शक्तियों को पराजित करके उसके अभ्युत्थान के लिए अनुकूल वातावरण तो उत्पन्न किया ही था, पाश्चात्य साहित्य के सस्पर्श ने उसके विकास में भी योग दिया। पाश्चात्य साहित्य से जो प्रभाव हिन्दी नाटकों पर आया है, वह सिद्धान्त के रूप मे अधिक है।

हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव का विवेचन करते हुए विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है कि, "हिन्दी नाटकों पर पश्चिम के नाटककारों तथा उनके नाट्य सिद्धान्तों के साथ–साथ कुछ पाश्चात्य विचारधाराओं का भी प्रभाव है। पश्चिम की विचारधाराएं जिनकी छाप हिन्दी नाटक ही नहीं वरन् पूरे हिन्दी साहित्य पर स्पष्ट देखने को मिलती है, जान स्टुअर्टमल का उपयोगितावाद, न्यूटन डार्विन का सिद्धान्त : बुद्धिवाद, कार्लमार्क्स का साम्यवाद, टालस्टाय का शान्तिवाद फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त आदि हैं। इन विचारधाराओं के साथ–साथ पश्चिम के कुछ साहित्यिक वादों से भी हिन्दी नाटककारों ने प्रेरणा ली है। उनमें से प्रमुख स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, अति यथार्थवाद अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, उदात्त प्रवृतिवाद, समाजवादी यथार्थवाद आदि है।"(१)

युग प्रतिनिधि साहित्यकार, प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों के रक्षक, इंग्लैण्ड की लोक संस्कृति को नया जीवन देने वाले, साहित्य पर अमिट छाप छोड़ने वाले व्यक्ति शेक्सपियर के नाटकों ने नैतिक मूल्यों की चर्चा करते हुए विद्वान लेखक डॉ रामविलास शर्मा ने स्पष्ट किया है कि, "शेक्सपियर ने अपने महान दुखान्त नाटक रचे। ये नाटक हमारी करुणा का परिष्कार और प्रसार करते है। दया और भय के भावों के अतिरिक्त ये अन्याय और बर्बरता के प्रति क्रोध और धीरता, वीरता आदि गुणों के लिए सम्मान भावना भी जाग्रत करते हैं। ये समाज के नैतिक संघर्ष में तटस्थ न होकर विश्व–जनीन मूल्यों का पक्ष लेते हैं। इस प्रकार के ये नाटक मनुष्य के नैतिक–विकास का साधन हैं। शेक्सपियर को जो मानव मूल्य प्रिय थे, उनका मूल्य आज भी कम नहीं हुआ। इनके लिए मानव सम्बन्धों को विभक्त करने के दो कारण हैं–प्रेम के बदले अनियन्त्रित भोग–लिप्सा और मनुष्यता के बदले धन की प्रतिष्ठा।"(२)

हिन्दी नाटक, संस्कृत नाटक, पद्य नाटक, हिन्दी गीति नाट्य आदि पर विचार करते हुए हिन्दी लोक नाट्य और रेडियो नाटक पर भी सम्पादक ने लेख लिखवा कर उसकी समीक्षाएं कराई हैं। रेडियो नाटक और हिन्दी में उसके विकास पर विचार करते हुए सिद्धनाथ कुमार ने लिखा है कि, "आधुनिक हिन्दी नाटक के विकास में जितना योग रेडियो ने दिया है उतना सम्भवतः और किसी साधन ने नहीं। रेडियो नाटक हमारे साहित्य के नवीनतम स्वरूप विधानों में से एक हैं। रेडियो से हमें अनेक कलात्मक कृतियाँ प्राप्त हुई हैं जिससे उसके उज्जवल भविष्य में हमारा विश्वास दृढ़ हुआ है। निकट भविष्य में ही रेडियो

---

(१) आलोचना पूर्णांक १६ जुलाई ५६ पृ १३७
(२) आलोचना पूर्णांक १६ जुलाई ५६ पृ ५२

नाटक हमारी अभिव्यक्ति का एक बहुत ही सशक्त और प्रभावोत्पादक माध्यम बनकर रहेगा इसमें सन्देह नहीं।"[1]

हिन्दी लोक नाटयों की समीक्षा करते हुए रवीन्द्र भ्रमर ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि "लोक मानस को कई रूपों मे अनुरजन करने वाले नोक नाटयो की परम्परा बहुत पुरानी है, किंचित संस्कृत साहित्य से भी अधिक। वह प्राकृत और अपभ्रंश के भाषा युगों से गुजरती हुई हिन्दी के विकास काल तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।"[2] हिन्दी नाटककारो की यह कमी है कि पाठकों, दर्शको के सम्मुख सम्पूर्ण ढाँचे का यथार्थ चित्र उपस्थित न करके वे सिर्फ मध्यवर्ग का अन्य वर्गों को विछिन्न करके दिखलाते है और सिर्फ मध्यवर्ग की ही अच्छाई बुराई का चित्रण कर सके है। इस समस्या पर शम्भूनाथ सिह ने संकेत किया, "हिन्दी में नाट्य साहित्य के अग अभी बहुत अपुष्ट हैं, क्योंकि हिन्दी के समर्थ और प्रतिभाशाली लेखकों का ध्यान नाटक रचना की ओर बहुत कम जाता है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तु तत्व को जितना अधिक ग्रहण किया गया है उतना उच्चवर्गीय तथा निम्नवर्गीय वस्तु तत्व को नहीं। हिन्दी कथा साहित्य तथा हिन्दी कविता मे यह बात नही दिखाई पड़ती। उनमें प्रेमचन्द के प्रभाव और प्रगतिशील आन्दोलन के फलस्वरूप अथवा सामाजिक परिस्थितियों के बचाव से समाज के सभी वर्गों का पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है। किन्तु नाटक में प्रायः मध्यवर्ग को अन्य वर्गों से विच्छिन्न करके दिखाया गया है। नाटकों में अन्य वर्गों के समानान्तर मध्यवर्ग की अच्छाइयों और बुराइयों का चित्रण किया गया है।"[3]

उपर्युक्त निबन्धों के साथ यूनानी शास्त्र में ट्रेजडी के स्वरूप सस्कृत नाट्यशास्त्र : आरम्भ और विकास, आधुनिक हिन्दी नाटक, हिन्दी के गीति नाट्य, हिन्दी एकांकी का विकास इत्यादि निबंधों में उक्त विषयों के विवेचन भी प्रस्तुत हुए जिनमें नाटकों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आंकने और उसके मूल्यांकन की चेष्टा की गई है जिससे निश्चित रूप से हिन्दी नाटकों को एक नया रूप नयी दिशा मिली है। हिन्दी साहित्य को सही दिशा और अपने भविष्य को उज्जवल बनाने में इससे निश्चित रूप से सहायता मिली है।

उपन्यास सम्बन्धी लेख

उन दिनों के प्रसिद्ध उपन्यासकार एवं उनकी औपन्यासिक प्रवृत्तियों की चर्चा स्वयं आचार्य वाजपेयी ने अपने सम्पादकीय 'नये उपन्यास' में की थी, तथा अन्य जिन विद्वानों से उनकी चर्चा करायी उनमें इलाचन्द जोशी, भगवतीचरण वर्मा, प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र, रेणु अश्क आदि प्रमुख थे।

उस समय प्रसिद्ध उपन्यासकार फणीश्वर नाथ रेणु का नया उपन्यास 'परती : परिकथा' बहुचर्चित था। यही कारण था कि उस पर एक ही अंक मे तीन समीक्षाएं प्रकाशीत कर उसके मूल्यांकन की चेष्टा की गई। कुछ समीक्षको ने उपन्यास की कला साहित्य रूप के सम्बन्ध में वैचारिक आपत्ति उठाकर यह

(१) *आलोचना पूर्णांक १६, जुलाई ५६, पृ. १७०*
(२) *वही पृ १७६*
(3) *पूर्णांक १६ जुलाई ५६ पृ १३३*

बताना चाहा कि 'परती : परिकथा' उपन्यास की श्रेणी में आता ही नहीं। कुछ समीक्षकों ने इस बात को काटते हुए यह प्रश्न उठाया कि अगर यह उपन्यास नहीं भी है तो उससे क्या अन्तर पड जाता है? उपन्यास की कला में इतनी विविधता और वैचित्र्य है कि उसका नामकरण या उसकी परिभाषा सीमित नही की जा सकती। कुछ समीक्षको ने उसे कथा–शिल्प की दृष्टि से उचित ठहराया क्योंकि इसका मुख्य आकर्षण शिल्पगत नहीं वस्तुगत है। इससे अंचल की सम्पूर्ण प्राकृतिक और मानवीय दृश्यावली ही नहीं झलक उठती, बल्कि उस दृश्यावली के साथ कलाकार की अप्रतिहत और अदम्य आस्था तथा अर्न्दृष्टि भी झॉकने लगती है। ऐसी रचनात्मक दृष्टि और प्रतिभा से समन्वित कोई कृति हिन्दी में कदाचित वर्षो से प्रकाशित नही हुई। इसलिए यह आवश्यक है कि 'रेणु' जी की नवीन कृति को हिन्दी उपन्यास के सम्पूर्ण नये परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाना चाहिए।

आचार्य वाजपेयी ने अपने सम्पादकीय में प्रेमचन्द के उपन्यासों के महत्व को रेखांकित करने का प्रयास किया है। उन्ही के शब्दों में, "उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने जो महत्त्वपूर्ण सीमा रेखांकित की वह हिन्दी उपन्यास के आगामी विकास के लिए विशेष सहायक सिद्ध हुई है। प्रेमचन्द के युग के उपन्यास वैशिष्ट्य लेकर आये थे जिनमें चरित्र एवं उपन्यास रेखाओं का अधिक वैविध्य था और मानव जीवन के यथार्थ मूलक वैचित्र्य भी बड़ी स्पष्टता से चित्रित हुए थे। प्रसाद जी ने प्रेमचन्द की वर्गगत चित्रण प्रणाली का विरोध किया था और उपन्यास के लिए अत्यावश्यक स्वचछन्दता के द्वारा उन्मुक्त कर दिया था।"(१)

महान उपन्यास की रचना के लिए जिन सूक्ष्म तत्वों की अनिवार्यता आज के समीक्षक बताते हैं, वे प्रेमचन्द्र के युग में अलभ्य ही थे। प्रेमचन्द एक विशाल क्षेत्र में कार्य करने वाले लेखक थे। जीवन को उसके समस्त विस्तार में ग्रहण करने का उन्होंने प्रयत्न किया था। प्रेमचन्द की औपन्यासिक प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए आचार्य वाजपेयी ने लिखा है–"प्रेमचन्द एक बहिर्मुख कलाकार थे। उनकी दृष्टि उनकी आस्था से आलोकित होकर अन्ततः वस्तुमुखी थी। सर्वांगपूर्ण जीवन वाह्य जगत और अन्तर्जगत की जिस समन्वित सहसत्ता की मांग करता है उसकी दृष्टि से एक सीमा को अपना कर चले, किन्तु इस सीमा के अन्दर जो विस्तार सम्भव था, उसकी सृष्टि उन्होंने की। उनके उपन्यास रचना में उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगोचर होते हैं और उसी के अनुरूप उनकी अन्तिम कृति उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति भी मानी जाती है। विकास की यह विशेषता उनके परवर्ती नव दिशान्वेशियों में नहीं मिलती, वे आरम्भिक सम्भावना यशस्वी होकर अपने परवर्ती कृतित्व में स्पष्ट ह्रास प्रदर्शित करते हैं।"(२)

प्रेमचन्द के उपन्यास ग्राम्य जीवन के घनिष्ट परिचय से आलोकित है। ग्राम्य जीवन की जो आत्मीय और प्राणमयी झाकियाँ, उन्होंने उपस्थित की है, वे हिन्दी उपन्यास में अन्यत्र दुर्लभ हैं। मनुष्य की स्वीकृति में वे अबाध प्रतीत होते हैं और उनकी कृतियाँ मनुष्य के प्रति नैसर्गिक और अपार प्रेम की भावना से वैशिष्ट्यवान हैं। प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकारों की रचनाएं अनेकदृष्टियो

(१) आलोचना पूर्णांक २३ जुलाई ५७ पृ ६
(२) पूर्णांक २४ अक्टूबर ५७ पृ ३

से भिन्न हो गईं क्योंकि उनमें व्यापक जीवन चित्रण के स्थान पर संकीर्ण सीमाए अपनायी गईं। वस्तु जगत के स्थान पर अन्तर्जगत का आग्रह हुआ और मान्यतावादी दृष्टिकोण तथा राष्ट्रीय भावना के स्थान पर व्यक्तिवादी एव सैद्धान्तिक भूमिका अपनायी।

जैनेन्द्र जी की औपन्यासिक विशेषता के विषय में आचार्य वाजपेयी ने लिखा है, "प्रेमचन्द की तुलना में वस्तु का सापेक्षिक अभाव जैनेन्द्र की कृतियो मे एक वायवीयता का आभास उत्पन्न करता है। जैनेन्द्र की कृतियों में दार्शनिक पीठिका या प्रयोजन का जितना योग होता गया उतनी ही वे जीवन से दूर होती गई। उपन्यास में जीवन चित्रण आधारभूत वस्तु है। जैनेन्द्रीय दर्शन ने उसे ही पाशबद्ध कर लिया है।"[१]

अज्ञेय की चर्चा करते हुए सम्पादक ने यह स्पष्ट किया है कि मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में वे जैनेन्द्र से कई कदम आगे बढ़ने वाले है। वे भी दर्शन औदात्य अथवा महात्मा बुद्ध के आदर्श की भूमिका छोडने को तैयार नही। आचार्य वाजपेयी ने लिखा है—"अज्ञेय की अप्रतिभता एक विशिष्ट और मौलिक शैलीकार के रूप मे है। सबसे बढ़कर शैली वह वस्तु है जो उनकी कृति को उत्कृष्ट और दीर्घजीवी बनाती है। प्रेमचन्द अगर बोलचाल की भाषा में चमत्कार के सृष्टा थे तो प्रसाद के समान अज्ञेय अपने विशिष्ट ढंग से अभिजात भाषा में चमत्कार सृष्टा है। कृतित्व में भी अज्ञेय एक विशेष प्रकार के महत्त्व के पात्र हैं। प्रेमचन्द मे बहिर्मुखता की उपलब्धि के पश्चात अग्रिम गति में हिन्दी उपन्यास आन्तरिक जीवन के चित्रण की सफलता का अपेक्षी था। अज्ञेय का प्रयोग इस दृष्टि से सफल है, किन्तु यह सफलता बहुत बड़ी कीमत चुका कर मिली है।"[२]

उपन्यासकारों की विशिष्ट शैली एवं उसकी विशेषताओं की चर्चा सम्पादक ने अपने सम्पादीय लेख में भी किया है जिसमें इलाचन्द्र जोशी के बारे में यह बतलाते हैं कि इलाचन्द जोशी ने जीवन और कला के प्रति एक बौद्धिक दृष्टिकोण को अपनाया है। अपने ढंग से ये मनोविज्ञान और प्रगतिवाद का नाम लेकर अन्त. और वाह्य के सन्तुलित सह स्वीकार के लिए प्रयत्नशील हुए है। मनोविज्ञान उनके उपन्यासों में सामग्री के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु शैली और शिल्प मनोविज्ञान उपन्यास के अनुरूप नहीं है। वस्तु तो नवीन है, किन्तु विधि पुरानी है। जो अविकसित और सूक्ष्य उपकरण प्रेमचन्द को प्राप्त थे, जोशी जी उनमें परिनिष्ठित हैं।

इलाचन्द जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियों पर विचार प्रकट करते हुए आनन्द चतुर्वेदी ने उनके उपन्यास की ये दो विशेषतायें गिनायी हैं—

१ इसमें प्रथम बार पुरुष और एक दृढ़ व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ है जो निरन्तर अपनी मन की भ्रान्ति से लडकर एक सन्तुष्ट एवं सुस्पष्ट विकास के लिए सचेष्ट है। वह केवल अपनी भावना में मग्न नहीं रहता दूसरों की भी चिन्ता करता है।

२ इसमें व्यक्तिगत प्रश्नों की अपेक्षा एक सामूहिक विकास और उसकी महत्ता पर बल दिया गया है।

(१) पूर्णांक २४ अक्टूबर ५७ पृ ४
(२) पूर्णांक २४ अक्टूबर ५७ पृ ५

३ : इसमें पुरुष और नारी की अकर्मण्यता, आलस्य सभी के विरुद्ध प्रबल प्रयत्न हैं।

४ : इसमें मनोवैज्ञानिक ऊहापोह सभी उपन्यासो से कम है।

५ : इसमें क्रियात्मक आदर्श की ओर मानवता को प्रेरित किया है।

व्यक्ति के वाह्य स्तर को चीर कर उसके वास्तविक स्वरूप को उद्‌घाटित करना जोशी जी का प्रधान लक्ष्य है। स्वभावतः उनके उपन्यास विश्लेषणात्मक, मनोवैज्ञानिक और चरित्र मूलक होते हैं।"(१)

उपन्यासकार अश्क, यशपाल और जोशी जी के उपन्यास में यह सम्बन्ध स्थापित करते हुए आचार्य वाजपेयी जी ने मूल्यांकन किया है–

"यशपाल एक तरह से अश्क के प्रतिलोम हैं। अश्क जी यदि परिपार्श्व के प्रणेता है, तो यशपाल प्रयोजन के प्रतिष्ठाता। अश्क जी यदि कला को पूर्णतया वैज्ञानिक स्वरूप में ढालने के पक्षपाती हैं तो यशपाल उसे मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपित करने के आग्रही हैं। यशपाल पुरुष–पौरुष के लेखक हैं, किन्तु मनुष्य की तुलना में उन्हें मतवाद प्रिय है। उनमें हम मध्यवर्गीय लेखक की साम्यवादी परिणति देखते हैं। यशपाल का दृष्टिकोण भी जोशी जी के समान बौद्धिक है, किन्तु जोशी जी से भिन्न स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के चित्रण में वे एक विकृत मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। नैतिक मनुष्य की उनकी धारणा संदेहास्पद है और मनुष्य सत्ता की विकासमान परिणति की सम्भाव्यता में आस्था के अभाव का संकेत करती है। उनका जीवन–चित्रण निरन्तर मनुष्य का आधार खोजता है, किन्तु वास्तविक मनुष्य और जीवन से उसकी संगति नही बैठ पाती। जिस प्रकार प्रेमचन्द का कृतित्व जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से आत्मवान है, यह विशेषता यशपाल में कम ही उतर पाई है।"(२)

भारतीय लेखकों के अध्ययन के प्रयोजन से 'भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यासों को विशेष रूप से विवेचित करने के लिए आचार्य वाजपेयी ने अनन्त चतुर्वेदी से निबन्ध लिखवाया। इस निबध में लेखक ने भगवतीचरण वर्मा जी के सामाजिक उपन्यासों की चर्चा करते हुए लिखा है, "वर्मा जी की शैली तार्किक और भाषा साफ सुथरी है। वह तर्क करने के लिए तर्क नहीं करते, वरन् तथ्य प्रस्तुत करने के लिए तर्क करते हैं। सही रूप से वे टेकनीक के क्षेत्र में एक प्रयोगवादी कलाकार की भाँति हैं जो इस दिशा में बहुत हद तक सफलता पा चुका है।"(३)

प्रेमचन्द की भाँति ही उनका दृष्टिकोण भी मानवीय रहा है, मानव को उन्होंने दुर्बल माना है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने वर्मा जी के सम्बन्ध में लिखा, "प्रेमचन्द जी अपनी सरल–सुबोध भाषा में लोगों का ध्यान समाज की तथा निम्न श्रेणी की अवस्था की ओर पहली बार दिलाया था, भगवतीचरण वर्मा ने अपनी आकर्षक शैली के पढ़े लिखे लोगों का ध्यान जीवन के आदर्शों के सम्बन्ध में उनके उलझे हुए मस्तिष्क की ओर आकर्षित किया है।"(४)

---

(१) आलोचना पूर्णांक १८, अप्रैल ५६, पृ. ७३
(२) वही पूर्णांक, २४ अक्टूबर ५६, पृ. ५१
(३) आलोचना पूर्णांक २० अक्टूबर ५६ पृ ५१
(४) वही पृ ५१

इस प्रकार उस समय के समीक्षकों ने हिन्दी के नये उपन्यासों के मूल्यांकन का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी आलोचनाओं से न केवल हिन्दी उपन्यास की नई प्रवृत्तियां प्रकाश में आई बल्कि नये उपन्यासों को नये दृष्टिकोण से देखने का विवेक भी पैदा हुआ। आलोचकों में यद्यपि स्वतंत्र रूप से उस समय की श्रेष्ठ औपन्यासिक प्रवृत्तियों की समीक्षा की, पर इसी के साथ उस समय के बड़े उपन्यासकारों के रचनात्मकता का तुलनात्मक मूल्यांकन भी किया। इससे हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा को नई दिशा मिली। उल्लेखनीय है कि हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा आरम्भ में निन्दा प्रशंसा से अधिक जुड़ी हुई थी। यहाँ पर साहित्यिक प्रवृत्तियों के गठन के अध्ययन एवं विश्लेषण से जुडकर अधिक उर्जावान और मूल्यवान बनी।

काव्यशास्त्र सम्बन्धी विचार

भारतीय काव्यशास्त्र--

उस समय नई कविता का आन्दोलन चल रहा था जिसको उस समय मे भी बड़े ही कड़े विरोध का सामना करना पड रहा था। परन्तु कहीं–कहीं पर उसके हिमायती उसका समर्थन भी कर रहे थे। 'नई कविता' रस, छन्द, अलकार आदि का काव्य शास्त्रियों द्वारा बनाए गये नियमों के विरुद्ध जा रही थी। इन्हीं सब बातों से उद्वेलित होकर प्राचीन काव्यशास्त्र के औचित्य पर भी विचार किया जा रहा था। उस समय जो काव्यशास्त्र से सम्बन्धित निबन्ध छपे है उस पर एक दृष्टि डालने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योकि साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल के रस, सौन्दर्य और आनन्द, साहित्य सृजन और आलोचना सिद्धान्त का क्रमिक विकास, अलंकार और अलंकार्य का सम्प्रदाय, व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त इत्यादि प्रमुख निबन्ध छपे।

आचार्य वाजपेयी जी ने स्वयं ही सिद्धान्तों की प्रगति' शीर्षक लेख मे इस बात को स्पष्ट किया है कि रस, छन्द और अलंकार साहित्य के लिए अवश्य ही नहीं जरूरी भी हैं। इसके लिए इन्होंने प्राचीन काव्य परम्परा को भी गिनाया है जिसमें वाल्मीकि जी का करुण रस, अभिज्ञान–शाकुन्तल, रघुवंश, भरत मुनि का नाटक आदि में करुण रस, शृंगार रस और वीर रस की प्रधानता थी। अलंकार केवल पहले से सुन्दर वस्तु को अधिक सुन्दर बनाने के उपकरण ही नहीं है बल्कि काव्य के भौतिक स्वरूप से उनका गहरा सम्बन्ध भी है।

आधुनिक युग में जिसे हम बिम्ब विधान कहते हैं वही मुख्यतः अलंकारो की वस्तु है। काव्य में बिम्ब योजना अव्यक्त को व्यक्त रूप प्रदान करती है। काव्य अगर अभिव्यंजना है तो अलंकार उसके अभिव्यक्त स्परूप का लक्षण है।

आचार्य वाजपेयी ने इस लेख में स्वीकार किया है कि रस और अलंकार दोनों की प्रमुखता के युग में उत्तम काव्य की सृष्टि हुई। यद्यपि उनके स्वरूपो मे अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में यदि सहज शक्ति है तो कालिदास के 'रघुवंश' में भारत के स्वर्णकाल और अलंकार दृष्टि का समस्त ऐश्वर्य दिखाई देता है।

सिद्धान्तो की प्रगति की चर्चा करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दी पर साहित्य के विभिन्न वादो के प्रभावो की चर्चा की

है। इन्होंने यथार्थवाद को सबसे महत्त्वपूर्ण घोषित करते हुए इसके स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्हीं के शब्दों में, "आधुनिक युग का प्रधान सिद्धान्त यथार्थवाद है, वह आदर्शवाद, भावुकता और कल्पनाशीलता के विरोध में उपस्थित हुआ। यह वैज्ञानिक युग का काव्य सिद्धान्त है। जैसे एक वैज्ञानिक तटस्थ रहकर प्रकृति का अध्ययन करता है, वैसी ही तटस्थता के साथ साहित्य रचना का उपक्रम इसके अनुयायियों ने किया। यथा तथ्य का आग्रह यहाँ तक बढ़ा कि कला की परिभाषा यथार्थ– 'क' कही गई। 'क' लेखक के व्यक्तित्व का तत्व है।"(१) जो इस सिद्धान्त का विरोधी है। उसकी चर्चा करते हुए आचार्य वाजपेयी जी ने आगे कहा, "कुछ लेखकों के यथार्थवाद की ये विशेषताएं सस्कृति विहीन और अकलात्मक लगी। प्रतीकवाद के रूप में आने वाला सिद्धान्त यथार्थवाद के विरुद्ध विद्रोह बनकर उपस्थित हुआ। इसकी अनेक व्याख्याएं हैं, किन्तु प्रधान वैशिष्ट्य आमाभिव्यक्ति का आग्रह है। गेटे ने अत्यधिक आत्मपरक होने से स्वच्छन्दतावादियों को सावधान किया था कि व्यक्तिवादिता प्रतीकवाद का प्रथम आग्रह बना। अभिव्यंजना की नई शैली–प्रतीक शैली–इसमें अपनाई गई।"(२)

आधुनिक भारतीय साहित्य और सैद्धान्तिक प्रक्रिया पर अपना विचार प्रकट करते हुए वाजपेयी जी लिखते हैं, "यह ध्यान में रखना चाहिए कि आधुनिक भारत का विकास बहुत कुछ पश्चिम के प्रभाव तथा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के अन्तर्गत हुआ है। सिद्धान्त चर्चा में बहुत सी ऐसी वस्तुएं मिल जाती हैं जो पश्चिम से अपने मूल रूप में ले ली गई हैं। परन्तु विशुद्ध राष्ट्रीय चिन्ता धारा ने उन्हें स्वीकार नहीं किया, वह भारतीय परम्परा के विकास पर ही जोर देती आई है।"(३)

आचार्य वाजपेयी ने वादों की बहुलता पर अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है–"आज पश्चिम की तरह हिन्दी में भी वाद बहुलता का युग आया जान पडता है। यथार्थवाद, प्रगतिवादी, अतियथार्थवाद आदि के नाम यहाँ भी प्रचलित हुए हैं।" इन सबसे ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनके पुरस्कर्ता इनमें सक्रिय चिन्तन का योग करने में असमर्थ रहे हैं। इनकी मौलिक रूपरेखा तक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत और प्रचारित नहीं की गई है। जहाँ तक इनके प्रयोग द्वारा साहित्य सर्जना का प्रश्न है, वहाँ भी पश्चिम की ऐतिहासिक परिस्थिति की गहरी प्रेरणा है और इस प्रकार वहाँ के वास्तविक जीवन में भी घुले मिले है। आधुनिक जगत की परिस्थितियों को देखते हुए भारत में उनका आगमन कोई अनहोनी बात नहीं है, किन्तु अपनी वास्तविक जीवन स्थिति और चेतना–स्तर के साथ उनका उपयुक्त सामंजस्य स्थापित करना भी आवश्यक है। ऐसा न होने पर हमारी अधिकांश चिन्तन नितान्त अव्यावहारिक और कोरी सैद्धान्तिक बनती जायेगी तथा हमारी वास्तविक जीवन–स्थिति में उसका कोई सम्बन्ध न रहेगा। वह पश्चिम की आरोपित छाया मात्र बन जायेगी। सैद्धान्तिक प्रगति और सृजन दोनों के ही नाम पर वर्तमान परिस्थिति हमारे स्वतंत्र चिन्तन की मांग

(१) आलोचना पूर्णांक २६, अप्रैल ५६, पृ. ६
(२) आलोचना पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ ७
(३) वही पृ ६

करती है।"[१]

रस-सिद्धान्त के क्रमिक विकास को दिखाते हुए रामलाल सिंह ने रस की उत्पत्ति एवं विकास को पूर्ण रूप से व्याख्यायित किया है। इनकी प्रेरणा कहाँ से कैसे मिली है इसकी चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, "रस सिद्धान्त के निर्माण की मूल प्रेरणा साहित्य के आचार्यों को वेद, उपनिषद, ब्राह्मण आदि धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों से मिली, जहाँ रस शब्द का प्रयोग आनन्दमयी परम चेतना, अलौकिक आनन्द, वास्तविकता, चरमसत्य, समाधि दशा आदि के अर्थ में हुआ था।"[२]

आधुनिक युग में इस सिद्धान्त के विकास में सहयोग देने वालों मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान शीर्षस्थ है। स्वयं रामलाल सिंह ने इसे स्वीकारते हुए लिखा है, "रस सिद्धान्त के विकास में शुक्ल जी की देन उसके मनोवैज्ञानिक आधार, सामाजिक भूमि, नैतिक पक्ष को स्पष्ट करने में प्राचीन आचार्यो के रस प्रक्रिया-विवेचन में सम्प्राप्त दार्शनिक आवरण को अनावृत करके उसे मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान करने में, रस की जीवनमयी छाया साहित्यमयी विस्तृत व्याप्ति का निरूपण करके उसके भीतर देश विदेश के भी काव्य-गुणो, सभी काव्य सम्प्रदायों को समाहृत करने, उसके द्वारा काव्य का व्यापक मानदण्ड प्रस्तुत करने में भाव सामान्य तथा प्रमुख स्थायी भावों के निर्माणकारी तत्वो लक्षणों, विशेषताओं, भेदोपभेदों, व्याप्ति, उद्‌भव, क्रमिक विकास गतिविधि, महत्व उपयोगिता के विवेचन में, भावदशा तथा रस दशा की विभिन्न स्थितियो के अनुसन्धान में भावों के नये प्रकार के वर्गीकरण तथा उनके निर्माणकारी तत्वों के अन्तर के स्पष्टीकरण में तथा रससिद्धान्त में विश्व-समीक्षा सिद्धान्त बनने की सम्भावना सिद्ध करने में है।"[३]

रामलाल सिंह ने रस सिद्धान्त के विकास को स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध किया है कि शुक्ल जी के बाद पं. रामदहिन मिश्र ने रस की मधुमती भूमिका का स्पष्टीकरण तथा समर्थन करते हुए इसके दार्शनिक स्वरूप को विस्तृत करने का प्रयत्न किया है। इसके बाद के समीक्षकों में आचार्य वाजपेयी जी ने रस-निष्पत्ति की नई व्याख्या करते हुए रस के क्रमिक विकास को स्पष्ट किया है तथा साधारणीकरण में सम्पूर्ण कवि कर्म का साधारणीकरण समाविष्ट करके अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अनुभूति को काव्य की आत्मा मानकर प्रकारान्तर से रस के महत्व की प्रतिष्ठा नवीन पदावली में करते हुए काव्य के अन्य तत्वों-अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि औचित्य आदि का रस से आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित किया है।

आलोचना के जो अनेक सिद्धान्त विकसित हुए इसके पीछे मुख्य कारण है कि आलोचना का उद्‌देश्य किसी भी काव्य कृति के समक्ष सौन्दर्य और विशेषताओं को स्पष्ट करके उन्हें अनुभूतिगम्य बनाना होता है। चूँकि कोई एक आलोचना का सिद्धान्त इस कार्य को करने में पूर्णतया सफल हो ही नही सकता, इसलिए आलोचना की एक शैली विकसित हुई व्यावहारिक समीक्षा।

---

(१) आलोचना पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ ८
(२) वही पृ ६
(३) वही पृ २४

व्यावहारिक समीक्षा के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए भगीरथ मिश्र ने इस सिद्धान्त के महत्व को रेखांकित करने का प्रयास किया, "व्यावहारिक समीक्षा के लेखक का उद्‌देश्य साहित्यिक समीक्षा मात्र नहीं, फिर भी क्योंकि काव्य को ही इस प्रकार के प्रयोगों के लिए सर्वोपयुक्त समझा गया है, अत उसका संबंध निश्चयतः साहित्यिक समीक्षा से हो जाता है। इस प्रकार काव्य समीक्षा का यह व्यावहारिक रूप न केवल साहित्यिक अभिरुचि के स्तर का एक लेखा प्रस्तुत करता है, वरन् वह मानव अनुभूति और विचारों का एक स्वाभाविक इतिहास बन जाता है।"(१)

महान आलोचक किसी कृति को किस प्रकार परखते हैं, उसका उन्हे किस प्रकार अवलोकन करना चाहिए इस पर भोलाशंकर व्यास का मत है 'महान आलोचक अपने पूर्व की समस्त परम्परा का पुनरावलोकन करते हैं, वे कवियों की उत्कृष्टता व निष्कृष्टता पर फिर नए सिरे से विचार करते है, कवियों को नए सिरे से क्रम प्रदान करते हैं तथा कविताओं का नए सिरे से आकलन करते हैं। वे पुरानी मान्यताओं को सर्वथा अविच्छिन्न नहीं करते, वे कोई सर्वथा नई वैचारिक क्रान्ति को जन्म न देकर पुरानी मान्यताओं को ही नया विकसित रूप देते हैं।"(२)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र सम्बन्धित लेख

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी जी ने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में 'सिद्धान्तो की प्रगति की चर्चा के संदर्भ में इस बात को स्पष्ट किया है कि हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य चिन्तन का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें न केवल सिद्धान्त ही आयातित किए गए हैं बल्कि उनकी शैली और दृष्टिकोण को भी अपनाया गया है। हिन्दी में वादों की बहुलता इस बात का उदाहरण है। विदेशी लेखकों ने वास्तोस्की–मैक्सिम गोर्की तथा चेखव की मूर्तियों और उनमें निहित सिद्धान्तो का डॉ. भगीरथ मिश्र ने मूल्यांकन कराया।

इसके बाद उन सिद्धान्तों की चर्चा पर अधिक ध्यान दिया गया है जिनका भारतीय साहित्य पर उन दिनों प्रभाव पड़ रहा था। आधुनिक पश्चिमी काव्य स्वच्छन्दतावाद का परवर्ती वाक्य चिन्तन, मार्क्सवाद का काव्य विषयक प्रतिपत्रियां, मनौवैज्ञानिक सिद्धान्त और काव्य, पश्चिमी साहित्य के आदर्शवादी समीक्षा सिद्धान्त, अस्तित्ववाद, आदि प्रमुख निबन्धों ने पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तो और हिन्दी काव्यालोचन पर पड़े उनके व्यापक प्रभावों पर प्रकाश डाला गया।

'स्वच्छन्दतावाद का परवर्ती काव्य–चिन्तन पर विचार करते हुए रामअवध द्विवेदी ने स्वच्छन्दतावाद की विशेषताओं का मूल्यांकन किया और यह निर्णय लिया कि स्वच्छन्दतावाद आन्दोलन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि यद्यपि वह अनेक देशों में कुछ आगे या कुछ पीछे सक्रिय और सशक्त रूप मे प्रकट हुआ, तथापि, उनमें सर्वत्र आश्चर्यजनक एकरूपता थी। कल्पना और भावना की तीव्रता, गीत काव्य के प्रति आकर्षण, प्रकृति प्रेम, मानव के प्रति हानुभूति, स्वाभाविक प्रेरणा इत्यादि लक्षण सभी देशों की स्वच्छन्दतावादी

(१) आलोचना पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ ३३
(२) वही पृ ४१

रचनाओं में विद्यमान थे।"[१]

'मार्क्सवाद की काव्य विषयक प्रतिपत्तियों पर चर्चा करते हुए राजेन्द्र प्रसाद सिह ने मार्क्सवादी विचारधारा को स्पष्ट किया और लिखा है, "आधुनिक मनुष्य की सामाजिक परिस्थितिया राष्ट्रों के राजनैतिक सम्बन्धों से जन्म लेती है व्यवस्था योजना और नीति से सचालित होती है। समकालीन मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार किसी भी रचनात्मक चेष्टा का औचित्य तो राजनैतिक सम्बन्धों, व्यवस्था नीति, योजना और राष्ट्र निर्माण के प्रति उसकी सक्रिय अनुकूलता में है, अन्यथा नहीं। यों तो, सभी देशों में, मार्क्सवादी विचारधारा प्रत्येक समस्या और क्षेत्र के प्रति उदारता पूर्ण, मानवतावादी और शान्ति मूलक नवनिर्माण के तात्पर्य की व्याख्याएं प्रसारित कर रही हैं किन्तु कला और साहित्य के प्रति उसमें सर्वाधिक सहिष्णुता आ गई है।"[२]

राजेन्द्र सिह ने मार्क्सवादी विचारकों के सम्बन्ध में भी अपना विचार व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "मार्क्सवादी विचारकों ने कविता या सम्पूर्ण साहित्य या कला अथवा सभी सांस्कृतिक प्रतिक्रियाओं को, सामाजिक यथार्थ की समस्याओं से संघर्ष का, उसके अर्थनीतिक ढांचे को बदलने के लिए, अन्य सभी ढाचो में फलस्वरूप वर्गहीन सहजता लाने के लिए और सर्वगत माध्यम के रूप में विप्लवजन्य साम्यवाद की स्थापना के लिए सापेक्ष मर्यादा के साथ सक्रिय रहने वाला साधन बनाने का सन्देश दिया है।"[३]

अन्त में लेखक ने मार्क्सवाद की काव्य विषयक प्रतिपत्रियों की चर्चा करते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि मार्क्सवादी देशों के साहित्य में विशेषत कविता तो सबसे अधिक निष्प्रभ, महत्त्वहीन और यान्त्रिक होती जा रही है। इसका उत्तरदायित्व मार्क्सवाद की, कला और काव्य से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिपत्तियों पर है, जिनकी स्थापना और व्याख्या विचारों की लम्बी परम्परा के द्वारा निर्देशित हुई है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और काव्य के सम्बन्ध की व्याख्या करने के क्रम मे गंगाधर झा ने मनोविज्ञान उसका सिद्धान्त फिर काव्य और मनोविज्ञान के काव्य पर पड़ने वाले प्रभावों को रेखांकित किया है। साहित्य के क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए वे कहते हैं, "साहित्य के क्षेत्र मे मनोविज्ञान की चर्चा यद्यपि स्वाभाविक हो गई है, किन्तु साहित्यकारों ने उसके समक्ष पूर्ण समर्पण नहीं किया है। उसकी स्वीकृति में जितनी दूर जाना सम्भव है, वहाँ तक वह निःसंकोच गए हैं, किन्तु उसके साथ कलाकार की कलाकारिता और उसके विशिष्ट दायित्व का ध्वज भी उन्होंने ऊँचा रखा है। समस्त विश्व मे जहाँ-जहाँ मनोविज्ञान गया है, वहाँ उसने साहित्य की रूपरेखा एकदम बदल दी है, किन्तु इस प्रकार बदलते हुए साहित्य का रचयिता, सृष्टि के पद से अच्युत है। वह कहीं मनोविज्ञानवेत्ता की परछाई बनकर नहीं रह गया है। ऐसे लेखकों और उनके साहित्य में प्राप्त दृष्टिकोण यद्यपि मनोविज्ञानिक है, तथापि वह साहित्य के चिन्तकों का प्रतिफल है।"[१]

---

(१) आलोचना पूर्णांक २६, अप्रैल ५६, पृ. ५४
(२) आलोचना पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ ६२
(३) वही पृ ७२

व्यावहारिक समीक्षा के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए भगीरथ मिश्र ने इस सिद्धान्त के महत्व को रेखांकित करने का प्रयास किया, "व्यावहारिक समीक्षा के लेखक का उद्देश्य साहित्यिक समीक्षा मात्र नहीं, फिर भी क्योंकि काव्य को ही इस प्रकार के प्रयोगों के लिए सर्वोपयुक्त समझा गया है, अत उसका संबंध निश्चयतः साहित्यिक समीक्षा से हो जाता है। इस प्रकार काव्य समीक्षा का यह व्यावहारिक रूप न केवल साहित्यिक अभिरुचि के स्तर का एक लेखा प्रस्तुत करता है, वरन् वह मानव अनुभूति और विचारों का एक स्वाभाविक इतिहास बन जाता है।"(१)

महान आलोचक किसी कृति को किस प्रकार परखते हैं, उसका उन्हे किस प्रकार अवलोकन करना चाहिए इस पर भोलाशंकर व्यास का मत है 'महान आलोचक अपने पूर्व की समस्त परम्परा का पुनरावलोकन करते हैं, वे कवियों की उत्कृष्टता व निष्कृष्टता पर फिर नए सिरे से विचार करते हैं कवियों को नए सिरे से क्रम प्रदान करते हैं तथा कविताओ का नए सिरे से आकलन करते हैं। वे पुरानी मान्यताओं को सर्वथा अविच्छिन्न नहीं करते, वे कोई सर्वथा नई वैचारिक क्रान्ति को जन्म न देकर पुरानी मान्यताओं को ही नया विकसित रूप देते हैं।"(२)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र सम्बन्धित लेख

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी जी ने अपने सम्पादकीय वक्तव्य में 'सिद्धान्तो की प्रगति की चर्चा के संदर्भ में इस बात को स्पष्ट किया है कि हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य चिन्तन का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें न केवल सिद्धान्त ही आयातित किए गए हैं बल्कि उनकी शैली और दृष्टिकोण को भी अपनाया गया है। हिन्दी में वादों की बहुलता इस बात का उदाहरण है। विदेशी लेखकों ने वास्तोस्की–मैक्सिम गोर्की तथा चेखव की मूर्तियों और उनमें निहित सिद्धान्तो का डॉ. भगीरथ मिश्र ने मूल्यांकन कराया।

इसके बाद उन सिद्धान्तों की चर्चा पर अधिक ध्यान दिया गया है जिनका भारतीय साहित्य पर उन दिनों प्रभाव पड़ रहा था। आधुनिक पश्चिमी काव्य स्वच्छन्दतावाद का परवर्ती वाक्य चिन्तन, मार्क्सवाद का काव्य विषयक प्रतिपत्रियां, मनौवैज्ञानिक सिद्धान्त और काव्य, पश्चिमी साहित्य के आदर्शवादी समीक्षा सिद्धान्त, अस्तित्ववाद, आदि प्रमुख निबन्धों ने पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तो और हिन्दी काव्यालोचन पर पडे उनके व्यापक प्रभावों पर प्रकाश डाला गया।

'स्वच्छन्दतावाद का परवर्ती काव्य–चिन्तन पर विचार करते हुए रामअवध द्विवेदी ने स्वच्छन्दतावाद की विशेषताओं का मूल्यांकन किया और यह निर्णय लिया कि स्वच्छन्दतावाद आन्दोलन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि यद्यपि वह अनेक देशों में कुछ आगे या कुछ पीछे सक्रिय और सशक्त रूप ने प्रकट हुआ, तथापि, उनमें सर्वत्र आश्चर्यजनक एकरूपता थी। कल्पना और भावना की तीव्रता, गीत काव्य के प्रति आकर्षण, प्रकृति प्रेम, मानव के प्रति हानुभूति, स्वाभाविक प्रेरणा इत्यादि लक्षण सभी देशों की स्वच्छन्दतावादी

(१) आलोचना पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ ३३
(२) वही पृ ४१

रचनाओं में विद्यमान थे।"[१]

'मार्क्सवाद की काव्य विषयक प्रतिपत्तियों पर चर्चा करते हुए राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने मार्क्सवादी विचारधारा को स्पष्ट किया और लिखा है, "आधुनिक मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियां राष्ट्रों के राजनैतिक सम्बन्धों से जन्म लेती है व्यवस्था योजना और नीति से संचालित होती है। समकालीन मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार किसी भी रचनात्मक चेष्टा का औचित्य तो राजनैतिक सम्बन्धों, व्यवस्था नीति, योजना और राष्ट्र निर्माण के प्रति उसकी सक्रिय अनुकूलता में है, अन्यथा नही। यों तो, सभी देशो में, मार्क्सवादी विचारधारा प्रत्येक समस्या और क्षेत्र के प्रति उदारता पूर्ण, मानवतावादी और शान्ति मूलक नवनिर्माण के तात्पर्य की व्याख्याएं प्रसारित कर रही हैं किन्तु कला और साहित्य के प्रति उसमें सर्वाधिक सहिष्णुता आ गई है।"[२]

राजेन्द्र सिंह ने मार्क्सवादी विचारकों के सम्बन्ध में भी अपना विचार व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "मार्क्सवादी विचारकों ने कविता या सम्पूर्ण साहित्य या कला अथवा सभी सांस्कृतिक प्रतिक्रियाओं को, सामाजिक यथार्थ की समस्याओं से संघर्ष का, उसके अर्थनीतिक ढांचे को बदलने के लिए, अन्य सभी ढाचों में फलस्वरूप वर्गहीन सहजता लाने के लिए और सर्वगत माध्यम के रूप में विप्लवजन्य साम्यवाद की स्थापना के लिए सापेक्ष मर्यादा के साथ सक्रिय रहने वाला साधन बनाने का सन्देश दिया है।"[३]

अन्त में लेखक ने मार्क्सवाद की काव्य विषयक प्रतिपत्रियों की चर्चा करते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि मार्क्सवादी देशों के साहित्य में विशेषत कविता तो सबसे अधिक निष्प्रभ, महत्त्वहीन और यान्त्रिक होती जा रही है। इसका उत्तरदायित्व मार्क्सवाद की, कला और काव्य से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिपत्तियों पर है, जिनकी स्थापना और व्याख्या विचारों की लम्बी परम्परा के द्वारा निर्देशित हुई है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और काव्य के सम्बन्ध की व्याख्या करने के क्रम मे गंगाधर झा ने मनोविज्ञान उसका सिद्धान्त फिर काव्य और मनोविज्ञान के काव्य पर पड़ने वाले प्रभावों को रेखांकित किया है। साहित्य के क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए वे कहते हैं, "साहित्य के क्षेत्र मे मनोविज्ञान की चर्चा यद्यपि स्वाभाविक हो गई है, किन्तु साहित्यकारों ने उसके समक्ष पूर्ण समर्पण नहीं किया है। उसकी स्वीकृति में जितनी दूर जाना सम्भव है वहाँ तक वह निःसंकोच गए हैं, किन्तु उसके साथ कलाकार की कलाकारिता और उसके विशिष्ट दायित्व का ध्वज भी उन्होंने ऊँचा रखा है। समस्त विश्व मे जहाँ–जहाँ मनोविज्ञान गया है, वहाँ उसने साहित्य की रूपरेखा एकदम बदल दी है, किन्तु इस प्रकार बदलते हुए साहित्य का रचयिता, सृष्टि के पद से अच्युत है। वह कहीं मनोविज्ञानवेत्ता की परछाईं बनकर नहीं रह गया है। ऐसे लेखकों और उनके साहित्य में प्राप्त दृष्टिकोण यद्यपि मनोविज्ञानिक है, तथापि वह साहित्य के चिन्तकों का प्रतिफल है।"[१]

---

(१) आलोचना पूर्णांक २६, अप्रैल ५६, पृ. ५४
(२) आलोचना पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ ६२
(३) वही पृ ७२

उपयोगितावाद : मानवतावादी और मनोवैज्ञानिक (ताल्सताय और रिचर्ड्स) तथा प्रतीकवाद का मूल्यांकन करते हुए रामरतन भटनागर ने ताल्सताय और रिचर्ड्स के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें कला सम्बन्धी मान्यताओं के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ताल्सताय की कला सम्बन्धी मान्यताओं को गिनाया है–

१ : कलाकृति मे नवीनता का समावेश हो।

२ : वह नवीन विचार और कला का वस्तुतत्व मानवजाति के लिए महत्वपूर्ण है।

३ : वह वस्तु तत्व इतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त हो कि लोग उसे समझ सके।

४ : कलाकार निर्माण की ओर आन्तरिक अनुरोधवश प्रेरित हो, न कि वाह्य प्रलोभनों के कारण।

ताल्सताय कला–कृति के लिए तीन शर्तों का पालन अनिवार्य समझते हैं–

१ : वस्तु तत्व जो अब तक अनिवार्य थी, परन्तु मनुष्य को जिसकी आवश्यकता है।

२ . रूप सबके लिए सुबोध हो।

३ : निष्ठा, कलाकार की किसी आन्तरिक शंका के समाधान की आवश्यकता से उत्पन्न हो।"[२]

रिचर्ड्स के काव्य में उपयोगितावाद की चर्चा करते हुए डॉ. रामरतन भटनागर यह स्पष्ट करते हैं कि उपयोगितावाद का एक अन्य रूप हमें आइ. ए रिचर्ड्स की रचनाओं में मिलता है। इनमें मनोवैज्ञानिक धारणाओं और स्थापनाओ का प्रभाव पहली बार दिखलाई पड़ता है। रिचर्ड्स का सारा समीक्षात्मक सभारम्भ प्रभाववादी समीक्षा के विरुद्ध है। उन्होंने कला–चिन्तन और समीक्षा को अधिक से अधिक विधान का रूप देने की चेष्टा की है, जहाँ व्यक्तिगत कुछ भी नहीं, सब निरपेक्ष और नियोजित है। रिचर्ड्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि साहित्य का उद्देश्य पाठक या श्रोता में सन्तुलित मनोवैज्ञानिक स्थिति का निर्माण करना है। रामरतन भटनागर रिचर्ड्स द्वारा स्थापित कवि और कविता सम्बन्धी मान्यताओं की समीक्षा करते हुए लिखते हैं–"रिचर्ड्स कवि के कथनीय और कविता में भेद करते हैं। उनके अनुसार कवि का वैयाकरणीय तत्व विषय वस्तु से स्वतंत्र और महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी एक उपपत्ति यह भी है कि काव्य में शब्द, ध्वनि और शब्द–मर्म, जिन्हें बहिरंग कहा जाता है, उसके अंतरंग के विरोधी होते हैं और इस द्वन्द्व के भीतर से ही वाच्यार्थ क्रोधित होते हैं। कविता में शब्द प्रयोग और छन्दों की स्थिति इसीलिए महत्वपूर्ण है कि उनके द्वारा हम अन्तरंगीय भाव बोध को करने के लिए संवेदित होते हैं।"[३]

पश्चिमी साहित्य के आदर्शवादी समीक्षा सिद्धान्त शीर्षक लेख में डॉ सिद्धार्थ ने आदर्शवादी समीक्षा की उत्पत्ति, विकास एवं उस पर उठने वाले

(१) आलोचना पूर्णांक २६, अप्रैल ५६, पृ. ७८
(२) आलोचना पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ ६७
(३) वही पृ १०२

आलोचना पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास किया है। वे इस सिद्धान्त की उत्पत्ति के बारे मे लिखते हैं 'आदर्शवादी सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षा का उद्‌गम प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट ने 'क्रिटिक आफ जजमेण्ट' (१७६० में प्रकाशित) से होता है, जिसके मूल निष्कर्षों को केन्द्र बनाकर समस्त आधुनिक सौन्दर्यवादी समीक्षा अपनी वैचारिकता की परिधि पर घूमती रही है। इसी किताब में कांट ने सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि सौन्दर्य का क्षेत्र विज्ञान, नीति अथवा उपयोगिता के क्षेत्र से अलग एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। क्योकि सौन्दर्यपरक स्थिति सम्पन्न मानसिक प्रक्रिया हमारे आनन्द, उपयोगिता सत्य अथवा शिवत्व के सामान्य गुण सम्बन्धी भाव–बोध से नितान्त भिन्न है। काट ने ही कला को निर्लिप्त सन्तुष्टि की प्रसिद्ध परिभाषा दी, जिसकी भ्रामक व्याख्या ने कलावादी विचारकों को अपनी अतिवादी प्रवृत्तियों के विकास का मार्ग बता दिया। कांट का अभिप्राय वासनाओं के आन्दोलन से अप्रभावित रहकर कला से प्रत्यक्ष सम्पर्क–स्थापन एवं सामयिक उपयोगितावादी लक्ष्यों की पूर्ति का साधन न बनने से था। कांट ने सामाजिक जीवन एवं दर्शन में कला की महान भूमिका के महत्व को भी कही अस्वीकार नहीं किया।''[१]

हिन्दी कविता और आलोचना पर अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद का व्यापक प्रभाव पड़ा है। इन कला दर्शनों की समझ विकसित करने के लिए वाजपेयी जी ने आलोचना के इस अंक में इन पर विभिन्न विद्वानों से सारगर्भिति लेख लिखवाये हैं।

अतिस्तत्ववादी चिन्तक सार्त्र की धारणाओं एवं भावनाओं को स्पष्ट करते हुए मनोहर वर्मा ने लिखा है, ''सत्ता एक सुस्पष्ट, दृढ़, ठोस, निश्चयात्मक उपस्थिति है, जो न क्रियाशील है न निष्क्रिय, न प्रमाणात्मक और न निषेधात्मक ही। चेतना की व्याख्या करते हुए ही सार्त्र ने अपने सूत्र की उद्‌भावना की है। चेतना वस्तु सत्ता का अनुभव स्वयं से भिन्न ति में 'स्व' से भिन्न की अनुभूत के रूप में करती है। चेतना वस्तु सत्ताओं को प्रतिबिम्बित करने वाली निष्क्रिय–दर्पण मात्र वस्तु नहीं है, वह वस्तुपरक जगत के विषय में परिणति, जिज्ञासु भी होती है। वस्तु परक जगत के चेतना विषयक आकलन प्रमाणात्मक अथवा निषेधात्मक कुछ भी हो सकते हैं। इस प्रकार अनुभव जगत की स्थिति द्विध्रुवीय है, जिनमे प्रत्येक ध्रुव की अपना स्वतन्त्र सत्ता है।''[२]

सार्त्र के अनुसार, ''मनुष्य की स्वतंत्रता उसकी प्रमुख सत्ता है' सार्त्र का अस्तित्ववाद ईश्वर का निषेध करता है। और मानव को ही अपने भविष्य का निर्माता स्वीकार करता है। सार्त्र का विचार है कि मनुष्य को उसकी स्वतंत्रता कहीं से किसी के द्वारा प्रदत्त वस्तु नही है। उसका ज्ञान उसे स्वयं ही होता है, हमे स्वतंत्र होना चाहिए यह भी एक भ्रामक उद्‌बोधन है, क्योंकि हम वही है ही। हम 'स्वतंत्र रहने के लिए अभिशापित हैं। मनुष्य अपनी इस स्वतंत्र स्थिति मे सृजनात्मक कार्य करता है। सार्त्र ने 'स्वतंत्रता' का अध्ययन तीन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है–

१ व्यक्ति में व्यक्ति को केन्द्रबिन्दु मानकर।

(१) २६ ५६ पृ १०६
(२) वही पृ १२७

२ : व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध मे,

३ : परिस्थितियों से सम्बन्धित स्थिति में।

सार्त्र ने फ्रायड, जंग एवं एडलर के मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों को स्वीकार नहीं किया है। उक्त निष्कर्षों के अनुसार व्यक्ति के संगठन के लिए उसकी वे विशेष परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं जिनके द्वारा उसका व्यक्तित्व विशिष्ट आकार ग्रहण करता है और जो उसके अधिकार में नहीं होती। मानव अपने पाप, पराजय, कायरता, दुर्बलता, उत्तरदायित्वों और स्वतंत्रता, हीन सत्ता स्थिति को कुण्ठाओं जन्म एवं वातावरण के विशेष पोषण के सिर मढ़ दे सकता है। सार्त्र आग्रह पूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि व्यक्ति में कुण्ठा–जैसी लक्षित होने वाली वस्तु अनेक निर्णय प्रतीक्षित संघर्ष मात्र होते हैं और व्यक्तित्व परिवर्तन इन निर्णयो द्वारा सम्भव है। परिस्थितियाँ व्यक्ति को भले ही शासित करें, किन्तु उसकी स्वतंत्रता तब भी अविजित रहती है। अस्तित्ववादियों ने ६ प्रकार की स्थितियों को एकमत से स्वीकार किया है। वे हैं १–स्थिति विपन्नता, २–सम्भावना एवं भाग्य, ३–क्लेश, ४–मानवीय संघर्ष एवं विरोध, ५–अपराध एवं ६–मृत्यु।

यद्यपि अस्तित्ववादी आकस्मिक अचूक एवं स्वेच्छाकारी दुर्घटनाओं को स्वीकार करते हैं परन्तु उनका मानना है कि मनुष्य उसके संकल्पात्मक निर्णयो एवं कार्यों से उत्तरदायित्व को समझ सकता है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य जन्म का निर्वाचन स्वयं मनुष्य करता है। मनुष्य का स्रष्टा ईश्वर नहीं है और इसलिए मानव–स्वभाव, उसका विकास, उसका भविष्य भी निश्चित एवं पूर्व मीमांसित नहीं है। मनुष्य के अस्तित्व में आने के पश्चात परिस्थिति, देश, काल एवं अन्य चेतना केन्द्रों से संघर्षशील होता है और तब फिर कहीं स्वयं अपनी व्याख्या करने के लिए सामग्री प्राप्त करता है।

इस सिद्धान्त का सार्त्र के समकक्ष आलोचकों ने कड़ी आलोचना भी की उनका कहना था कि, "अस्तित्ववादियों की रचनाओं में मानव–जीवन की व्यर्थता, यौन–प्रवृत्तियों का इकाई देने वाला घृणोत्पादक विश्लेषण सामाजिक अराजकता, आर्थिक अनिश्चयात्मकता और ह्रासोन्मुख मानव संस्कृति के चित्र ये सब साहित्य को व्याख्याहीन, अश्लील, अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों की अतिवादिता पलायन और निराशावादी घोषित कर दिया। उनका तर्क था कि सार्त्र की अनीश्वरवादी स्थिति में, मनुष्य के स्वयं आरोपित उत्तरदायित्व के कारण नैतिक मूल्यों के आयामों का अभाव उपस्थित होता है जिसका नंगा चित्र उन उपन्यासो में है।"[1]

कुछ आलोचकों का तर्क था कि व्यक्ति के स्वतंत्र मूल निर्धारण का सिद्धान्त, मानवता के लिए उभयनिष्ठ मूल्यों की स्थापना करने में असमर्थ ठहराता है। मृत्यु की लक्ष्यहीन अर्थशून्य समाप्ति एवं पुनर्जीवन के प्रति प्रदर्शित अस्तित्व वादीदृष्टिकोण, अन्धविश्वासी और तर्कशून्य मस्तिष्क की उपज है। उन्होंने यह भी कहा कि यह नकारात्मक, पलायनवादी दृष्टिकोण है जो सामयिक सक्रान्तिकालीन मानव जीवन के लिए अत्यधिक हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

कीर्केगार्ड का आस्तिक अस्तित्वादी दर्शन कतिपय स्थलों पर गीता के

---

(१) पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ १०६

कर्मवाद का विदेशी रूप जान पड़ता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद की दार्शनिक मान्यताओं एवं उसकी साहित्यिक परिणति में हमें आश्चर्यजनक वैषम्य लक्षित होता है और वस्तुतः अस्तित्ववादी की प्रमुख दुर्बलता यही है। उक्त दर्शन जीवन के जिन कटु सत्यो के उद्‌घाटन द्वारा मानव मात्र को संघर्ष तटस्थता और कर्मठता का पाठ पढ़ाना चाहता है। वहाँ उनके चित्रण द्वारा नैराश्य पराजय, आस्थाहीनता और ध्वन्सोन्मुखी सभ्यता की निष्क्रिय स्वीकृति को ही अभिव्यक्ति मिल सकी है।

'मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन' क्रम में डॉ. रामविलास शर्मा का मत है, "प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमे मार्क्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम उसकी विषय वस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उन तत्वों को पहचान सकते हैं जो प्राचीन काल के लिए उपयोगी थे किन्तु आज उपयोगी नहीं रह गये। हम उन तत्वों को परख सकते हैं जो उस प्राचीन युग के लिए भी उपयोगी नही थे या उपयोगी थे तो कुछ सम्पत्तिशाली लोगों के लिए ही थे, और जिन्हें उस काल की ऐतिहासिक सीमाएं देखते हुए भी प्रतिक्रियावादी कहा जायेगा। हम विभिन्न मूल्यों के निर्माण में विभिन्न वर्गों की भूमिका प्रगतिशील थी या प्रतिक्रियावादी और उसके अनुरूप उस वर्ग द्वारा निर्मित मूल्य जनता के लिए उपयोगी थे अथवा हानिकारक। विभिन्न वर्ग एक ही समाज में रहने के कारण एक दूसरे को प्रभावित करते हैं उनकी वर्ग संस्कृति को परखते हुए इस परस्पर प्रभाव को भी देखना होता है।"(१)

उपर्युक्त निबन्धों का काफी प्रभाव उस समय के काव्य पर पड़ रहा था। अस्तित्ववाद का स्पष्ट प्रभाव तो अज्ञेय के काव्य पर देखा जा सकता है। उसी प्रकार काव्य की कुछ और प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया जा रहा था जिनमे प्रतीकवाद प्रतिबिम्बवाद इत्यादि प्रमुख थे। इस दृष्टि से इनकी चर्चा हिन्दी आलोचना जगत के लिए प्रासंगिक और आवश्यक थी।

इस शीर्षक के अन्तर्गत उस समय की कुछ काव्य प्रवृत्तियों पर विचार किया गया जिनमें बंगला साहित्य, तेलगू काव्य, मराठी कविता, फ्रांसीसी कविता इत्यादि प्रमुख हैं। राष्ट्र निर्माण और लेखक या लेखक का योगदान इत्यादि शीर्षकों के अन्तर्गत भी विचार किया गया। इससे यह पता चलता है कि आचार्य वाजपेयी की दृष्टि समूचे भारतीय काव्य एवं काव्य प्रवृत्तियो पर केन्द्रित थी।

समीक्षित पुस्तकें

आचार्य वाजपेयी जी के सम्पादकत्व में मूल्यांकन के अन्तर्गत ४६ पुस्तकों की समीक्षाएं प्रकाशित हुईं। समीक्षित पुस्तकों के काव्य शास्त्र, दर्शन कविता, उपन्यास आदि से सम्बन्धित रचनाएं हैं। किन्तु प्रमुखता उपन्यास समीक्षाओं की अधिक है। इस दृष्टि से 'जहाज का पंछी, परती परिकथा, बूँद और समुद्र, उखड़े हुए लोग, दुख मोचन, 'दूर के ढोल, चाँद रानी आदि उपन्यासों की समीक्षाएं उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों की समीक्षाओं में समाज

(१) पूर्णांक २३ अप्रैल ५७ पृ ३६

शास्त्रीय आलोचना पद्धति का विकास दृष्टिगोचर होता है। परती परिकथा पर एक साथ तीन आलोचकों द्वारा विचार कराया गया है। आचार्य वाजपेयी ने परती परिकथा पर तीन समीक्षकों की समीक्षाएं प्रकाशित करने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–"इसी अंक में अन्यत्र श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' के नये उपन्यास 'परती परिकथा' पर तीन समीक्षाएं प्रकाशित की जा रही हैं। यद्यपि ये तीनो निबन्ध 'प्रस्तुत प्रश्न' शीर्षक के अन्तर्गत दिए गए हैं, परन्तु 'परती परिकथा' हमारी दृष्टि में कोई विवादग्रस्त कृति नहीं है। उसका महत्व बहुत कुछ असंदिग्ध है, यद्यपि सामयिक पत्र पत्रिकाओं में कही कहीं उस पर विपरीत और विरोधी चर्चा भी हुई है। हमें देखकर आश्चर्य हुआ है कि 'रेणु' की पहली कृति 'मैला आंचल' की शतमुखी प्रशंसा करने वाले लोग भी "परती परिकथा' से सहसा परांगमुख हो उठे हैं। 'मैला आंचल' की इतनी अधिक विशेषताएं 'परती परिकथा' में और भी परिष्कृत रूप में ग्रहण की गई हैं और 'परती परिकथा' इतनी बड़ी मात्रा में स्वतंत्र कृति बन पाई है कि केवल इस विशेषता पर लेखक हमारी बधाई का अधिकारी होता है।" [१]

स्वयं वाजपेयी जी ने 'रेणु' की इस रचना पर अपने सम्पादकीय मे विचार करते हुए लिखा है, "रेणु के आंचलिक उपन्यासों की बहुत बडी विशेषता यह है कि वे अतिशय सीमित क्षेत्र की घटना, भाषा और बोलचाल से सम्बद्ध होते हुए भी एक विलक्षण सांकेतिकता के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को ध्वनित और व्यंजित करते हैं। उनमें दो शक्तियाँ प्रशस्त रूप में पाई जाती है। जीवन की बारीक से बारीक विविधता का प्रदर्शन और सामयिक राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति।"[२] इस उपन्यास को पढ़कर हमारे समक्ष कोसी अंचल की सम्पूर्ण दृश्यावली ही नहीं झलक उठती, बल्कि उस दृश्यावली के साथ कलाकार की अप्रतिहत और अदम्य आस्था और अन्तदृष्टि भी झाँकने लगती है।

'परती परिकथा' के तीनों समीक्षकों क्रमशः डॉ प्रेमशंकर, गोपीकृष्ण प्रसाद और श्री धनन्जय वर्मा ने अपनी समीक्षाओं में इस बात पर विशेष बल दिया है कि यह 'मैला आंचल' की ही परम्परा का एक आंचलिक उपन्यास है। डॉ. प्रेमशंकर ने इस उपन्यास की कथा संगठन, चरित्र चित्रण आदि पर प्रकाश डालने के बाद यह जाँचने की कोशिश की है कि इस उपन्यास में सामाजिक जीवन और उसकी समस्याओं का चित्रण कहाँ तक हुआ है। वे लिखते है–"अनेक कहानियों से भरे, कथानक और विविध प्रकार के चरित्रों की विवेचना के अनंतर हम ये देखना चाहेंगे कि उपन्यास में किन्हीं समस्याओं या प्रश्नों का प्रतिपादन है या नहीं। यों तो उपन्यासकार का यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसी राजनैतिक अथवा दार्शनिक की भाँति जीवन के प्रश्नों का उत्तर पेश करे किन्तु जीवन प्रतिबिम्ब होने के कारण इस साहित्य रूप में भी कुछ समस्याएं आ जाती हैं।"[३]

डॉ. प्रेमशंकर की यह धारणा साहित्य को समाजशास्त्रीय दृष्टि से परखने का आग्रह करती है। अपने इस दृष्टिकोण के तहत डॉ. प्रेमशंकर ने

(१) आलोचना पूर्णांक २४, अक्टूबर ५७, पृ. १
(२) वही पृ ८
(३) वही पृ ७२

'परती परिकथा' का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'रेणु' ने एक प्राचीन अंचल की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को एक तटस्थ लेखक के रूप में चित्रित किया है। ये लिखते हैं, "किसी विशेष समाजशास्त्रीय अथवा राजनैतिक प्रणाली का आग्रह न होने के कारण लेखक ने उपन्यास को एक दूसरी दिशा दी है—संघर्ष बहुत प्रखर नहीं होने पाया है। भीतर ही भीतर अग्नि प्रज्जवलित होती रहती है पर उसका विस्फोट एकाध अखबारों पर ही होता है।"(१)

गोपीकृष्ण प्रसाद ने 'परती परिकथा' को समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखते हुए स्पष्ट किया है कि 'परती परिकथा' भौतिकवादी परम्परा का उपन्यास है। ये लिखते हैं, "प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास की दो धारायें चलीं, एक जैनेन्द्र अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की धारा और दूसरी भौतिकवादी उपन्यासो की दूसरी धारा। इस दूसरे वर्ग से मेरा मतलब भौतिकवादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि बहिर्जगत की घटनाओं, व्यापारों से रचित कृतियों की प्रणाली से है। 'रेणु' इसी धारा के श्रेष्ठ लेखक हैं।"(२)

इस दृष्टि से उन्होंने 'परती परिकथा' की ही नहीं बल्कि उनके समूचे उपन्यास साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता को रेखांकित करते हुए लिखा है " 'रेणु' के उपन्यासों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके द्वारा पाठक भारतीय दुनिया की वित दुनिया में पहुँचकर विभिन्न मार्मिक दृश्यों का साक्षात्कार करता है। ये दृश्य पृथक चित्र मात्र नहीं बल्कि समन्वित रूप से एक संसार प्रस्तुत करते हैं जो भारतीय जीवन की सबसे बड़ी यथार्थता है।"(३) "रेणु' की शक्ति की चर्चा करते हुए इन्होंने लिखा है—"रेणु की सबसे बड़ी शक्ति है ग्रामीण जीवन के आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्तरों का व्यापक और गहरा उद्‌घाटन, उसकी लोक रीति और लोक व्यवहार की पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति, जिससे एक नवीन दृष्टि का उन्मेष होता है।"(४) इसी तरह से ध नन्जय वर्मा ने भी रेणु के इस उपन्यास में समाज के यथार्थ चित्रण और उनकी जनोन्मुखता की सराहना की है। उन्होनें यह स्पष्ट किया है कि 'परती परिकथा' एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है। उसमें चित्रित आंचलिकता का परिचय है व्यक्ति और समाज के घनिष्ट सम्बन्धों का चित्रण होना। ये लिखते हैं —परिकथा मे अनेक चित्र है, विभिन्न समाज के, समग्र समाज के भी। यहाँ वैयक्तिक समस्याओं का हल है—मन मोटा कर मिल बैठकर यहाँ ग्राम की समस्याओं का हल है। जमींदार का विरोध कर, राजनैतिक दांवपेच से राजनैतिक समस्याओ का हल है—आक्रोश प्रकट कर और समझौता कर।"(५)

धर्मवीर भारती के 'अंधा युग' की समीक्षा करते हुए मनोहर वर्मा ने समाज शास्त्रीय दृष्टि का परिचय दिया है। जो लोग अन्धायुग में समाज शास्त्रीय वैज्ञानिकता का अभाव देखते हैं उनको उत्तर देते हुए मनोहर वर्मा ने

---

(१) आलोचना पूर्णांक २४, अक्टूबर ५७, पृ. ७१
(२) वही, पृ. ७८
(३) वही पृ ७८
(४) वही पृ ७६
(५) वही पृ ८४

लिखा है, "इसको अवश्य ही स्वीकार किया जायेगा कि भारती ने युद्ध सम्बन्धी समस्या का हल नहीं किया है किन्तु क्या समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक हल निकालने तक ही सीमित हैं।"(१) आगे वे लिखते हैं, "'अन्धा युग' हिन्दी काव्य मे अपने ढंग की पहली कृति है। इसमें आज के सांस्कृतिक ह्रास की ग्लानि और पश्चाताप के यथार्थ चित्रों के साथ एक आशावादी भविष्य का सन्देश भी मिलता है। आज जबकि हिन्दी काव्य प्रयोगवाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि बौद्धिक चेष्टाओं द्वारा कार्य को दुरूह और क्लिष्ट अलंकरण दे रहा है, भारती का यह प्रयास प्रशंसनीय है। उन्होंने वादों की सीमा में अपने काव्य व्यक्तित्व को नहीं आने दिया है। जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। 'अन्धा युग' द्वारा हमारे हिन्दी साहित्य के एक अंग की पूर्ति हुई है।"(२)

इन पुस्तक समीक्षाओं के अतिरिक्त कुछ और पुस्तकों पर मूल्यांकन से सम्बन्धित लेख छपे हैं। इनमें विषय की विविधता है। इन निबन्धों में साहित्य की हर विधा को देखा परखा गया है जैसे–भागवत सम्प्रदाय, भारतीय संस्कृति भगवान बुद्ध, पद्मावत, मूल और संजीवनी व्याख्या, फल दर्शन, प्रतिमा विधान हिन्दी रीति साहित्य, अपभ्रंश साहित्य, राजनीति और दर्शन, बौद्ध धर्म दर्शन और शैव मत, जय वर्धन, ब्रह्मपुत्र, संस्कृत आलोचना इत्यादि है। इनके अतिरिक्त एक–आध लेख, कविता, कथा, समीक्षा पर भी देखने को मिलते हैं।

आलोचना दृष्टि

जब 'आलोचना' पत्रिका के सम्पादन का दायित्व आचार्य वाजपेयी को सौपा गया तब तक इन्होंने अपने आप को साहित्यिक जगत में समीक्षक के रूप मे स्थापित कर लिया था। इसके पहले के सम्पादक मण्डल में जितने भी लोग थे इनकी सामूहिक आलोचना दृष्टि निर्दिष्ट नहीं हो सकती थी। यह बात बहुत स्पष्ट है कि अगर सम्पादक की खुद की दृष्टि सुदृढ़ नहीं है तो वह आलोचना क्या करेगा ? इसी बात को ध्यान में रखकर ऐसे व्यक्ति के हाथ में पत्रिका सौपी गयी जिसकी दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट थी।

यह सर्वमान्य तर्क है कि जिस किसी भी दृष्टिकोण का सम्पादक होगा उसी तरह के लेखकों, लेखों, समीक्षाओं और रचनाओं को महत्व देगा। यह बात और है कि अपनी दृष्टि को व्यापक बनाने, बताने और दिखाने के लिए किसी और तरह के निबन्ध भी प्रकाशित हुए। आचार्य वाजपेयी जी ने भी ऐसा ही इस पत्रिका में किया है। अपने सीमित कार्यकाल में ही इन्होंने जिन लेखकों को और लेखों को महत्व दिया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। एक तरफ 'रस सौन्दर्य और आनन्द', 'नई कविता दो समीक्षाए, नई कविता प्रयासों की परीक्षा, नई कविता प्रयोग की समस्या, नई कविता एक प्रश्न, जैसे प्रमुख निबन्धों मे 'वाद' और नई कविता की तीव्र आलोचना छापी गयी। यहीं दूसरी ओर अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद, प्रतिविबम्बवाद, मार्क्सवाद और प्राचीन काव्य का मूल्यांकन, उपयोगितावाद, आदि निबन्धों में नई कविता और वादों के समर्थको को भी ध्यान दिया गया।

(१) आलोचना पूर्णांक २० अक्टूबर ५६ पृ १२१
(२) वही पृ १२१

आचार्य वाजपेयी जी ने अपने सम्पादकीय लेख में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि 'आलोचना' को सार्वजनिक बनाने का हमारा लक्ष्य है। इस बात पर हमेशा ही वाजपेयी जी बल देते हैं कि हिन्दी में साहित्य स्तर पर लेखकों और पाठकों के एक राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता है। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की जायेगी। 'आलोचना' द्वारा सम्यक साहित्यिक बोध देना हमारा कार्य होगा। हम किसी साहित्यिक कृति में कोई ऐसी वस्तु नहीं देखेंगे जो उसमें नहीं है। जान बूझकर या अनजाने में जो निर्णय दिये जा रहे है उन पर सतर्कता पूर्वक विचार करेगे। प्राचीन साहित्य को नये परिप्रेक्ष्य में भी देखने का प्रयास करेंगे जिससे कि राष्ट्र के वर्तमान संक्रान्ति काल में प्राचीन और नवीन की एक सुसम्बद्ध और समन्वित शृंखला बनी रहे।

आचार्य वाजपेयी जी कहते हैं कि जब साहित्य सृष्टि नई दिशा में अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी और अपनी स्वाभाविक परिणति भी प्राप्त करती तब सहसा नये वादों का नारा लेकर बहुत से चिन्तक साहित्य के क्षेत्र में आ गए। काव्य रचना में आवेशों का प्रभाव पड़ने लगा और कविता फिर से एकागी आग्रहों की परिचारिका बन गई। ये और बात है कि जिन वादों का प्रचलन हुआ वे सभी विदेशी वाद हैं। ये सभी प्रायः मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्त से सम्बद्ध है। पूर्ववर्ती साहित्य में भारतीय भूमिका पर ही काव्य चिन्तन की परम्परा आगे बढ रही थी, पर यहाँ आकर उसने एकदम विदेशी रंग ग्रहण किया।

मार्क्सवादियों ने साहित्य को वर्ग संघर्ष की भूमिका पर ग्रहण करने की शिक्षा दी पर वहीं दूसरी ओर यह भी कहा कि एक निश्चित क्रम से ही पूंजीवादी युग का काव्य समाजवादी साहित्य में परिवर्तित होता है।

आधुनिक साहित्य में बहुत से कवि स्वयं विवेचक समीक्षक बन गए हैं जो कोई उपादेय नहीं है। हिन्दी के कवि समीक्षक नई चर्चा को उठाकर हिन्दी समीक्षा का हित नहीं कर रहे हैं बल्कि कवियों के लिए नया प्रस्ताव रख रहे है। कवि की दृष्टि अलग होती है और समीक्षक की अलग। कवि और समीक्षक का आदर्श एक नहीं होते, जिससे कि कवि की समीक्षा लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक करती है।

वाजपेयी जी अपना क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं कि हम समीक्षा के क्षेत्र में बिल्कुल ठहरे हुए हैं। अभी हमको आगे बढना है इसके लिए कवियो के जन–सम्पर्क का आग्रह किया जाय, साथ ही आलोचना की तटस्थ अनुशीलन आरम्भ किया जाय, जो साहित्यिक परम्परा के सहयोग, अधिक से अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सके।

यदि हम किसी पूर्व ग्रह से मुक्त होकर मूलभूत जीवन–विकास के प्रति वास्तविक श्रद्धा और आस्था है तो उससे हमारा साहित्यिक कृतित्व अवश्य उपकृत होगा और हमारी समीक्षा दृष्टि को भी निश्चय ही नई ज्योति प्राप्त होगी। वाजपेयी जी यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, वह स्वायत्त है, फिर भी वे मानते हैं–यह सत्ता जीवन सापेक्ष है। जीवन निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन सापेक्ष कला के लिए कला सिद्धान्त है। वास्तव मे समीक्षक वाजपेयी जी की दृष्टि में साहित्य का और एक मात्र प्रतिमान सौन्दर्य ही है

सम्पादक के साथ उनके सहयोगी लेखकों ने भी आलोचना दृष्टि के निर्माण में योग दिया। उदाहरण के लए ब्रजलाल वर्मा ने प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता को एक ही काव्यधारा के अलग–अलग नाम कहा। उन्होंने जगदीश गुप्त के इस प्रश्न का 'कि नई कविता भी अपना पैर जमा लेगी' का उत्तर देते हुए कहा कि, "डॉ. जगदीश गुप्त जो प्रयोगवाद के हिमायती हैं, का विश्वास है कि जिस प्रकार छायावाद के प्रारम्भ में उसका बड़ा विरोध हुआ किन्तु अन्ततोगत्वा उसने अपनी जड़ें जमा ही लीं। उसी प्रकार नई कविता के प्रारम्भ में उठने वाले विवाद एक दिन क्षीण हो जायेंगे। और नई कविता व्यापक प्रतिष्ठा की अधिकारिणी हो सकेगी। यह तर्क तो नई कविता के पूर्व ही उसकी मृत्यु की सूचना देता है। प्रयोगवादी ही यह मानते हैं कि छायावाद को अपनी कुछ विकृतियों के कारण अविकसित ही मर जाना पड़ा तो फिर डॉ. जगदीश जी का यह तर्क क्या नई कविता के सम्बन्ध में पूरा का पूरा स्वीकार कर लिया जाय।"(१)

ब्रजलाल वर्मा ने 'नई कविता : एक प्रश्न' में कुछ प्रश्न नई कविता और उसके हिमायती लोगों से पूछा है। इन्होंने यह बात स्पष्ट की है कि आधुनिक काव्य धारा पर अंग्रेजी कविता की आधुनिक प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव है, शैली मे विशेष रूप से। अंग्रेजी कविता के 'वाद' हिन्दी कविता में 'विवाद' बनते गए वहाँ का रोमांटिसिज्म यहाँ का स्वच्छन्दतावाद, वहाँ का सिम्बलिज्म यहाँ का प्रतीकवाद, वहाँ का इमेजिज्म यहाँ का बिम्ब विधानवाद, वहाँ का आइडियलिज्म यहाँ का आदर्शवाद, वहाँ का रियलिज्म यहाँ का यथार्थवाद बन गया। आधुनिक हिन्दी काव्य के मूल में अनुकरणवाद की प्रधानता ही लक्षित होती है, यह किसी भी स्वतंत्र जाति के साहित्य के लिए नितान्त घातक है।

इन्होंने कहा है कि नये कवि समीक्षक भी बन जाते हैं। मानो यह कहने के लिए यह बहुत अच्छी कविता है इसे कोई माने या न माने मैं मानता हूँ। नई कवितावादी बे–सिर–पैर के अनर्गल प्रसंगों की अवतारणा, अप्रचलित शब्दावली का प्रयोग स्वच्छन्द एवं विरल शैली में करने लगे जिससे कविता में दुरूहता आने लगी।

अन्त में नये कवियों से प्रो. वर्मा जी कहते हैं कि, "मानव की मूल सौन्दर्य बोध प्रवृत्तियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें बदलने का प्रयास व्यर्थ रहेगा। मानव हृदय के चेतना को उज्जवलित करने वाले तत्वों का कविता में समावेश होता रहे तो कविता रहेगी, अन्यथा एक बुद्धि विलास मात्र होकर अपना स्वाभाविक स्वरूप खो बैठेगी।

आचार्य वाजपेयी के सम्पादन काल में जिन लेखकों को महत्व देकर छापा गया उनमें डॉ. रामरतन भटनागर, डॉ. रामअवध द्विवेदी और गंगाधर झा प्रमुख थे। डॉ. रामरतन भटनागर के निबन्ध वाजपेयी जी के सम्पादन काल के करीब–करीब हर अंक में छपे। इन्होंने इन लेखों में प्रतीकवाद, पश्चिमी नाटक, आधुनिक पश्चिमी काव्य, नया उपन्यास, उपयोगितावाद, मानवतावादी और मनोवैज्ञानिक पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया।

---

(१) पूर्णांक २० अक्टूबर ५७ पृ ७३

'उपयोगितावाद : मानवतावादी और मनावैज्ञानिक शीर्षक निबन्ध मे रिचर्ड्स और ताल्सताय का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए डॉ. भटनागर जी ने कहा है, "कला–चिन्तन के क्षेत्र में ताल्सताय की विशिष्टता कला द्वारा आनन्द बोध के विरोध और नैतिक वाद की स्थापना में है। उनके शब्दों मे, "कला का मूल्यांकन मनुष्य के जीवनाभिप्राय बोध पर निर्भर है, इस पर निर्भर है कि व जीवन में किसे अच्छा, किसे बुरा समझते हैं और क्या भला है, क्या बुरा है यह बताने वाले धर्म हैं।"

ताल्सताय के विचार कला को मानवतावादी (उपयोगितावादी) और व्यावहारिक सिद्ध करते हैं। उनमें बौद्धिक कला का बोध है, उनमें अनुभूय और बोधगम्य बनाना।

डॉ रामरतन भटनागर ने रिचर्ड्स के बारे में लिखा है–"रिचर्ड्स कवि के कथनीय कविता मे भेद करते हैं। उनके अनुसार कवि का वैयाकरणीय तत्व विषय वस्तु से स्वतंत्र और महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी एक उपपत्ति यह भी है कि काव्य में शब्द, ध्वनि और शब्द, मर्म जिन्हें बहिरंग कहा जाता है, उसके अन्तरंग के विरोधी होते हैं और इस द्वन्द्व के भीतर से ही वाच्यार्थ बोधित होते हैं। कविता में शब्द प्रयोगों और छन्दों की स्थिति इसीलिए महत्वपूर्ण है कि उनके द्वारा हम अंतरंगीय भाव–बोध को ग्रहण करने के लिए सवेदित होते हैं।

डॉ रामरतन भटनागर ने रिचर्ड्स के कविता सम्बन्धी जिन विचारों को व्यक्त किया है उससे इनकी दृष्टि भी साफ झलकती है। इनका कहना है कि "रिचर्ड्स ने कविता को विचारों से स्वतन्त्र इकाई माना है। कविता में कवि के व्यक्तित्व का सार्वभौम प्रकाशन रहता है। इसीलिए विज्ञान युग में भी कविता की सुरक्षा आवश्यक है। वास्तव में कविता विचार–निरपेक्ष और स्वतन्त्र रहकर ही अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकती है। कविता का यह स्वातंत्र्य वैज्ञानिक प्रपत्तियों से ही सम्बन्ध नहीं रखता, राजनीतिक और सामाजिक विचारों से भी उसका स्वातन्त्र्य अपेक्षित है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह कार्य कठिन है, क्योंकि महत् काव्य में कवि अनिवार्यतः अपने दृष्टिकोण के साथ अपनी आस्थाओं को भी गूँथ लेता है।"(१)

डॉ. रामअवध द्विवेदी के दो मुख्य निबन्ध आलोचना के अंक में प्रकाशित हुए, इनमें पहला है–'काव्य में प्रतीक विधान' तथा दूसरा–स्वच्छन्दतावाद का परवर्ती काव्य चिन्तन।

डॉ. रामअवध द्विवेदी जी ने स्वच्छन्दतावाद पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को एवं आन्दोलन को पूर्णतः स्पष्ट करते हुए कहा है, "स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि यद्यपि वह अनेक देशों में कुछ आगे कुछ पीछे सक्रिय और सशक्त रूप में प्रकट हुआ, तथापि उसमें आश्चर्य जनक एकरूपता थी। कल्पना और भावना की तीव्रता, गीत काव्य के प्रति आकर्षण, प्रकृति प्रेम, मानव के प्रति सहानुभूति स्वाभाविक प्रेरणा इत्यादि लक्षण सभी देशों की स्वच्छन्दतावादी रचनाओं में विद्यमान थे।

(१) पूर्णांक २६ अप्रैल ५६ पृ १०३

आज की साहित्यिक आलोचना पर विचार करते हुए डॉ. रामअवध द्विवेदी ने कहा है कि, "आधुनिक युग की आलोचना की अवस्था अत्यन्त अनिश्चित और उलझी हुई है।" इन्होंने इसके लिए टी. एस. इलियट का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है–

"इलियट महोदय ने आज की आलोचना की तुलना रविवार के दिन इंग्लैण्ड के पार्कों में दिए जाने वाले भाषणों से की है। प्रत्येक वक्ता कुछ कहता है, बिना यह जानने की चेष्टा किए हुए कि दूसरे क्या कह रहे हैं।"

उन दिनों आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी स्वयं ही बहुत बड़े आलोचक, समीक्षक थे जिन्होंने शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया, लेकिन पत्रिका के माध्यम से जिन लेखकों ने अपना–अपना योगदान दिया है उनमें डॉ. रामरतन भटनागर, डॉ राम अवध द्विवेदी, ब्रजलाल वर्मा, गंगाधर झा, डॉ. भगीरथ मिश्र, डॉ. शम्भूनाथ सिंह इत्यादि प्रमुख हैं।

आचार्य वाजपेयी ने विश्व–काव्य का भी मूल्यांकन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विद्वान–लेखकों द्वारा कराकर उनके प्रमुख प्रवृत्तियों को रेखांकित करने का कार्य किया। जिससे कि शुक्लोत्तर समीक्षकों को इसका लाभ मिल सके, और आनग वाली समीक्षा प्रौढ बन सके। इनमें, रवीन्द्रनाथ, शैली, वर्ड्स वर्थ, सूरदास, तुलसीदास और कालिदास इत्यादि विश्व स्तर के कवियों का अध्ययन एवं मूल्यांकन प्रमुख है।

चतुर्थ अध्याय :

आलोचना पत्रिका के नए सम्पादक : आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

आलोचना पत्रिका के नये सम्पादक और उनकी आलोचना दृष्टि :

आलोचना पत्रिका के नये सम्पादक :

'आलोचना' के आरम्भिक छः अंकों का प्रकाशन डॉ. शिवदान सिंह चौहान के सम्पादकत्त्व में सम्पन्न हुआ। डॉ. शिवदान सिंह ने 'आलोचना' को पूर्णतः समृद्ध किया फिर भी युगीन आवश्यकता के अनुसार इसके रूप को और निखारने के लिए एक सम्पादक के स्थान पर सम्पादन समिति का निर्माण किया गया, जिसमें उस समय के चार प्रमुख साहित्यकारो को स्थान दिया गया। साथ ही एक सहकारी सम्पादक की आवश्यकता भी महसूस हुई जिसे श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' जैसे प्रतिभावान सर्जक ने पूरा किया। सम्पादन समिति में डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा और श्री विजयदेव नारायण साही थे। इन लोगों ने कठिन परिश्रम करके परिस्थिति के अनुरूप आलोचना को नये सिरे से समृद्ध करने का प्रयास किया क्योंकि पुनर्नवीकरण प्रत्येक युग की सार्थक आवश्यकता है और परिवर्तन में ही सृष्टि झलकती है।

सम्पादकीय वक्तव्य

'आलोचना' पत्रिका का सम्पादन दायित्व जब एक व्यक्ति से लेकर सम्पादन समिति को सौंपा गया तो इसके पीछे यही उद्देश्य रहा होगा कि पत्रिका की उत्कृष्टता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो। सम्पादन समिति ने उस समय की प्रमुख चर्चित साहित्यिक समस्याओं पर आपस में समझ–बूझकर ज्यादे अच्छे तरीके से इसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

इन लोगों ने अपने पहले ही अंक के सम्पादकीय वक्तव्य में 'समीक्षा का गहन दायित्व विषय पर विस्तृत रूप से विचार किया फिर आगे के अकों में

मुख्य रूप से 'साहित्य में गतिरोध', 'मूल्यगत संक्रमण और समीक्षा का मानदण्ड 'साहित्यकार और उसका परिवेश', 'इतिहास का पुनर्नवीकरण', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास मध्ययुग', 'जनवादी साहित्य आदि पर विचार किये।

'साहित्यकार और उसका परिवेश' शीर्षक सम्पादकीय वक्तव्य मे साहित्यकार के उत्तरदायित्व परिवेश, साहस और विवेक पर चर्चा करते हुए उन्हें लगा कि सामने जो अन्धकार है उसको भेदने के लिए, साहित्यकार को सब कुछ दाँव पर लगाना होगा। इसकी पुष्टि करते हुए उन्होंने लिखा कि, "वस्तुतः हमारे साहित्यकारों में अभाव ईमानदारी का नहीं है। देखना यह है कि क्या हमारा साहस भी ईमानदारी के बराबर है ? क्या हमारे लेखक अपने को अपनी शक्ति, अपनी ख्याति, सम्मान, सम्भवतः अपने विवेक को भी हमारे चारो ओर घिरने वाले अन्धकार को भेदने के लिए दाँव लगाने को तैयार हैं, ताकि वे उस प्रश्न का स्वरूप देख सकें जिसका उत्तर हमें देना है ? और उससे भी आगे, इसका पता लगा सकें कि कोई उत्तर दिया भी जा सकता है या नहीं ?"(१)

लेखक ने अपने उत्तरदायित्व को कहाँ तक निभाया और कहाँ वह हिम्मत हार गया यह कहने से पहले उसके परिवेश को भी देखना होगा, उसकी परिस्थिति को भी देखना होगा। साहित्यकार अपने युग की विशेष परिस्थिति के साथ ही चलता है। अपने सम्पादकीय में ही इसे स्वीकारते हुए कहते हैं कि "आज के लेखक ने अपने गहन उत्तरदायित्व को किस हद तक निभाया है, और कहाँ तक उसने हिम्मत हार दी है, इस पर निर्णय देने से पूर्व हमें उस परिवेश को भी देखना होगा जिसका पाश उसके चारों ओर है। साथ ही हमें समाज के उन लोगों को भी ध्यान में रखना होगा, जिनके ऊपर आज युग के नेतृत्व का भार है, युग के अभिशाप अथवा वरदान को लेखक सबके साथ ही झेलता है, इसमें सन्देह नहीं।"(२)

साहित्यकार में मुख्य रूप से दो बातें होनी चाहिए, पहली कि वह साहसी हो और दूसरी कि वह ईमानदार हो। सम्पादक ने अपने इस सम्पादकीय में नये लेखकों में ईमानदारी है, इस बात को स्वीकारते हुए लिखा है कि "इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकारों के सामने समस्या बड़ी गहन है, परन्तु एक तर्क जो उनके पक्ष में सबसे प्रबल है, वह यह कि उन्होंने ईमानदारी के साथ अपनी समूची आत्मशक्ति को दाँव लगाया है।"(३)

सम्पादक समिति ने यह शिकायत की कि हिन्दी साहित्य का इतिहास तो लिखा गया परन्तु उसमें मध्ययुग की बहुत सी सामग्री छूटती रही, "भारतीय इतिहास के मध्ययुग (आठवीं से उन्नीसवीं शताब्दी) के लगभग बारह सौ वर्ष की दीर्घकाल की राजनीति समाज, धर्म और संस्कृति में जो परिवर्तन हुआ उस पर एक साथ विचार कर पाना सम्भव नहीं था, परन्तु उसमें बहुत सी सामग्री छूट गई और उसे अज्ञात कोठों पर भटकने के लिए छोड दिया गया। मध्यकाल मे रचनाकारों ने कला साहित्य का समुचित उपयोग नहीं किया, फिर इतिहासकारो

---

(१) आलोचना अंक ११, सम्पादक- धर्मवीर भारती
(२) आलोचना अंक ११ अप्रैल ५४ सम्पादकीय
(३) अंक ११ अप्रैल ५४

ने बहुत सी सामग्री की उपेक्षा की।"(१)

उपन्यास विशेषांक सम्पादकीय में इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की गई कि उपन्यास, कहानी और नाटक की अपेक्षा नवीनतर साहित्य रूप है–"कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास नवीनतर साहित्य रूप है, पिछले तीन–चार सौ वर्षों में विश्व साहित्य को बड़े जोरदार ढंग से स्थापित किया। कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास में मानव जीवन के चित्रण के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र है। उपन्यास अपने पात्रों के माध्यम से दृश्य परिवेश की पृष्ठभूमि को वातावरण तथा परम्परा के सजीव वर्णन से सार्थक बना देता है। औपन्यासिक पात्र अगर आत्मान्वेषण करता है तभी वह सजीव पात्र बनकर उच्चकोटि का उपन्यास बनता है। अगर रहस्य, बौद्धिक ऊहापोह, रोमांचक कथाशिल्प है किन्तु उसका मानवीयपक्ष निष्प्राण है तो वह उपन्यास उच्च कोटि का नहीं बन पाता।"(२)

सम्पादक समिति ने अपने पहले ही अंक की लम्बी सम्पादकीय घोषणा से यह स्पष्ट कर दिया कि वर्तमान समीक्षा के ऊपर गहन दायित्व है। साहित्य में सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों को दिशा देने के लिए समीक्षक को सचेत रहना है। साहित्य का क्षेत्र जितना विस्तृत और विकसित हो रहा है, समीक्षक का दायित्व भी उतना ही गहन हो गया है। सम्पादक समिति ने 'हिन्दी समीक्षा का गहन दायित्व' शीर्षक के सम्पादकीय में लिखा, "अपने साहित्यिक विकास की जड़ें परम्परा में और भी गहरी तथा मजबूत करने के लिए हमें अपनी समस्त परम्परा के प्रत्येक सूत्र के सामाजिक पुनर्मूल्यांकन के कार्य में संलग्न हो जाना है और अपने सांस्कृतिक विरासत की लोक परम्पराओं और प्राणवान धाराओ द्वारा विकसित मूल्यों को पुनः स्थापित करके वर्तमान सांस्कृतिक अभियान को एक वैज्ञानिक जनवादी दिशा प्रदान करनी है।"(३)

हिन्दी समीक्षा समवेत रूप से अपने विराट दायित्व को आत्मसात नही कर पाई है। हिन्दी आलोचना क्रियाशील अवश्य है परन्तु अपनी साहित्यिक परम्पराओं और समकालीन परिस्थिति की सापेक्षता में उसने अपने गम्भीर दायित्व को पहचाना है इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। जब तक उचित निर्देशन, व्यापक, उदार, सर्वांगीण वस्तुपरक, वैज्ञानिक समीक्षा–दृष्टि विकसित नहीं होती तब तक समीक्षात्मक लक्ष्य भ्रष्ट होता रहेगा, गलत दृष्टिकोण बना रहेगा तथा अन्य कई तरह की विकृतियाँ आती रहेंगी।

प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान के हाथ से पत्रिका को लेकर धर्मवीर भारती एवं सहयोगियों के हाथ देने का अर्थ तो स्पष्ट ही है कि पत्रिका एक निश्चित विचारधारा से हटाकर एक ऐसी जगह स्थापित की जाय जहाँ से साहित्य के हर दृष्टिकोण को आग्रहहीन होकर देखा जा सके। इसे हम इनकी सम्पादकीय घोषाणाओं में देख सकते हैं जिसमें इन लोगों ने मार्क्सवादी चिन्तनधारा को एकांगी बताया है, और परम्परा के ऐतिहासिक मूल्यांकन पर बल दिया है। परम्परा को जीवित रख सकें, उसे अपना सम्बल बना सकें, "हिन्दी

(१) आलोचना अंक ११ अप्रैल ५४ सम्पादकीय
(२) पूर्णांक १३ अप्रैल ५४
(३) वर्ष २ अंक ३ पूर्णांक ७ अप्रैल ५३ पृ ७

समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी चिन्तन–धारा के प्रवेश के साथ इस बात की सम्भावना दीख पडी कि यह चिन्तन प्रणाली इस विराट कार्य को पूरा करेगी। किन्तु प्रारम्भ से ही इस निकाय का दृष्टिकोण इतना एकागी रहा कि कम से कम इनके हाथों से शास्त्रीय परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की आशा जाती रही। यही नहीं बल्कि वर्ग संघर्ष और जनवादी सांस्कृतिक परम्परा के जटिल रूप को समझे बिना इन्होंने समस्त प्राचीन संस्कृति को सामन्तवादी संस्कृति करार देकर उससे विच्छिन्न हो जाने का भी नारा लगाया। यह नारा न केवल अवैज्ञानिक बल्कि मार्क्सवाद की भी एक गलत व्याख्या थी।"[१] इस सम्पादक मण्डल के मतानुसार समीक्षक को किसी भी कृति की सामाजिक उपादेयता का मूल्यांकन करते समय इन जटिल सूक्ष्मताओं का पूरा ध्यान रखना चाहिए अन्यथा कुछ सतही एकांगी और हानिकारक दृष्टिकोण उभर आते हैं जो एक भ्रमपूर्ण स्थिति मे डाल देते हैं।

इन दिनों समीक्षकों की ओर से अक्सर यह आवाज उठती रही–"साहित्य मे गतिरोध', 'साहित्य में बौद्धिक शून्यता', 'बौनों का साहित्य'। इन्हीं आवाजो को ध्यान में रखकर सम्पादक समिति ने अपने सम्पादन काल की 'आलोचना' के दूसरे ही अंक में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया कि हिन्दी गद्य एव पद्य दोनों में ही कई नूतन प्रवृत्तियों का आभास मिलता है जो एक नये मोड की परिचायक हैं जो हिन्दी की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं के लिए समर्थ होती जा रही हैं, जिनका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढ़ती हुई समृद्धि का प्रमाण है। सम्पादक गण का मानना था कि कविता और नाटक की उपेक्षा उपन्यास नवीनतर साहित्यिक रूप है। उन्हीं के शब्दों में, 'कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है।"[२]

उपन्यास के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए यह आशा व्यक्त की गई है कि उपन्यास अपने आने वाले समय में एक सम्मानजनक स्थिति बना सकेगा, क्योंकि, हिन्दी–उपन्यास प्रगति और विकास के पथ पर अग्रसरित है। उसकी इस विकास यात्रा का एक दौर समाप्त हो चुका है। इस नये दौर में वह अपने लक्ष्य को जितना उच्च स्तर पर स्थापित करेगा, उतनी ही प्रौढ़ कृतियॉ प्रस्तुत कर सकने में वह सफल हो सकेगा और विश्व–उपन्यास के क्षेत्र मे सफल होकर अच्छी स्थिति में खड़ा रह सकेगा।

'जनवादी' साहित्य शीर्षक के सम्पादकीय में जनवाद और साहित्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साहित्य किस प्रकार से 'जन' से जुडा है और कितना समाज से जुड़ा है, "मार्क्सवादी सिद्धान्त का अस्तित्व इसलिए नही है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जाएं बल्कि इसलिए कि ये 'जन' के साथ जुड़ जाएँ।"[३] डॉ. रामविलास शर्मा के इन शब्दों को उद्धृत कर जनवादी साहित्य को और स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, "प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास मे

(१) आलोचना पूर्णांक ७, अप्रैल ५३, पृ.५
(२) आलोचना अंक १३ अक्टूबर ५४
(३) अंक १४ जनवरी ५५ पृ १

सहायक होता है।"[9]

प्रकाशित लेखों का वर्गीकरण

सम्पादक समिति ने कुल मिलाकर ग्यारह अंकों का सम्पादन कार्य किया। जिसमें दो विशेषांक थे, पहला 'आलोचना' विशेषांक और दूसरा उपन्यास विशेषांक के रूप मे निकाले। बाकी सभी अंक सामान्य रूप से प्रकाशित किये गए। इन अंको में निबन्ध और मूल्यांकन तो मुख्य रूप से प्रकाशित हुए ही, उस समय के जो विवादास्पद प्रश्न थे उन प्रश्नों को 'प्रस्तुत प्रश्न' शीर्षक के अन्तर्गत ध्यान दिया गया। अवलोकन, अनुशीलन, 'प्रादेशिक साहित्य' आदि शीर्षकों के द्वारा हर तरह की साहित्यिक बातो के लिए भी पत्रिका में जगह देकर सन्तुलित आलोचनात्मक बनाने का सफल प्रयास किया गया।

इन सभी प्रकाशित निबन्धों को सुविधानुसार निम्नलिखित शीर्षको मे बाटकर देखने का प्रयास करेंगे–

१ **आदिकालीन सम्बन्धी लेख।**
२ **मध्यकालीन सम्बन्धी लेख।**
३ **आधुनिक काल सम्बन्धी लेख।**
   (क) कविता।
   (ख) कहानी
   (ग) नाटक
   (घ) उपन्यास
४ **काव्यशास्त्र सम्बन्धी लेख।**
   (क) भारतीय
   (ख) पाश्चात्य
५ **समसामयिक प्रश्न-प्रस्तुत प्रश्न**
६ **विविध लेख**
७ **प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन**
८ **समीक्षित पुस्तकें**

प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन

विश्लेषण की सुविधा के लिए प्रकाशित लेखों को विधाओं के अनुसार विभाजित किया जाय तो इन्हें कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि उप शीर्षकों में बांटा जा सकता है।

कविता सम्बन्धी आलोचना दृष्टि-

उस समय कविता को केन्द्र बनाकर अनेक विचारधाराओं का आन्दोलन सा चल रहा था। नई कविता आन्दोलन में कई–कई वादों का तूफान अपने जोरों पर था। सारे 'वादों' के बवंडर से एक बात स्पष्ट है कि कविता उस सारी पविर्तन प्रक्रिया से प्रभावित हो रही थी। नई कविता के भविष्य विकास और तीव्र

---

(१) आलोचना अंक १४ जनवरी ५५ पृ १

समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी चिन्तन–धारा के प्रवेश के साथ इस बात की सम्भावना दीख पड़ी कि यह चिन्तन प्रणाली इस विराट कार्य को पूरा करेगी। किन्तु प्रारम्भ से ही इस निकाय का दृष्टिकोण इतना एकांगी रहा कि कम से कम इनके हाथों से शास्त्रीय परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की आशा जाती रही। यही नही बल्कि वर्ग संघर्ष और जनवादी सांस्कृतिक परम्परा के जटिल रूप को समझे बिना इन्होंने समस्त प्राचीन संस्कृति को सामन्तवादी संस्कृति करार देकर उससे विच्छिन्न हो जाने का भी नारा लगाया। यह नारा न केवल अवैज्ञानिक बल्कि मार्क्सवाद की भी एक गलत व्याख्या थी।"[1] इस सम्पादक मण्डल के मतानुसार समीक्षक को किसी भी कृति की सामाजिक उपादेयता का मूल्यांकन करते समय इन जटिल सूक्ष्मताओं का पूरा ध्यान रखना चाहिए अन्यथा कुछ सतही एकांगी और हानिकारक दृष्टिकोण उभर आते हैं जो एक भ्रमपूर्ण स्थिति मे डाल देते हैं।

इन दिनों समीक्षकों की ओर से अक्सर यह आवाज उठती रही–"साहित्य मे गतिरोध', 'साहित्य में बौद्धिक शून्यता', 'बौनों का साहित्य'। इन्हीं आवाजो को ध्यान में रखकर सम्पादक समिति ने अपने सम्पादन काल की 'आलोचना' के दूसरे ही अंक में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया कि हिन्दी गद्य एव पद्य दोनों में ही कई नूतन प्रवृत्तियों का आभास मिलता है जो एक नये मोड की परिचायक हैं जो हिन्दी की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं के लिए समर्थ होती जा रही हैं, जिनका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढ़ती हुई समृद्धि का प्रमाण है। सम्पादक गण का मानना था कि कविता और नाटक की उपेक्षा उपन्यास नवीनतर साहित्यिक रूप है। उन्हीं के शब्दों में, 'कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है।"[2]

उपन्यास के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए यह आशा व्यक्त की गई है कि उपन्यास अपने आने वाले समय में एक सम्मानजनक स्थिति बना सकेगा, क्योंकि, हिन्दी–उपन्यास प्रगति और विकास के पथ पर अग्रसरित है। उसकी इस विकास यात्रा का एक दौर समाप्त हो चुका है। इस नये दौर में वह अपने लक्ष्य को जितना उच्च स्तर पर स्थापित करेगा, उतनी ही प्रौढ़ कृतियाँ प्रस्तुत कर सकने में वह सफल हो सकेगा और विश्व–उपन्यास के क्षेत्र मे सफल होकर अच्छी स्थिति मे खड़ा रह सकेगा।

'जनवादी' साहित्य शीर्षक के सम्पादकीय में जनवाद और साहित्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साहित्य किस प्रकार से 'जन' से जुड़ा है और कितना समाज से जुड़ा है, "मार्क्सवादी सिद्धान्त का अस्तित्व इसलिए नही है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जाएं बल्कि इसलिए कि ये 'जन' के साथ जुड़ जाएँ।"[3] डॉ. रामविलास शर्मा के इन शब्दों को उद्धृत कर जनवादी साहित्य को और स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, "प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास मे

(१) आलोचना पूर्णांक ७, अप्रैल ५३, पृ-५
(२) आलोचना अंक १३ अक्टूबर ५४
(३) अंक १४ जनवरी ५५ पृ १

सहायक होता है।"[१]

प्रकाशित लेखों का वर्गीकरण

सम्पादक समिति ने कुल मिलाकर ग्यारह अंकों का सम्पादन कार्य किया। जिसमें दो विशेषाक थे, पहला 'आलोचना' विशेषांक और दूसरा उपन्यास विशेषांक के रूप में निकाले। बाकी सभी अंक सामान्य रूप से प्रकाशित किये गए। इन अंको में निबन्ध और मूल्यांकन तो मुख्य रूप से प्रकाशित हुए ही, उस समय के जो विवादास्पद प्रश्न थे उन प्रश्नों को 'प्रस्तुत प्रश्न' शीर्षक के अन्तर्गत ध्यान दिया गया। अवलोकन, अनुशीलन, 'प्रादेशिक साहित्य' आदि शीर्षकों के द्वारा हर तरह की साहित्यिक बातों के लिए भी पत्रिका में जगह देकर सन्तुलित आलोचनात्मक बनाने का सफल प्रयास किया गया।

इन सभी प्रकाशित निबन्धो को सुविधानुसार निम्नलिखित शीर्षकों मे बाटकर देखने का प्रयास करेंगे—

१ **आदिकालीन सम्बन्धी लेख।**
२ **मध्यकालीन सम्बन्धी लेख।**
३ **आधुनिक काल सम्बन्धी लेख।**
 (क) कविता।
 (ख) कहानी
 (ग) नाटक
 (घ) उपन्यास
४ **काव्यशास्त्र सम्बन्धी लेख।**
 (क) भारतीय
 (ख) पाश्चात्य
५ **समसामयिक प्रश्न-प्रस्तुत प्रश्न**
६ **विविध लेख**
७ **प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन**
८ **समीक्षित पुस्तकें**

प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना दृष्टि

प्रकाशित लेखों का मूल्यांकन

विश्लेषण की सुविधा के लिए प्रकाशित लेखों को विधाओं के अनुसार विभाजित किया जाय तो इन्हें कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि उप शीर्षकों में बांटा जा सकता है।

कविता सम्बन्धी आलोचना दृष्टि-

उस समय कविता को केन्द्र बनाकर अनेक विचारधाराओं का आन्दोलन सा चल रहा था। नई कविता आन्दोलन में कई—कई वादों का तूफान अपने जोरों पर था। सारे 'वादों' के बवंडर से एक बात स्पष्ट है कि कविता उस सारी पविर्तन प्रक्रिया से प्रभावित हो रही थी। नई कविता के भविष्य विकास और तीव्र

---

(१) आलोचना अंक १४ जनवरी ५५ पृं १

आवर्तनों का बारीकी से विश्लेषण और मूल्यांकन करते हुए छायावाद–काल के बाद के सारे प्रयत्न और परिवर्तनों को चार भागों मे बांट कर देखा जा सकता है–

१ : पहला वर्ग उन सभी रचनाओं का हो सकता है जिनमें विशेष रूप से सामाजिक यथार्थ पकड़ने का आग्रह रहा है और जिनका मुख्य प्रेरणा स्रोत देश–विदेश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियॉ तथा वर्ग संघर्ष है।"

२ : दूसरा वर्ग उन रचनाओं का है जिनका प्रेरणा–स्रोत व्यक्तिगत परिस्थितियो से उत्पन्न मानसिक अन्तर्द्वन्द है, और जिनकी मुख्य गूंज रोमानी असन्तोष, अनास्था, द्विविधा, सन्देह और सामाजिक अवस्था की स्वीकृति रही है।

३ : तीसरा वर्ग उन रचनाओं का है जिनमें परिस्थिति जन्य असन्तोष और उदासी है, जीवन संघर्ष के कारण थकान हार.........और पस्ती भी अक्सर झलकती है। लेकिन फिर भी सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इन कविताओं में जीवन के रस और रंग के प्रति मोह दिखाई देता है, इसीलिए इन्सानी जीवन के भविष्य में विश्वास भी है। ऐसी रचनाओ में एक विशेष प्रकार का समन्वय नजर आता है जो इस बात का प्रमाण है कि मानवता में गहरा विश्वास रखने वाले ये कवि मौजूदा परिस्थितियो के विरोधी तत्वों के बीच समाधान पाने का यत्न कर रहे हैं।

४ : चौथे वर्ग में सद्यः जात रचनाएं आती है जिनमें कवि या तो वादों, और संघर्षरत विचारधाराओं से अछूता रहने के प्रयत्न में रोमानी गीतात्मकता की पृष्ठभूमि पर लोकप्रिय चीजों को लिखने का प्रयास करते है या ताजगी लाने के लिए प्रवृत्ति के यथा तथ्य चित्रण, जनपदीय शब्दावली, बोल चाल की भाषा के प्रयोग और लोक–गीतों को अंगीकार करके नई कविता में स्थानीय रंग भर रहे हैं।

'नई कविता' को अपनी जीवन यात्रा में बहुत ही खरा–खोटा सुनना पड़ता है। नई कविता में गेयता, तुकान्त, रस, यहाँ तक कि बौद्धिकता को लेकर बहुत कुछ कहा सुना और लिखा कि 'इसमें रस और बौद्धिक तत्व बिल्कुल ही नहीं है, फिर यह कैसी कविता है। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि यह न तो नई है और न ही कविता। इन प्रश्नों को लेकर 'नई कविता' के प्रवर्तक जगदीश गुप्त ने प्रस्तुत प्रश्न के अन्तर्गत इन बातों का स्पष्टीकरण देते हुए नई कविता में रस और बौद्धिकता पर विचार करते हुए स्पष्ट किया–"नई कविता नये युग की नई चेतना से उत्पन्न हुई है और उसकी अभिव्यंजना–प्रणाली वही नहीं है जैसी सामान्यतया काव्शास्त्रियों द्वारा जानी समझी गई है।"[१]

रस सिद्धान्त किस प्रकार नये साहित्य में बाधक होता है इसके विषय मे उन्होंने लिखा है, "रस सिद्धान्त अथवा अन्य किसी काव्य सिद्धान्त को सार्वभौमिक शाश्वत और सर्वव्यापी मानने का मोह कभी नवीन साहित्य के मूल्यांकन मे बाधक भी होता है।"[२]

लेखक ने इसको स्वीकार किया है कि नई कविता की मनोदशा व्यक्ति

(१) आलोचना वर्षांक ७– अप्रैल ५३– पृ– ५६
(२) वही

की न होकर युग की है जो नई कृतियों से स्पष्ट हो रहा है। इनका सम्बन्ध नैतिक मूल्यों और संस्कारों से आई हुई संक्रान्ति से भी है जिस पर वैज्ञानिक युगीन बौद्धिकता की गहरी छाया है। लेखक के ही शब्दों मे, "रस एक विशेष मनोस्थिति में विशेष प्रक्रिया से निष्पन्न होता है। इस युग के कवि की दृष्टि रस–निष्पत्ति की ओर नहीं जाती और अधिकांश नई कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है।"(१)

जगदीश गुप्त के मतानुसार रस को ग्रहण करने के लिए जिस प्रकार आचार्यों ने श्रोताओं में अनेक गुणों की आवश्यकता बतलाई है। उसी प्रकार नई कविता का आस्वाद ग्रहण करने के लिए विशेष मानसिक संस्कार और बौद्धिकता की अपेक्षा है क्योंकि रस सिद्धान्त और नई कविता भिन्न–भिन्न आधारों पर आधारित है और दोनों में परस्पर विरोध भी है।

नई कविता की मूल आस्था पर भी इन्होंने यह बतलाया है कि नई कविता आकर्षण को ही नहीं विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर कर देना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है, सताती अधिक है। कहते हैं सताए जाने में भी एक मजा होता है। नई कविता रसानुभूति भावों के एक गहरे सामंजस्य को साथ लेकर चलती है और प्राय: पाठक को असमंजस मे डाल देती है। नई कविता किसी प्रतिक्रिया से नहीं ऊपजी है, वह आधुनिक मानव की सहज परिणति है।

हिन्दी गीतों के विषय में चर्चा करते हुए विजयदेव नारायण साही ने "हिन्दी गीत परम्परा का नया उत्थान ' शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट किया है कि टेक, तुक, लय और गेयता का आधार लिए कुछ छायावादी कवियों ने, विशेषत महादेवी वर्मा प्रसाद और राजकुमार वर्मा ने गीतों का निर्माण आधुनिक युग मे किया। कवि की व्यक्तिगत और संक्षिप्त भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति के लिए इस गीत की शैली ने एक आवश्यक और मार्मिक इकाई की सृष्टि की।

कुछ गीतकारों बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, नेपाली तथा शम्भूनाथ सिंह आदि पर चर्चा के आधार से लेखक ने हिन्दी गीत के बारे में बताया है कि हिन्दी गीत छायावाद के सर्वथा विरुद्ध न होते हुए भी पर्याप्त मात्रा मे उससे भिन्न थे। आज भी काफी संख्या में नये गीतकार उसी पथ को प्रशस्त कर रहे हैं। गीतकारो मे 'बच्चन' के बारे में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि, "काल, वय और व्यापक प्रभाव की दृष्टि से इस धारा के उन्नायक और काफी हद तक उसकी सम्भावनाओ को विकसित करने वाले बच्चन ही हैं.. ....आज के घोर बुद्धिवादी युग में बच्चन की स्थायी दृष्टि प्रारम्भ में कुछ ताजगी देने वाली थी, अब विस्मय अधिक उत्पन्न करती है।"(२)

'बच्चन' के बाद जिन हिन्दी गीतकारों के विषय में लेखक ने चर्चा की है वे हैं गिरिधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी, श्रीपाल सिंह क्षेम, श्रीमती शान्ति एम ए आदि। इन लोगों के प्रकाशित गीत संग्रहों के आधार पर लेखक ने हिन्दी गीत को व्याख्यायित करते हुए यह लक्षित किया कि "हिन्दी गीतों में सामाजिक

१) आलोचना पत्रिका ७ अप्रैल ५३ पृ ५७
(२) अंक ३ अप्रैल ५३ पृ ६७

रूढियों के प्रति तीखा विद्रोह है, छायावादियों के प्रेम का लक्ष्य जहाँ अज्ञात है यहाँ इन कवियों का ज्ञात है। इन कवियो की अनुभूतियों और कल्पना का उदात्तीकरण है। इन कवियों ने दिल खोलकर प्यार करना ही आदमी की बडी भारी निधि माना है। इसी कारण उनकी विवशता और प्यास में घुटन नहीं है उनमें उन्मुक्त हृदय है जो हँस रोकर जिन्दगी काटने के पक्ष में है, उसे बोझ बनाने के पक्ष में नहीं। तुलना की दृष्टि से नयी कविता को देखते हुए पन्त जी कहते है कि वह अधिक मौलिक, वैचित्र्य पूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है, अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानवतावादी बन गई है। "वह छायावादी स्वप्नों के कुहासे को हटाकर नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानने का प्रयत्न कर रही है। वह अधिक व्यापक यथार्थ की भूमि में पदार्पण करना चाहती है। एक साथ ही वह अधिक वैचित्र्य पूर्ण और अधिक रागात्मक कैसे हो सकी अधिक वैयक्तिक और मानवतावादी कैसे बनी, इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित ही रह जाता है।" पन्त जी नयी कविता को छायावाद का नया संस्करण मानते है।

डॉ. रामरतन भटनागर 'छायावादी काव्यदृष्टि' शीर्षक निबन्ध में छायावादी काव्य दृष्टि का मूल्याकन करते हुए यह कहते हैं, "हम तीन स्रोत से इस दृष्टि को समझ सकते हैं—स्वयं कवियों का अपनी काव्य—कला के सम्बन्ध में वक्तव्य, छायावाद के मान्य समीक्षकों की धारणाएं तथा स्वत: काव्य।

छायावादी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए लेखक स्पष्ट करता है कि "छायावाद में विरोध और विध्वंसक बातें हैं लेकिन निर्माण तत्व और भी अधिक हैं क्योंकि केवल विध्वंस किसी काव्यधारा को श्रेय नहीं देता।" छायावादी काव्य ने महत्वपूर्ण कवि या कलाकार के स्वतंत्र निजी व्यक्तित्व की खोज की। महादेवी वर्मा की उक्ति—"छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ, इसीलिए उसने इतिवृतात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए। छायावाद ने रूढ़िगति अध्यात्म या व वर्गगत सिद्धान्तों का संचयन देकर केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर हमें जागरूक किया, मध्यवर्ग का काव्य होने के कारण उसमें निराशा को भी स्थान मिला।"(१)

सम्पादक समिति ने अपना कार्य आलोचना के पूर्णांक ७ अप्रैल १९५३ से सम्भाला और कुल ११ अंक निकाले। इसमें 'आलोचना विशेषांक' और 'उपन्यास विशेषांक' के अलावा शेष अंक सामान्य रहे। लेकिन इनमें प्रकाशित निबन्धों एव मूल्यांकन दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहानी नाटक और आलोचना अपेक्षाकृत उपेक्षित रहे।

उपन्यास

सम्पादक समिति द्वारा सम्पादित 'आलोचना' का पूर्णांक १२ अक्टूबर ५४ को 'उपन्यास विशेषांक' निकला। इसमें पूर्व निर्दिष्ट योजना के अनुसार उपन्यास के हर पहलू पर गम्भीर रूप से विचार करने वाले आलोचकों से लेख लिखवाये—इस विशेषांक का महत्व तीन अवसरों पर आंका जा सकता है।

१ : विश्व उपन्यास के विकास एवं इतिहास का विस्तृत निरूपण। विश्व

---

(१) आलोचना अंक १० जनवरी १९५४ पृ २७

साहित्य में किस प्रकार गद्य के माध्यम से जीवन का विराट चित्रण कर उपन्यास ने महाकाव्य का स्थान लेने के चेष्टा की है। विश्व उपन्यास मे भारतीय उपन्यास की उपधारा कहाँ तक उसके समान्तर एवं कहाँ तक उससे अलग दिशाओं में प्रभावित रही है।

२ हिन्दी उपन्यास के उद्‌भव से उसकी वर्तमान परिणति तक का पर्यवेक्षण। वस्तु तत्व की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास की तिलिस्म से सामाजिक क्रान्ति की यात्रा। प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन और परवर्ती उपन्यासकारो द्वारा यथार्थ की व्याख्याएं।

३ क्या हिन्दी उपन्यास अब भी प्रौढ़त्व को नहीं पहुँच सका है ? क्या मध्यवर्ग की चेतना को ही वहन कर सका है। प्रेम और रागात्मक सम्बन्धों के असन्तुलन की समस्या क्या उपन्यास की अनिवार्य समस्या है?

उपन्यास के दायित्व पर विचार प्रकट करते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का अभिमत था कि जो उपन्यासकार अपने पाठक वर्ग को यह सहज आत्मानुभूति की भावना नहीं दे पाता, वह अपने कर्तव्य तथा लक्ष्य दोनों से ही च्युत है।"(१)

व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित तथा आकर्षित करना उपन्यास का एक अन्य महत्वपूर्ण दायित्व माना जाता है। यह उपन्यास का ही कर्तव्य है कि, "वह पतित चरित्रों के प्रति हमारी अकृत्रिम करुणा को उभारे। वैसे तो सारे--का सारा रचनात्मक साहित्य ही मानव मूल्यों का संरक्षक माना जाता है, परन्तु यहाँ भी उपन्यास की जिम्मेदारी अपेक्षाकृत अधिक है।"(२)

उपन्यास की तुलना करते हुए लेखक यह कहना चाहता है कि, "सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम द्वारा सम्भव नहीं। तथ्य की बात यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिए उपन्यासकार की दृष्टि ही एक मात्र सहारा है।"(३)

जीवन के बहुत जटिल तथा उलझे हुए पक्षों को तार्किक एकरूपता देना दार्शनिक का काम माना गया है। इसी प्रकार उपन्याकार का दायित्व होता है, जीवन के बिखरावों में से एक भावात्मक सामन्जस्य को ढूँढ़ निकालना। अपने इस गुरुकर्तव्य तथा दायित्व में एक वास्तविक उपन्यासकार किसी दार्शनिक से कम नहीं होता क्योंकि जीवन को एक संगति तथा अर्थ देना दोनों ही का लक्ष्य होता है। व्यक्तियों तथा स्थितियों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित तथा आकर्षित करना उपन्यास का एक अन्य महत्वपूर्ण दायित्व माना जाता है। यह उपन्यास का ही कर्तव्य है कि वह पतित चरित्रों के प्रति हमारी अकृतिम करुणा को उभारे। वैसे तो सारे का सारा रचनात्मक साहित्य ही मानव मूल्यों का संरक्षक माना जाता है, परन्तु यहाँ भी उपन्यास की जिम्मेदारी अपेक्षाकृत अधिक है। यह आज उपन्यास रचना का मूल तन्त्र माना जाता है।

उपन्यासकार एक युगद्रष्टा होता है। कविता कुछ समय के लिए प्रभावित करती है परन्तु उपन्यास पाठक के चेतन तथा अचेतन मन पर गहरा संस्कार

---

(१) आलोचना अंक १३, अक्टूबर ५४, पृ. ४७

(२) वहीं पृ ४७

(३) वही पृ ४७

छोड़ जाता है। उपन्यास का एक बड़ा दायित्व है, अपने पाठक को जीने की कला सिखाना। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास–कला सर्वाधिक पूर्ण मानवतावादी कला है।

'उपन्यास' विशेषांक को छोडकर इन सम्पादकों के समय में उपन्यास सिर्फ दो और निबन्ध ही प्रकाशित हुए हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि उपन्यास को एक योजना के अनुसार देखने की कोशिश की गई और इस विशेषांक में उस समय के प्रमुख लेखकों और उपन्यासकारों के अभिमत भी शामिल किये गये। सम्पादकीय वक्तव्य में भी यह स्पष्ट कहा गया कि 'कविता और नाटक की अपेक्षा उपन्यास मानव जीवन के चित्रण के लिए सर्वथा उपयुक्त होता है। इसलिए उपन्यास को भी विश्व साहित्य के स्तर पर हर पहलू को देखते हुए उसका आकलन करने की आवश्यकता है।" रोमांस से सामाजिक यथार्थ तक की व्यापक आधारभूमि पर अजित कुमार के उपन्यास की विकास–यात्रा को देखने का प्रयास किया है। इनका कहना है, "चौदहवीं शती तक 'रोमास' उस आदर्शात्मक पद्य कथा को कहते थे जिसमें प्रेम और रोमांस का वर्णन होता है। लेखक विश्व उपन्यास के सन्दर्भ में हिन्दी उपन्यास का मूल्यांकन करते हुए कहता है कि "विश्व उपन्यास की तुलना में हिन्दी उपन्यास का लघु जीवन अपनी समग्रता में अधिक स्वस्थ और विकारमुक्त जान पड़ता है। यथार्थ की जो दृष्टि भारतेन्दु हरिश्चन्द ने पाई थी वह आज तक निरन्तर विकसित हुई है।' [१]

— 'प्रेमचन्दोत्तर काल : नए धरातल'[२] लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने लेख मे प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थ के वृहत्तर क्षेत्र पर प्रकाश डाला है। प्रेमचन्द सामन्तवादी कृत्रिमता और ढहते हुए मूल्यों को अपने उपन्यासों में चित्रित करके जीवन के उन गलित और कुत्सित प्रसंगों को उभार कर सामने लाने का प्रयास किया था जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद मशीनयुग और पनपते हुए सामाजिक असन्तुलन के कारण समस्त राष्ट्रीय चेतना को दबाए जा रहे थे। डॉ लक्ष्मीकान्त वर्मा ने प्रेमचन्द की परम्परा में विकसित नए धरातल के तत्वो को सामने लाया है जो निम्नलिखित है–

१ : सूक्ष्म मानवीय संवेदनाओं से मानव जीवन की व्याख्या।

२ : मानव जीवन के अन्तर और वाह्य जगत के संघर्षों का अध्ययन।

३ : जीवन के नए मानदण्डों के आधार पर सामाजिक और वैयक्तिक सीमाओ का संघर्ष।

४ : नए नैतिक मूल्यों का अन्वेषण, नये मूल्यों की स्थापना में मानव जीवन की करुणा जनक स्थिति और उसमें व्याप्त तिक्तता का जीवन पर पर प्रभाव।"[३]

मध्यवर्गीय वस्तु तत्व के विकास की चर्चा करते हुए बच्चन सिह पाश्चात्य देशों के साथ भारत वर्ष के उपन्यासों की तुलना करते हुए लिखते है–"पाश्चात्य देशों तथा भारतवर्ष के उपन्यासों के आविर्भाव और मध्यवर्ग के

---

(१) आलोचना विशेषांक १३, अक्टूबर ५४, पृ. १०

(२) प्रेमचंदोत्तर काल : नए धरातल-लक्ष्मीकांत वर्मा, आलोचना अंक १३, अक्टूबर ५४, पृ १०

(१) पूर्णांक १३ अक्टूबर ५४ पृ ६३

उदय में एक नैसर्गिक समानता दिखाई पड़ती है। अठारहवीं शताब्दी के यूरोप मे जिस नवीन मध्य वर्ग का उदय हुआ उसके वैषम्यपूर्ण, संघर्षमूलक तथा अनिश्चित जीवन से महाकाव्यों के सुनिर्दिष्ट उदात्त आदर्शों का मेल कभी सम्भव न था।"(१) जगदीश गुप्त ने ऐतिहासिक उपन्यासकार की समीक्षा करते हुए कथाकार के इतिहास की ओर प्रवृत्त होने के निम्नलिखित कारण गिनाए—

१ वर्तमान से पराजित अथवा असन्तुष्ट होने से पलायन की भावना।
२ अतीत को वर्तमान से अधिक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण समझते हुए उसके पुर्नस्थापना की भावना।
३ वर्तमान को शक्तिशाली बनाने के लिए अतीत से उपजीव्य खोजने की भावना।
४ कतिपय ऐतिहासिक पात्रों या घटनाओं के प्रति न्याय की भावना।
५ इतिहास रस में लिप्त रहने की सहज भावना।
६ जातीय गौरव, राष्ट्र प्रेम आदर्श—स्थापना तथा वीर—पूजा की भावना।
७ जीवन की नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की भावना।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने 'हिन्दी उपन्यास की विकास रेखा उसकी उपलब्धियाँ और अभावों के विवेचन क्रम में यह स्पष्ट किया है कि सन १९२० के पश्चात् प्रेमचन्द जी की रचनाओं में और भी प्रौढ़ता आई और भारतीय जीवन के पक्षों का चित्रण उनमें किया गया, विषय—वस्तु के साथ उदात्त चरित्रों और पात्रों की सृष्टि करना कला की दृष्टि से एक असाध्य प्रसास है, परन्तु इस कठिनाई के रहते हुए भी प्रेमचन्द जी ने भारतीय समाज का जो व्यापक और जीता जागता विवरण दिया है वह उनके उपन्यासो को महत्वपूर्ण बना देता है।"(२)

इस प्रकार उस समय के सुप्रसिद्ध विचारकों और उपन्यासकारों जैसे—डॉ देवराज उपाध्याय, मोहन राकेश, गुलाबराय, डॉ प्रेमशंकर, राहुल सांकृत्यायन जगदीश गुप्त, रामरतन भटनागर तथा प्रभाकर माचवे आदि के उपन्यास के सभी तत्वों सम्बन्धी विचार शामिल किए गये जिससे कि उपन्यास और उसके विकास को रेखांकित किया जा सके।

काव्यशास्त्र सम्बन्धी लेख

इस सम्पादक मण्डल ने अपने पूरे सम्पादन काल में 'आलोचना' के कुल ११ अंक निकाले थे जिनमें दो विशेषांक तथा बाकी अंक सामान्य अंक के रूप मे निकले। वर्ष ३ अंक १ पूर्णांक ९ अक्टूबर ५३ 'आलोचना विशेषांक' के रूप मे था जिसमें २५ लेख भारतीय काव्यशास्त्र तथा ५ निबन्ध पाश्चात्य काव्य शास्त्र से सम्बन्धित थे। इस सम्पादन काल में भारतीय काव्यशास्त्र से सम्बन्धित निबन्धों की संख्या ७ है।

समिति ने अपने पहले अंक के सम्पादकीय लेख में यह स्पष्ट किया है कि पत्रिका में एकांगी दृष्टिकोण को छोड़ व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया जायेगा जिससे साहित्य को व्यापक रूप दिया जाये। इसी बात को ध्यान मे

(१) पूर्णांक १३ अक्टूबर ५४ पृ १२५
(२) पूर्णांक १५ अक्टूबर ५४ पृ ५५

रखकर उस समय के प्रमुख आलाचकों, लेखकों से लेख लिखवाया गया, चाहे वे किसी विशेष 'वाद' या 'खेमे' से मतलब रखते हों या नहीं।

'समकालीन आलोचना' में निहित खतरों पर विचार करते हुए डॉ देवराज ने भी इस प्रसंग को उठाया है। उनके अनुसार किसी वाद से ग्रसित होकर हिन्दी की समीक्षा करना उचित नहीं। वे लिखते हैं कि, "हिन्दी समीक्षा मे एक मात्र जागरूकता प्रगतिवादियों की है। किन्तु उनकी जागरूकता राजनीतिक अधिक और साहित्यिक कम है। यही कारण है कि प्रगतिवादी समीक्षा मे 'रसग्रहिता की अपेक्षा कट्टरता का ही अधिक प्रमाण मिलता है, किसी भी साहित्यिक वाद को मान लेने भर से ही कोई समीक्षक नहीं बन जाता।"[१]

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित लेखों में भारतीय काव्यशास्त्र पर ज्यादे ही बल दिया गया है। इसमें 'भरत प्रणीत रस सिद्धान्त', 'हिन्दी मे रस मीमांसा', 'गौडीय वैष्णव रस सिद्धान्त', 'प्राचीन रनौनी साहित्यशास्त्र', 'हिन्दी का अपना साहित्यशास्त्र, 'भाषा का प्रश्न', 'प्रतीकवाद', 'यथार्थवाद', 'वामन के काव्यशास्त्र', 'रस तत्व और मार्क्सीय कसौटी' शीर्षक निबन्ध एवं इनके प्रमुख लेखक अज्ञेय, डॉ नगेन्द्र, विजयदेव नारायण साही, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. देवराज, विजयेन्द्र स्नातक, नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. रामरतन भटनागर, हरदेव बाहरी इत्यादि प्रमुख लेखकों ने अपने बहुमूल्य निबन्धो वाद–विवादो तथा सुझावों द्वारा पत्रिका में योगदान दिया है।

मराठी नव–काव्य और रस–विचार के सन्दर्भ में आत्माराम रावजी देश पाण्डेय 'अनिल' ने सुझाव दिया है कि साहित्य शास्त्र में मुख्य रसों और नायक–नायिका भेद की संख्या में और वृद्धि होनी चाहिए, क्योंकि, ये जितने भी है काफी नही हैं। उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है–"साहित्य शास्त्र में वर्णित रस नवीन काव्य के महत्वपूर्ण विषयों की विवेचना करने मे नाकाफी हैं। अतः नये रसों को स्वीकार करना जरूरी है। इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि सिर्फ रसों की विवेचना करने से ही काव्य का अंतरंग समझ मे आ जायेगा। यदि हम चाहते हैं कि हमारा पुराना साहित्य शास्त्र नये काव्य की अच्छी तरह विवेचना करने में सहायक बने तो हमें उनका परम्परागत रूप बदलना और उसमें नई विचारधाराओं को सम्मिलित करना होगा। इन प्रयत्नो का उपहास उड़ाया जा सकता है, किन्तु मैं समझता हूँ कि उनको निश्चित रूप से मान्यता प्राप्त होगी और इससे साहित्यशास्त्र का पुनरुत्थान होगा।"[२]

रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्डों के विषय में रामरतन भटनागर की राय है कि, "काव्य सृजन और काव्यालोचन एक ही प्रक्रिया के दो छोर है और सम्पूर्ण क्रिया को पूर्णतया समझने के लिए इन दोनो के गम्भीरतम् स्रोतो को समझ लेना अनिवार्य है। भारतीय साहित्य शास्त्र में रसानुभव अथवा रस ध्वनि के सिद्धान्त के अन्तर्गत कवि काव्य और सहृदय स्रोतों अथवा रसज्ञ को एक केन्द्र बिन्दु पर लाने का प्रयत्न किया गया है।"[३]

विद्वान लेखक ने यहाँ इस लेख में काव्य शास्त्रियों पर आक्षेप करते हुए

---

(१) आलोचना पूर्णांक ७, अक्टूबर ५३, पृ. ४२
(२) आलोचना पूर्णांक ७ अप्रैल ५३ पृ ६४
(३) पूर्णांक ८ जुलाई ५३ पृ ३७

कहते हैं कि जहाँ पश्चिम में काव्य सृजन और कवि व्यक्तित्व को काव्य से सयोजित करके देखने की प्रक्रिया विकसित हुई है वहाँ भारत में नहीं। वे लिखते हैं, "भारतीय काव्य शास्त्री 'रस' पर ही रुक जाते हैं। वह काव्य सृजन की प्रक्रिया और उसके विभिन्न स्तरों की खोज नहीं करते। भारतीय साहित्य मे कवि प्रतिभा और कवि व्यापार की विवेचना अवश्य मिलती है परन्तु रस, ध्वनि अलंकार, नायिका भेद छन्दशास्त्र और इन विभिन्न काव्यागों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही अधिक लिया गया है।"(१)

सर्जन कला–कृति का एक छोर है, दूसरा छोर है उसके सौन्दर्य का उद्घाटन, उसका अनुभव, कलाकृति के अर्थों की व्याख्या और उसका मूल्य निर्धारण। यह आलोचना का क्षेत्र है। समीक्षक को कैसा होना चाहिए उसको किस दृष्टिकोण एवं चतुराई से किसी कृति को देखना चाहिए, इस सम्बन्ध मे डॉ. रामरतन भटनागर के विचार से–"श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए शिक्षा, अनभूति सहवेदन, कला निष्ठा, जीवन और साहित्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म, ज्ञान, नई प्रतिभा को पहचानने की शक्ति एवं नये मूल्य निर्धारण की शक्ति अपेक्षित है।"(२)

कला के मानों एवं समीक्षा के मानदण्डों पर विचार करते हुए लेखक ने समीक्षा के गुणों की भी चर्चा की है और यह मत व्यक्त किया है कि काव्यालोचन के लिए किसी विशेष दृष्टिकोण का आग्रह वांछनीय नहीं है। उसमें काव्य सृजन की प्राथमिक अनुभूति से लेकर कवि के व्यक्तित्व रचना के साहित्यिक मनोवैज्ञानिक पक्ष, उसके सामाजिक दायित्व ऐतिहासिक मूल्यगत विशेषता सब कुछ ग्राह्य है। उनके मतानुसार आज की साहित्यिक आवश्यकता है कि 'आलोचक विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा से बाहर जायें और रचना में साहित्यकार की मनः प्रवृत्ति, उसकी वर्ग चेतना और युग धर्म का प्रतिबिम्ब खोजें और परम्परा ओर परिवेष्टन से पूर्णतया सम्बन्धित करते हुए भी उसमें कवि की स्वतंत्र, उदात्त और मौलिक स्फूर्ति की स्थापना करें और प्रत्येक क्षेत्र की तरह समीक्षा के क्षेत्र में भी सम्यक दृष्टि की आवश्यकता है।"(३)

लम्बे निबन्ध में धर्मवीर भारती ने साहित्य की नई मर्यादा का निर्धारण करने के लिए बहुत ही गहराई से विस्तृत रूप में विचार किया और साहित्य की मर्यादा प्रगति, प्रगति की मर्यादा,-सामाजिक प्रगति की मर्यादा, आचरण, आचरण की मर्यादा, आचरण की मर्यादा–स्वातन्त्र्य, स्वातन्त्र्य की मर्यादा आदि उपशीर्षकों मे भारती जी ने साहित्य और साहित्यकार के दायित्व पर अपना विचार प्रस्तुत किया है। (४)

साहित्यकार का नया दायित्व इतिहास निर्माण और मानव संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का है और यह दायित्व सामान्य व्यक्ति के दायित्व से कई गुना अधिक जटिल है। इन दायित्वों को पूरा करने के लिए साहित्यकार के पास क्या है ? इन प्रश्नों को उठाते हुए डॉ. भारती ने समाधान दिया कि इन

(१) आलोचना पूर्णांक ८, जुलाई ५३, पृ. ३७

(२) वही, पृ. ४०

(३) आलोचना पूर्णांक ८ जुलाई ५३ पृ ४१

(४) वही पृ ४४

दायित्वो को पूर्ण करने के लिए साहित्यकार के पास एक ही माध्यम है 'शब्द। भाषा हमारी जीवन प्रक्रिया में उपलब्ध रागात्मक मूल्यों को अभिव्यक्त करके एक व्यक्ति के उपलब्ध सत्य का दूसरे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध सत्य से जोडकर सामाजिक सेतु बनती है।"(१)

भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी के अपने समीक्षा शास्त्र की आवश्यकता के सन्दर्भ में समीक्षाशास्त्र के रूप, क्षेत्र और दायित्व की चर्चा की। इन्होने बताया कि "हिन्दी समीक्षा के सामने कई प्रश्न हैं और समीक्षा के विकास के पथ पर आगे बढ़ने के पूर्व हमें इनके उत्तर प्राप्त करने हैं। अन्यथा, न तो काव्यशास्त्र या समीक्षा शास्त्र का ही कोई निश्चित रूप बन पायेगा, जिसमे हमारी कोई विशिष्ट देन हो सके और न उसके विकास मार्गों मे ही कोई सामंजस्य सम्भव हो सकेगा। प्रश्न है ये–

१ : हमें आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय काव्य समीक्षा के सिद्धान्तों का क्या और कैसे उपयोग करना चाहिए।

२ : हम पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों से क्या और कैसे ग्रहण कर सकते है।

३ : क्या हिन्दी का अपना निजी समीक्षाशास्त्र हो सकता है ? यदि हाँ तो उसका विकासकिस प्रकार किया जा सकता है ? ये तीन प्रमुख प्रश्न है जिन पर विचार करना है।"(२)

प्राचीन विद्वानों के अनुसार साहित्य से रस, छन्द अलंकार ये तत्व साहित्य को और रोचक एवं आनंददायी बनाने के लिए आवश्यक हैं। इस बात को स्वीकार करते हुए भगिरथ मिश्र ने भी हिन्दी के समीक्षा शास्त्र की आवश्यकता पर बल दिया और कहा, "आज के कवियों ने अपने प्रयोगो मे अलंकारों का विकास किया है। अलंकारों के नवीन प्रयोगों और उनके भेद प्रभेदों के विकास को आज की कविता में अध्ययन करके यह निश्चित किया जा सकता है कि अलंकार कविता में अनिवार्य है या नहीं। पूर्ववर्ती अलंकारों का आज किस प्रकार विकास हुआ है यह अध्ययन की वस्तु है। अलंकार के आधार पर जो काव्य सौन्दर्य स्पष्ट होगा, वह अन्य आधारों पर नहीं। रस की दृष्टि से भी आज की रचनाओं में नवीन भावों की अभिव्यक्ति और पूर्व निर्दिष्ट भावों की विकृति हुई है, देश प्रेम, मानव प्रेम धीरे–धीरे स्थायी भाव से बनते जा रहे है नये भाव भी अभिव्यक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त रस भावानुभूति की प्रक्रिया पर भी आधुनिक मनोविज्ञान–प्रबुद्ध दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है।"(३)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र विषयक विचार

यद्यपि इस सामूहिक सम्पादन काल में 'आलोचना' विशेषांक निकला फिर भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र से सम्बन्धित चयन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इस पूरे सम्पादन काल में गिने चुने सिर्फ सात निबन्ध निकले, जिनमे पाश्चात्य समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तियाँ, आई. ए. रिचर्ड्स के समीक्षा सिद्धान्त,

(१) *पूर्णांक ११ अप्रैल ५४ पृ ५६*

(२) *हिन्दी का अपना समीक्षा शास्त्र डॉ भगीरथ मिश्र पूर्णांक १४ जनवरी ५५*

टी एस. इलियट के काव्य सिद्धान्त और अंग्रेजी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी आदि विशेष महत्वपूर्ण है।

इन निबन्धों में पाश्चात्य समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। उल्लेखनीय है कि आई. ए. रिचर्ड्स एवं टी. एस. इलियट के समीक्षा सिद्धान्तों का हिन्दी आलोचना पर काफी प्रभाव पड़ा है। 'आलोचना' में प्रकाशित उपर्युक्त लेखों से पाश्चात्य और हिन्दी आलोचना के सम्बन्धों को रेखांकित करने में भी मदद मिलती है।

समसामयिक प्रश्न

उस समय नई कविता को कई तरह के आरोपों प्रत्यारोपों से होकर गुजरना पड़ रहा था। नई कविता में रस और बौद्धिकता, वर्ग उन्मूलन, वैयक्तिक कुण्ठा, सामाजिक दायित्व आदि पर प्रश्न उठाये जाते रहे। इसलिए इन प्रश्नों पर विचार करने हेतु 'समसामयिक प्रश्न' शीर्षक के अन्तर्गत चर्चा आरंभ की गई और बहुत से वाद–विवाद–संवाद सम्बन्धी लेख आमन्त्रित किये जाते थे। इनमें कुछ निबन्धों की चर्चा उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत है।

प्रस्तुत प्रश्न के अन्तर्गत गिरिजा कुमार माथुर ने नई कविता 'आलोचना' पूर्णांक १२ जुलाई ५४ में विचार करते हुए लिखा है–

"नई कविता के आलोचकों और प्रत्यालोचको ने अब तक काफी संकीर्णता से काव्य की नई प्रवृत्तियों को जाँचा परखा है और दुनिया के सामने प्रकृति रूप के बजाय विकृत रूप को उभारा है।"[१]

लेखक नई कविता के कवियों को उन सभी पहलुओं की ओर इशारा कर रहा है, जिनसे बचकर चलना है, अगर इस रास्ते पर वे कवि चलेंगे तो हिन्दी साहित्य का भविष्य सँवार सकते हैं और कविता के भविष्य को उज्जवल बना सकते हैं।

इसी प्रकार प्रस्तुत प्रश्न एवं विचारार्थ निमन्त्रित लेखों में "बौद्धिक स्वातन्त्र्य, बौद्धिक अराजकता नहीं (लक्ष्मीचरण वर्मा), साहित्य शास्त्र : नियतिवाद के विरुद्ध उद्घोष (डॉ. जगदीश गुप्त), साहित्य सृजक की प्रक्रिया और लेखक का काव्य व्यक्तित्व (डॉ. रामअवध द्विवेदी), व्यक्ति स्वातन्त्र्य और जनहित (डॉ रागेय राघव), साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न (विजयदेव नारायण साही), नई कविता में रस और बौद्धिकता (डॉ. जगदीश गुप्त) आदि प्रमुख लेख हैं। नई कविता सम्बन्धी जितने भी आरोप, आक्षेप या प्रश्न उठाए गए उनका उत्तर एव स्पष्टीकरण देते हुए डॉ. जगदीश गुप्त ने लिखा है, "नई कविता को समझने के लिए अभिरुचि और नये दृष्टिकोण की आवश्यकता है। जिनके पास वह अभिरुचि या दृष्टिकोण है उन्हें वह रुचिकर लगती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।"[२]

इसी प्रकार उस समय के उठने वाले प्रश्नों, सहमति, असहमति से नई कविता को एक निश्चित दिशा की प्राप्ति होती थी जिससे उसे अपने रास्ते

---

(१) आलोचना पूर्णांक १४ जनवरी ५५, पृ ४५

(२) पूर्णांक ७ अप्रैल ५३ पृ ५६

साफ और कठिनाइयों, समस्याओं का समाधान ढूढ़ने में बहुत हद तक सहायता भी मिलती थी।

विविध लेख

उस समय प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं की भी चर्चाएं समय–समय पर इस पत्रिका के अंकों में होती रही। यद्यपि इसके लिए कोई नियमित स्तम्भ नही रखा गया था। इस क्रम में जापानी, यूगोस्लावियन जैसे विदेशी साहित्य के साथ बंगला, तेलगू, तमिल, मराठी, हिन्दी आदि भारतीय साहित्य पर भी कभी–कभी लेख छपे जिनमें उस समय की उनकी समस्याओं या विशेषताओ पर चर्चाएं चलीं।

समीक्षित पुस्तकें

'आलोचना' पत्रिका की यह भी एक विशेषता रही है कि इसमें निबन्ध लेखन या समीक्षा के लिए किताबें एक विशेष योजना के तहत मंगायी जाती थीं। साहित्य की हर विधा पर नियोजित रूप से उसी व्यक्ति विशेष से निबन्ध, लेख, टिप्पणी, समीक्षाएं मंगायी जाती थीं जिसको कि उसके योग्य समझा जाता हो।

धर्मवीर भारती एवं समिति द्वारा सम्भावित कुल ११ अंकों में कुल ६० लोगों ने मूल्यांकन के अन्तर्गत लगभग १५० पुस्तकों की समीक्षाएं की। समीक्षित पुस्तकों में वैसे तो हर विधा की पुस्तकों को जगह दी गई परन्तु सर्वाधिक सख्या कविता से सम्बन्धित पुस्तकों की थी। उसके बाद कहानी, उपन्यास नाटक और आलोचना' का क्रम आयेगा। जो भी समीक्षाएं छपीं वे उस पुस्तक या लेखक के गुण–दोष के विवेचन के स्थान पर नीति परक और मूल्यगत विशेषताओं एवं साहित्यिक अवधाराणाओं के साथ–साथ उसकी साहित्यिक विशिष्टता को रेखांकित करने वाली थीं। इस बात की पुष्टि इसी से हो जाती है कि उन दिनों जो साहित्यकार हिन्दी साहित्य में अपनी पहचान एव जगह बना चुके थे उन्हीं लेखकों से ही समीक्षाएं लिखवाई गयी थीं।

उस समय के जिन प्रमुख आलोचकों को लगभग सभी अंकों में जगह दी गयी थी, उनमें बच्चन सिंह, प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीशंकर वार्ष्णेय, लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. देवराज, जगदीश गुप्त, रांगेय राघव, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयेन्द्र स्नातक के नाम उल्लेखनीय हैं।

'संस्कृति और सभ्यता के रूप' शीर्षक के अन्तर्गत डॉ. बच्चन सिंह ने उदयशंकर भट्ट की 'पर्दे के पीछे' नाटक कृति की समीक्षा करते हुए निर्णय लिया कि, 'भट्ट जी के एकांकी में भाषा का सहज प्रवाह, संवाद की स्वाभाविकता सर्वत्र पाई जाती है। कुछ एकांकियों की घटनाएं और कार्य व्यापार उद्देश्य की एकता में सम्यक योग नही पाते। इसलिए प्रभावान्विति भी त्रुटि रहित नहीं हो सकी है। एकांकी वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से भट्ट जी की सजगता जागरूकता और प्रौढ़ता के द्योतक हैं।''[1]

(१) पूर्णांक १२ पुनर्मुद्रण ५४ पृ ८१

एक ही साथ एक ही शीर्षक के अन्तर्गत कई पुस्तकों की समीक्षाएं की जाती थीं जिससे कि आलोचक को उस विधा की सर्व सामान्य प्रवृत्तियों को रेखाकित करने का अच्छा अवसर मिल जाता था। जैसे—'सापान' (हरिवंश राय बच्चन), 'अग्निमा' (गिरधर गोपाल), 'आग और पराग' (रामनाथ अवस्थी), 'जीवनतरी' (श्रीपाल सिंह क्षेम), 'चाणक्य' (शान्ति एम ए.) आदि रचनाओं की आलोचना एक ही शीर्षक 'हिन्दी गीत परम्परा का उत्थान' के अन्तर्गत की गई है।

इन पाँचों पुस्तकों के समीक्षक विजयदेव नारायण साही को एक साथ कई गीत संग्रहों की समीक्षा करने के कारण हिन्दी गीत काव्य की प्रवृत्तियाँ और इसकी कलागत विशेषताओं को रेखांकित करने मे काफी सुविधा हुई। उनका निष्कर्ष था कि, "टेक, तुक, लय और गेयता का आधार लिए हुए छायावादी कवियो ने, विशेषत महादेवी, प्रसाद और रामकुमार वर्मा ने गीतों का निर्माण आधुनिक युग में किया। कवि की व्यक्तिगत और संक्षिप्त भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति के लिए इस गीत शैली ने एक आवश्यक और मार्मिक इकाई की सृष्टि की। वह धारा छायावाद—रहस्यवाद की भावभूमि तक ही सीमित न रह सकी। आज भी काफी नये गीतकार उसी पथ को प्रशस्त कर रहे हैं।"[१]

इन कवियों पर अपना विचार देते हुए साही फिर लिखते हैं, "ये सभी कवि यौवन और भावुक उद्वेगों के कवि हैं। व्यक्तिगत सुख—दुख को अत्यधिक तीव्रता से अनुभव करने के कारण उनकी अनुभूतियाँ स्व केन्द्रित हो जाती हैं। कहा जाता है कि ये कवि निराशावादी हैं। पूर्णतया यह सत्य नहीं है कि सामाजिक रूढ़ियो के प्रति इन कविताओं में ज्यादा तीखा विद्रोह किसी मे नही मिलेगा। इन गीतकारों का आग्रह प्रेम के भाव पक्ष, निष्ठा मार्मिकता सवदना, और रोमांस की ओर है। यह निश्चित है कि नये कवि यथार्थ के अधिक निकट हैं।"[२]

'मूल्यांकन' शीर्षक के अन्तर्गत बच्चन सिंह ने शम्भूनाथ सिंह की आलोचना पुस्तक 'छायावाद युग' की समीक्षा की है। उनकी समीक्षा शैली और आलोचनात्मक विवेक का अच्छा परिचय इस समीक्षा से मिल जाता है। शम्भूनाथ सिह ने छायावाद युग का विश्लेषण करते हुए उसे दो मंजिलों में बांटा है और इन दोनों मंजिलों की विभाजक रेखा को पूंजीवादी स्वतंत्रता के भ्रम का ध्वन्स माना है। इसकी समीक्षा करते हुए बच्चन सिंह ने लिखा, "शम्भूनाथ जी ने जिस पूजीवादी वैयक्तिक स्वतंत्रता का उल्लेख किया है वह सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी अस्त्र का काम करती है। पूंजीवादी उत्पादन के साधनो को ही नहीं बदलता, बल्कि वितरण की व्यवस्था मे भी आमूल परिवर्तन करता है। इस नई व्यवस्था के कारण व्यक्तिवाद का जन्म होता है। कालान्तर में यह पूजीवादी वर्ग इसी वैयक्तिक स्वतंत्रता के अस्त्र से दूसरे वर्गों का शोषण करता है। पूंजीवादी स्वतंत्रता का अन्तर्विरोध उसे सर्वहारा वर्ग का साथी बना देता है। सब मिलाकर छायावाद युगीन पूंजीवाद का रोल क्रान्तिकारी ही कहा जायेगा। गोर्की ने एक स्थान पर कहा है कि जब कभी मार्क्सवादी दृष्टि से संस्कृति का इतिहास लिखा जायेगा, बुर्जुआ वर्ग की सांस्कृतिक देन का अतिरिक्त मूल्याकन

१ ७ ५३ पृ ६५

(२) पूर्णांक ७ अप्रैल ५३ पृ ६५

होगा। साहित्यिक क्षेत्र में इस मूल्यांकन का विशिष्ट महत्व होगा। शम्भूनाथ जी ने पूंजीपति वर्ग की सांस्कृतिक देनों तथा ह्रासोन्मुखी काल में उसकी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों पर अच्छी तरह विचार किया है।"(१)

बच्चन सिंह ने शम्भूनाथ सिंह की समीक्षा पद्धति की महत्वपूर्ण विशेषताओ को बड़ी स्पष्टता के साथ रेखाकित करते हुए लिखा है कि इससे नवीन सम्भावनाओं से युक्त एक सभ्य साहित्यिक दृष्टि सामने आई है जो हिन्दी समीक्षा साहित्य के उन्नयन में सहायक सिद्ध हुआ। वे लिखते हैं–"संक्षेप मे 'छायावाद युग' अपने ढंग की पहली और महत्वपूर्ण पुस्तक है। यद्यपि इसके मूल्यांकन का मूलाधार समाजशास्त्रीय पद्धति है तथापि यथा स्थान मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय समीक्षा–प्रणाली का भी सहारा लिया गया है। मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय समीक्षा–पद्धतियों के भीतर–भीतर लेखक की समाजशास्त्रीय समीक्षा–प्रणाली अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति बहती रहती है। लेखक ने जिस वैज्ञानिक तथा तर्कपूर्ण समीक्षा–प्रणाली का सहारा लिया है उसमें विश्लेषण की गहराई प्रायः सर्वत्र मिलेगी। इस पुस्तक के रूप में नवीन सम्भावनाओ से युक्त जो स्वस्थ साहित्यिक दृष्टिकोण सामने आता है वह हिन्दी समीक्षा साहित्य के उन्नयन में निःसंदेह महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।"(२)

उल्लेखनीय है कि बच्चन सिंह ने शम्भूनाथ सिंह की आलोचना पद्धति की जिन विशेषताओं को रेखांकित करते हुए हिन्दी समीक्षा साहित्य के उन्नयन की जिस सम्भावना को लक्षित किया है वह शम्भूनाथ सिंह की इस कृति से आगे विकास न पा सकी क्योंकि शम्भूनाथ सिंह ने उस राह को छोड़कर केवल गीत रचना तक अपने को सीमित कर लिया और 'गीत अर्द्धशती जैसे –उत्सव मनाने मे संलग्न हो गए। फलत हिन्दी को एक सम्भावना शील आलोचक से हाथ धो देना पड़ा।

इसी क्रम में नयी कविता को 'बावरा अहेरी', 'रात बीती, धरती और स्वर्ग', 'अंचल के नए गीत', 'तीन नये उपन्यास', कविताएँ १६५४, 'मैला आंचल' दिनकर की नयी काव्यकृतियाँ, निर्गुण की कहानियाँ, 'छितवन की छांव', 'नया साहित्य नए प्रश्न', 'वर्तमान कविता में नए गीत स्वर', 'रीति गीत और नयी कविता', जैसी समीक्षाएं भी उल्लेखनीय हैं। जिनसे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं पर नए समीक्षकों की आलोचनात्मक दृष्टि को समझने मे मदद मिलती है। इन समीक्षाओं से हिन्दी समीक्षा में नयी दिशाओं का विकास हुआ है।

प्रमुख आलोचक एवं उनकी आलोचना दृष्टि

धर्मवीर भारती एवं समिति ने 'आलोचना' के कुल ११ अंकों के सम्पादकीय वक्तव्यों में जिस आलोचना दृष्टि की घोषणा की है उसके ही अनुरूप निबन्धो एव समीक्षाओं को प्रकाशित किया। यह बात और है कि अपने व्यापक दृष्टिकोण को दर्शाने के लिए कुछ और तरह के भी लेख छापे गए। अपने सम्पादकीय मे इन लोगों ने लिखा, "किसी भी राष्ट्र के कवि, आलोचक, साहित्यकार को

(१) आलोचना पूर्णांक ७, अप्रैल ५३, पृ. १०२
(२) आलोचना पूर्णांक ७ अप्रैल ५३ पृ १०४

पूर्वग्रह से ग्रसित होना सबसे खतरनाक स्थिति होती है। आस्था, विश्वास निष्ठा के पीछे ईमानदारी बरतना साहित्यकार की मूलभूत आश्यकत्ता है। यह बात और है कि इस युग मे इनके पीछे बेईमानी की मात्रा ही अधिक है।' (६)

उस समय जो प्रमुख आलोचक उभर कर सामने आ रहे थे और अपनी प्रतिक्रियाएं, अपने निर्णय इस पत्रिका के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे उनमे बच्चन सिंह, डॉ. देवराज, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, रामरतन भटनागर हर्षनारायण, लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. रघुवंश, विजयदेव नारायण साही इत्यादि प्रमुख थे। अब 'आलोचना' में प्रकाशित लेखों के आधार पर उपर्युक्त आलोचको को विद्वानो की आलोचना-दृष्टि को रेखांकित किया जा रहा है।

आलोचना के तबके सम्पादकों में विजयदेव नारायण साही सबसे अधिक मेधावी, तीक्ष्ण और तर्कशील व्यक्ति थे। उनकी आलोचना पद्धति तर्काश्रित जान पडती है जो बराबर नये-नए विववादों को और विचारों को उत्तेजित करने वाली है। साहित्य में गतिरोध के अन्तर्गत साही यह प्रश्न उठाते हैं-कि साहित्य के सन्दर्भ में गतिरोध व्यावसायिकता के दबाव से है या गतिरोध वायवीय चिन्तन के कारण है ?'' वे यह प्रश्न भी पूछते हैं कि क्या हमारी जीवन-दायनी परम्परा के सशक्त तत्व इस तरह पराजित हो गए हैं कि गतिरोध ही गतिरोध साहित्य में दिखाई देने लगा है। उनका तर्क यह भी है कि लगभग सौ वर्षों के आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य ने जितनी उपलब्धि की है, उसके सन्दर्भ में गतिरोध अकल्पनीय है। साहित्यिक वातावरण और साहित्य सृजन में सम्भवत कुछ घुमाव और पेंच आ गए हैं। वे कहते हैं कि उनसे हताश होने का कोई कारण नहीं दिखता, ''चौरस भूमि पर फैलने वाले पानी की तरह साहित्य की ये उपधाराएं भी जो सीधी रेखा में नही बह रही हैं सम्पूर्ण गति का अंग ही मालुम पडती हैं।''

यूरोप में १५ वीं शताब्दी के पुनर्जागरण से आधुनिक भारतीय साहित्यिक परिदृश्य की तुलना करते हुए विजय देव नारायण साही का मानना है कि ''आज भारत ही नहीं प्रत्युत सारे एशिया के सामने नयी चेतना और नयी आकांक्षाओं का प्रशस्त पथ है।''

साही ने गतिरोध के विरुद्ध हिन्दी के अदम्य महत्वपूर्ण कारणों का साक्ष्य दिया है। वे इस घटना को भी महत्व देते हैं कि हिन्दी के विभिन्न केन्द्रो मे शक्तिशाली साहित्यिक गोष्ठियों का उदय हुआ है। यह वह भूमि है जहाँ हम अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए सामाजिकता को आत्मसात कर सकते है।

बीच-बीच में पश्चिमी और हिन्दी की प्रयोगशील कविता में अन्तर करते है। उनके अनुसार पश्चिमी प्रयोगशीलता की परिणति रहस्यात्मकता, विरोध ीकरण और व्यक्तिगत शब्दावली में हुई और हिन्दी की प्रयोगशील कविता मे लोक जीवन को अभिव्यक्ति मिली। इसी प्रसंग में वे प्रगतिशीलता की नई परिभाषा करते हैं और अपनी उदारता का परिचय देते हुए कहते हैं, ''हिन्दी के जिस भी लेखक का योग, पिछले सौ वर्ष की इस नयी साहित्यिक भाषा को सजोने संवारने निखारने और ढालने में रहेगा हमारे साहित्य की आधुनिक भूमिका मे वह ही

विजयदेव नारायण साही प्रगतिशील होने के लिए दलानुशासित होना आवश्यक नही मानते। उनकी आपत्ति कम्युनिष्ट विचारधारा के लेखकों पर है जो भारत की आजादी को आजादी मानते ही नहीं। ऐसे कम्युनिष्ट लखक समय–समय पर न्यूनतम कार्यक्रम का सुझाव देते हैं। साही का कहना है कि साहित्य मे न्यूनतम कार्यक्रम को वह सफलता नहीं मिल सकती जो राजनीति मे कभी–कभी मिल जाती है। यह बात तब कही गई थी जब अमृत राय ने साहित्य मे संयुक्त मोर्चा–नामक पुस्तक लिखी थी।

साही के अनुसार वास्तविक गतिरोध उन लेखकों के मन में है जो सिद्धान्त, मान्यता, रचना, कर्म प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रतिक्रियावादी हैं, इनमें कुछ तो पुनरुत्थानवादी हैं। साही की यह दृष्टि इस व्याख्या में दिखाई देती है कि पुनरुत्थानवाद किसी देश के पुनर्जागरण युग का प्रथम चरण होता है। प्रारम्भ मे यह सांस्कृतिक नव जीवन के लिए सहायक होता है, पर बाद में वही साहित्य के गतिरोध का मुख्य आधार बन जाता है।

साही इस पर बल देते हैं कि युद्ध के बारे में भारतीय जनता की राय नहीं हो सकती है जो योरोपीय व्यक्ति की होगी। ४२ का विद्रोह, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नरसंहार, स्वतंत्रता प्राप्ति, भारत का बढता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय महत्व, गाँधी, विनोबा की वैष्णव राजनीति, भारतीय जनता के दुख, ये सब ऐसे सन्दर्भ है जिन्होने जनता के भविष्य के प्रति अदम्य आस्था जगायी है। इसलिए साही आवेश में कहते हैं–"जिन लेखकों के सामने मातृभूमि और भाषा का इतना बडा अविजित साम्राज्य खड़ा हो, उनके लिए गतिरोध का प्रश्न ही क्या, उन्हें तो सब कुछ जीतना ही है, हारना कुछ भी नही। मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिष्ट परिणति स्वतत्र लेख के रूप मे 'आलोचना' के आलोचना विशेषांक में प्रकाशित हुआ और चर्चा का विषय बना। इस निबन्ध के अन्त में साही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "समकालीन कम्युनिष्ट आलोचना की पकड इसी बात में है कि वह साहस के साथ मानवता के महान अतीत साहित्य की ओर नहीं ताक सकती, छोटे–छोटे लेख ही उसका अन्त है। एक भी कम्युनिष्ट आलोचक ऐसा नहीं है जो साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास लिखने का साहस कर सके और अन्त में काडवेल और लुकाब की भाँति असंगतियों का भण्डार, विरोधाभासों का कोष अथवा कुत्सित समाजशास्त्रीय बनकर निकले।"

साही एंगिल्स को महत्व देते हैं जो सैद्धान्तिक तत्वों से अधिक महत्व सजीव यथार्थ को नहीं छोड़ना चाहता। साही आलोचना में रूपक की भाषा का इस्तेमाल करते हैं। वे समझते हैं कि मार्क्स के अनुसार पतंग भूमि से डोर द्वारा बधी हुई है, उसकी ऊँचाई की सीमा का निर्धारण डोर की लम्बाई करेगी लेकिन आकास में वह किस वेग से उड़ेगी यह सब आकास के ऊपर हवा की गति से नियन्त्रित होगा।

साही 'ट्राटस्की' के साथ दिखाई देते हैं जो कहता है कि मार्क्सवादी पद्धति नई कला के विकास करने का अवसर प्रदान करती है और उसके समस्त स्रोतो को खोजती है वह मानता है कि कला को अपने द्वारा ही राह बनानी होगी इसमे पार्टी का आदेश बहुत नहीं हो सकेगा ट्राटस्की

समाजवादी साहित्य का जो सपना देखता है वह साही को मूल्यवान लगता है।

साही के इस लेख का मुख्य उददेश्य मार्क्सवादी आलोचना के तीसरे कम्युनिष्ट युग का विरोध करना है। वे कहते हैं, "एक ओर धीरे–धीरे साहित्य को प्रतिबिम्ब, फिर वर्ग का प्रतिबिम्ब, फिर मजदूर वर्ग का प्रतिबिम्ब बनाया गया, दूसरी ओर जनता को समेट कर मजदूर वर्ग, फिर मजदूर वर्ग को कम्युनिष्ट पार्टी और कम्युनिष्ट पार्टी को भी पार्टी नेतृत्व में केन्द्रित कर दिया गया।" साही की आलोचना मे व्यंग्य शक्ति है वे कहते हैं साहित्य तो हथियार बना ही आलोचना तो हथियार बनी ही, अब मार्क्सवाद भी एक हथियार बन गया है।"

विलक्षण तर्क शक्ति के कारण साही के पहले के लेख और सम्पादकीय वक्तव्य याद किए जायेंगे।

धर्मवीर भारती सीधे–सीधे शीत युद्ध की विचारधारा से प्रभावित हुए और आस्था की संकट की उनकी सटीक व्याख्या अमेरिकी चिन्तकों से उधार ली हुई जान पड़ती है। अपने देशकाल की साहित्यिक परम्परा का मूल्यांकन उन्होने नही किया। धर्मवीर भारती में अमूर्त कथन बहुत हैं। रूपकों के प्रयोग मे ये भावावेश प्रेरित जान पड़ते हैं। 'साहित्य की नई मर्यादा' नामक लेख में डॉ भारती ने कहा है कि समकालीन संकट की उलझनों से भरी हुई जटिलताओ मानवीय मूल्यों को स्थापित और विकसित करने के स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का इतिहास न कर सकने वाले कितने ही चिन्तक, लेखक और कलाकार इस दासता के तथाकथित कायरता पूर्ण सरल समाधान को जुए की तरह स्वीकार करके इस भय का शिकार बन चुके हैं। प्रणति और विकास की दिशा में मानव इतिहास को मोड़ने के लिए प्रत्येक जागरुक साहित्यकार को इस भय के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना है।

डॉ रघुवंश अपेक्षाकृत अधिक उदार, व्यापक और समावेशी आलोचक है। डॉ. रघुवंश ने वैयक्तिक स्वाधीनता और सामाजिक दायित्व को एक दूसरे की सापेक्षता में देखा। मार्क्सवाद के प्रति उनका विरोध भी उतना मुखर नही है। वे मानव मन की गुत्थियों और वैयक्तिक संरचना की समस्याओं पर विचार करते रहते हैं। साहित्य की जटिलताओं के प्रति भी एक प्रकार का उदार सम्मान भाव है।

इतना स्पष्ट है कि इस सम्पादक वर्ग ने मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य के विरोध का सुनिश्चित प्रयत्न किया।

आलोचना विशेषांक में नन्ददुलारे वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति पर डॉ भगवत स्वरूप मिश्र ने विचार प्रकट किया है। इसमें वाजपेयी जी के रस सिद्धान्त सम्बन्धित विचारधारा को भी स्पष्ट किया गया है। वाजपेयी जी काव्य स्वरूप विषयक धारणा का निर्धारण स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा परिणत रचनाओ से प्राप्त किया। यद्यपि वाजपेयी जी साहित्य में 'वाद' विरोधी थे। कवित्त की काव्यात्मक परिणत में जिन तत्वों की सत्ता वाजपेयी जी देखना चाहते हैं वे स्वच्छन्दता वादी काव्य रचना और चिन्तन में पुष्फल रूप से वर्तमान हैं। वाजपेयी जी ने अनुभूति के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रसिद्ध भाववादी चितक क्रोचे तथा रसवादी भारतीय आचार्यों का साक्ष्य देते हुए कहा है कि अनुभूति और होती है वह किसी प्रकार का देश

काल–व्यक्ति का भेद नहीं जानती, यह सार्वजनिन और सार्वभौम होती है। क्रोचे के स्वर मिलाते हुए वे कहते हैं कि वह अनुभूति अनुभूति ही नहीं है जो अभिव्यक्ति न हो और वह अभिव्यक्ति अभिव्यक्ति नहीं है जो काव्य न हो।

नंद दुलारे वाजपेयी अपना 'पहचान' लेकर जिस प्रवाह में आ खडे हुए वह रचना की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी प्रवाह था। रचना और आलोचना समानान्तर रूप से प्रवाहित होती है, अतः रचना के अनुरूप रचना के भीतर से ऐसे मानदण्ड को उभारने की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो तब तक के साहित्य पर अपना संचार करा सकने में समर्थ हो।

आचार्य वाजपेयी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक तत्वों के प्रति अटूट निष्ठा रखते हुए भी स्वतः स्फूर्ति, सर्जन और चिन्तन के पक्षधर अधिवक्ता थे, वे स्वच्छन्दतावादी जमीन पर पनपे छायावादी साहित्य के समर्थ समीक्षक और उन्नायक आचार्य थे। उनके व्यावहारिक समीक्षक मे वह तत्वार्थ दर्शनी बुद्धि है जो रसावेश में द्रष्टा के प्रति मानस का साहित्यिक समाग्रता में साक्षात्कार कर लेती है और तब उसका विश्वसनीय विश्लेषण प्रस्तुत करती है। नन्द दुलारे वाजपेयी प्रायः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाओं मे फैली हुई भ्रान्तियों का अनेक निष्पक्ष निरसन करते रहे है। वाजपेयी जी प्रयोगवादी साहित्यिकों के सम्बन्ध में कहते हैं कि, "प्रयोगवादी के लिए मेरी पुस्तक में एक भी संवर्धना के शब्द नहीं है, बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोगवादी तिलमिला उठे हैं। प्रयोगवादी साहित्यिकों के सम्बन्ध में मेरी धारणा कभी बहुत ऊँची नहीं रही। 'प्रयोग' शब्द में ही एक प्रकार की कृत्रिमता और अभ्यास की व्यजंना है।" वाजपेयी जी प्रयोगवाद को बैठे ठाले का धंधा मानते है।

डॉ. देवराज के जो निबन्ध आलोचना के डॉ. धर्मवीर भारती के समय मे छपे उनमें 'समकालीन आलोचना, कुछ खतरे', 'प्राचीन साहित्यशास्त्र की उपयोगिता' और 'हिन्दी उपन्यास का धरातल' प्रमुख हैं।

'समकालीन आलोचना, कुछ खतरे' में कहते हैं कि आलोचना के दो प्रधान उद्देश्य कहे जा सकते हैं–आलोच्य कृति या कृतियों का विश्लेषण और उस विश्लेषण द्वारा पाठकों का परिष्कार। इन्होंने इस बात पर भी बल दिया है कि 'समीक्षा की समीक्षा भी होती रही– आलोचक–विचारक एक दूसरे की मान्यताओं तथा समीक्षा प्रणालियों की सतर्क परीक्षा करती रहें– डॉ. देवराज ने 'समीक्षा में चल रहे गुटबन्दियों, कुछ खतरों की तरफ साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। इनमें कुछ खतरे इस प्रकार हैं–आज कल लेखक अपना ध्यान साहित्य रचने में कम लगाता, अपनी शक्तियों को इधर–उधर बिखेरने मे अधिक। जिसके फलस्वरूप वह ठोस सृष्टि नहीं कर पाता। विज्ञापनबाजी, दलबन्दी तत्था नारेबाजी करने में व्यस्त हो जाता जिससे कि साहित्य का स्तर उठाने में बाधा पड़ जाती है। हिन्दी का विचारात्मक दायरा इस समय बहुत सकुचित है। इने गिने प्रश्नों पर विवाद होता है, जिनका सम्बन्ध साहित्य से कम दूसरे से ज्यादा है।

इनका कहना है कि समीक्षक को साहित्य के प्रति अधिक सतर्क रहना चाहिए प्रगतिवादी तो हैं लेकिन इनकी साहित्यिक कम ज्यादे है यही कारण है कि समीक्षा में रस ग्राहिता की

जगह कट्टरता ज्यादे मिलता है। किसी भी साहित्यिक वाद को मान भर लेने से वह समीक्षक नही बन जाता। समीक्षक होने से पहले किसी लेखक का रसज्ञ पाठक होना जरूरी है।

इस प्रवृत्ति की आलोचना से जो लेखक उभरे उसमे एक नाम लक्ष्मीकान्त वर्मा का भी है जो जटिल, ग्रन्थिल, आडम्बर युक्त भाषा में आधुनिक मनुष्य के मूल्य संक्रमण की व्याख्या कर रहे थे।

जगदीश गुप्त ने नई कविता में 'रस और बौद्धिकता' शुक्लोत्तर समीक्षा इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार तीन निबन्ध लिखे। डॉ गुप्त नई कविता के प्रबल समर्थक थे। इन्होंने उस समय की नई कविता पर उठने वाले सभी प्रश्नों का उत्तर बहुत ही चतुराई से दिया है। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए इन्होंने बताया—जो लोग नई कविता में प्राचीन काव्यशास्त्रियों द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों को खोजते हैं यह उनकी भूल है। इन्हीं के शब्दों में, "केवल रस की दृष्टि से नई कविता निश्चय ही उत्तम कोटि में नहीं आती पर जहाँ तक मै सोचता हूँ हिन्दी की समस्त नई कविता को रस की कसौटी पर कस कर खरा—खोटा बता देना उचित नहीं।" इनका कहना है कि, 'प्राचीन काल और मध्यकाल मे गद्य कविता के समीप था, आज कविता गद्य के समीप आ रही है। विकास और परिवर्तन के इस क्रम को कोई सिद्धान्त, कोई शक्ति रोक नही सकती। नई कविता किसी प्रतिक्रिया से नहीं उपजी है, वह आधुनिक मानव की सहज परिणति है। इसमें अनेक सम्भावनाएं छिपी हैं। उसका निषेध मात्र तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता। काव्य शास्त्रियों को उसे किसी—न किसी रूप में प्रतिष्ठा देनी ही होगी।

उस समय के आलोचना को महत्वपूर्ण योगदान करने वाले कुछ और लेखक, आलोचक थे, जिनमें हर्षनारायण, रामरतन भटनागर, बच्चन सिंह, डॉ लक्ष्मीनारायण लाल इत्यादि प्रमुख हैं जिन्होंने अपने लेखों, विचारों, समीक्षाओ के माध्यम से आलोचना को एक नई दिशा दी है। जिसकी चर्चा भी की जा चुकी है। इनका योगदान शुक्लोत्तर आलोचना में महत्वपूर्ण है।

भाषा

इस काल की आलोचना ने एक नई आडम्बरयुक्त भाषा का विकास किया। हिन्दी के जातीय गद्य वाली छवि इसमें नहीं दिखाई देती है। अंग्रेजी आलोचना जैसे अनूदित होकर नये रूप में आ रही हो। इस प्रकार का कृत्रिम विन्यास इस प्रवृत्ति की आलोचना में दिखाई देती है। विभिन्न अंकों को देखने से स्पष्ट लगता है शेष सामग्री तो बहुत कुछ परम्परागत है पर इन सम्पादक आलाचकों की प्रवृत्ति इस अर्थ में बहुत संकीर्ण जान पड़ती है कि वह शीत युद्ध की विचारधारा को महत्व देती है। व्यक्ति की स्वाधीनता की अतिवादी व्याख्या करती है और प्रगतिशील यथार्थवादी साहित्य के मूल्यांकन से बचती है जिसमे भारतीय जनमानस अधिक गहरे स्तर पर मौजूद दिखाई देता है। एक ओर इस प्रवृत्तिगत आलोचना ने मार्क्सवाद के विरोध को आधार बनाया तो दूसरी ओर उसने आलोचना को ——— बनाने की चेष्टा की 'आलोचना' एक तरह से स्वय हो गई

पंचम अध्याय

डॉ. नामवर सिंह द्वारा सम्पादित आलोचना

नामवर सिंह के सम्पादन से पूर्व 'आलोचना' पत्रिका कई तरह के परिवर्तनों से गुजरी है। वाह्य रंग–रूप, आकार–प्रकार और सम्पादकों के साथ अपनी आलोचना दृष्टि भी बदलनी पड़ी।

सर्वप्रथम प्रख्यात प्रगतिवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान ने 'आलोचना' क्यों? और साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा' की घोषणा के साथ पत्रिका का सम्पादन कार्य सम्भाला था। कतिपय कारणों से इस पत्रिका के सम्पादकों मे परिवर्तन होता रहा, इसी कारण इसकी दृष्टि भी बदलती रही। शिवदान सिंह चौहान द्वारा दूसरी बार इस पत्रिका का दायित्व सम्भालने के पहले पत्रिका का प्रकाशन ४८ महीने तक बंद रहा।

हर परिवर्तन के पीछे कुछ ना कुछ उद्देश्य अवश्य ही रहा होगा। इस परिवर्तन के पीछे जो उद्देश्य था उसकी घोषणा शिवदान सिंह चौहान द्वारा सम्पादित अन्तिम अंक में ही कर दी गयी थी, 'आलोचना' अब डॉ. नामवर सिंह के सम्पादकत्व में निकलने जा रही है। साहित्य और साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों में इस बीच जो परिवर्तन हुए हैं, उनको देखते हुए 'आलोचना' की रूप रेखा में आवश्यक परिवर्तन वांछनीय है। इस दृष्टि से हम आलोचना को एकडेमिक क्षेत्र से अधिक व्यापक क्षेत्र के उपयुक्त एक जीवन्त रूप देना चाहते हैं। जिसमें जीवन–संस्कृति और साहित्य के नये–नये स्पन्दन का प्रतिफलन होगा।

इसका मुख्य आकर्षण–

१ : प्रत्येक अंक का केन्द्र बिन्दु एक परिसंवाद होगा, जिसमें किसी ज्वलन्त समस्या पर कम से कम पाँच विचारोत्तेजक निबन्ध होंगे।

२ साहित्य के समुचित मूल्याकन के लिए व्यवस्थित रूप मे

पुस्तक समीक्षा दी जायेगी। यह कार्य एक सुगठित समीक्षक–मण्डल द्वारा सम्पन्न होगा।

३ हिन्दी जगत को भारतीय साहित्य एवं विश्वसाहित्य की नवीनतम गति–विधियों के सतत सम्पर्क मे रखने के निमित्त विभिन्न भाषाओं से 'संवाद–पत्र' प्रकाशित करने की व्यवस्था की गइ है।"[१]

सम्पादकीय वक्तव्य

नामवर सिंह ने अप्रैल १९६७ से इस पत्रिका के सम्पादन का दायित्व सम्भाला और उसका निर्वाह आज तक कर रहे हैं। इन्होंने अपने सम्पादकीय वक्तव्यों मे उन ज्वलन्त महत्वपूर्ण मुद्दों को उठाया और उस पर महत्वपूर्ण विद्वान लेखकों के विचारोत्तेजक, प्रभावी, साारगर्भित निबन्ध प्रकाशित किए। एक ओर सामान्य अंकों में सम्पादकीय वक्तव्य लिखे नहीं गये, दूसरी ओर उन महत्वपूर्ण अंकों में सम्पादकीय वक्तव्य दिए गये जिनमें कोई विशेष बात कहनी हो—उदाहरण के लिए विशेषांकों में दिए गए लम्बे–लम्बे सम्पादकीय वक्तव्य।

इस पत्रिका के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह ने अपने पहले ही अक के सम्पादकीय में लिखा, "आलोचना नए रूप में निकल रही है। लम्बा चौड़ा दावा न करके सम्प्रति इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नई आलोचना आज की ऐतिहासिकता से पूरी तरह जागरूक है। इस दायित्व निर्वाह के लिए यदि वह साहित्य की आलोचना के साथ साहित्येतर समझी जाने वाली गतिविधियों की आलोचना को भी संयुक्त करके दृष्टि विस्तार करती है तो स्वधर्म की पुन. प्रतिष्ठा ही समझनी चाहिए, क्योंकि समकालीन परिवेश के सन्दर्भ मे ही साहित्य की सार्थक समीक्षा सम्भव है। आलोचना आज का मुख्य स्वर है, ऐसा कुछ नहीं, जो आलोचना से परे है। 'आलोचना' मूल्यगत संवेदनशीलता और विवेक की रक्षा तथा यथाशक्ति विकास के लिए संघर्ष करना चाहती है। आलोचना अन्ततः मूल्यांकन है और मूल्यांकन के लिए सबकी पहुँच में आवश्यक तथ्यो का होना तथा उन तथ्यों के यथोचित विश्लेषण के लिए, चिन्तन के लिए सवेदनशील औजारों को सुलभ करना अनिवार्य है। आज तथ्यों के नाम पर जिस प्रकार निरे शब्दों का ढेर लग रहा है और विश्लेषण के स्थान अपर आरोपित समन्वय के लिए जल्दबाजी मचाई जा रही है, 'आलोचना' तथ्यात्मकता और निर्मम विश्लेषण के लिए कृत संकल्प है। इस दृष्टि से हम स्फीत वाग्जाल के विरुद्ध यथातथ्य सार्थक एवं संवेदनशील भाषा की दिशा मे अग्रसर होना चाहते हैं, क्योंकि आज हर चीज को उसके सही नाम से पुकारने की आवश्यकता हे। इस प्रकार 'आलोचना' भाषा के स्तर पर भी आज की व्यापक निरर्थकता के खिलाफ लड़ने को प्रस्तुत है।"[२] में इस तथ्य की सिद्धि के लिए उनकी योजना बनी है। "आलोचना' में इस नीति के अन्तर्गत प्रत्येक अंक में प्रासंगिक स्वतन्त्र आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त किसी ज्वलंत प्रश्न पर नियमित रूप से एक परिसंवाद देने की योजना है, साथ ही, समकालीन कृतित्व का व्यस्थित

---

(१) आलोचना सम्पादकीय

(२) नवाक १ अप्रैल १९६७ पृ २

मूल्यांकन एव पूर्ववर्ती कृतियो तथा कृतिकारो का योजना बद्ध पुनर्मूल्यांकन का भी कार्यक्रम है। मुख्यतः हिन्दी जगत और हिन्दी साहित्य पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित रखते हुए भी आधुनिक परिप्रेक्ष्य के परे बोध के लिए समय–समय पर देशी–विदेशी भाषाओं का मुकम्मल आकलन करने का प्रयास होगा।"(१)

हिन्दी साहित्य मे निकलने वाली आलोचना की कविताओ में 'आलोचना' ही एक ऐसी पत्रिका होगी जिसमें सम्पादकीय लेख बहुत कम लिखे गए। मुख्यतः विशेषांकों में ही अधिकतर सम्पादकीय लेख लिखे गए हैं। जैसे–

मुक्तिबोध विशेषांक :

कविता की राजनीति या परम्परागत राजनीति की कविता-

मुक्तिबोध पर केन्द्रित 'आलोचना' के अंक के सम्पादकीय में कविता की राजनीति या परम्परागत राजनीति की कविता' पर विचार करते हुए 'प्रतिपक्ष का साहित्य' के विषय में नामवर सिंह ने लिखा है, "इधर कवियों की रचनात्मक स्थिति को देखकर ऐसा लगता है कि कविता फिर एक संकट बिन्दु पर पहुँच गई है। इस दशक के साथ तथाकथित राजनीतिक कविताओं का जिनमे राजनीति विरोधी कविताएं शमिल हैं–जो दौर शुरू हुआ था उसमें अब एक तरह का ठहराव आ गया है, ठहराव कहीं आवृत्ति के रूप में है तो कहीं मौन के रूप में।"(२)

इन्होंने आगे स्पष्ट किया है कि 'निःसन्देह एक अर्थ में सभी कविताए राजनीतिक होती हैं–वे भी जिनमें कवि अपने राजनीतिक संदर्भ के प्रति सचेत नहीं होता।"(३) जब एक चुप्पी भी संदर्भ के द्वारा अर्थ पा जाती है तो फिर किसी भी कविता का राजनीतिक अर्थ प्राप्त कर लेना स्वयं सिद्ध है। नामवर सिंह के शब्दों में, "जागरूक कवि अपने कवि कर्म के दौरान सतर्कता के साथ इस राजनीतिक संदर्भ को परिभाषित करते चलते हैं और इस प्रकार सीधे–सीधे राजनीतिक विषयों पर कविता न लिखते हुए भी अपनी प्रत्येक रचना को एक निश्चित राजनीतिक बल देते हैं। महत्वपूर्ण है राजनीति संदर्भ का गहरा बोध। जरूरी नहीं कि कवि इस राजनीतिक संदर्भ के बारे में लिखे ही–क्योंकि संदर्भ तो कविता में प्रायः व्यंग्य होता है। लेकिन इस संदर्भ को व्यंजित करने के लिए उसका वास्तविक बोध जरूरी है। इस संदर्भ बोध के बिना अराजनीतिक तो क्या राजनीतिक कविता भी अर्थ शून्य है।"(४)

परजीवपन : स्वीकृति का साहस

वर्तमान समाज में 'परजीवीपन' चारो तरफ पनप रहा है परन्तु जिस परजीवीपन को कोई स्वीकारने को तैयार नहीं। नामवर सिंह के शब्दों मे "व्यवस्था ने वास्तविकता को ढकने के लिए इतने जादू और मिथक गढ़ रखे है कि आज बहुत से लेखक न तो अपने आप को परजीवी मानने को तैयार होगे

(१) आलोचना नवांक, १ अप्रैल १९६७, पृ. २
(२) आलोचना नवांक, ६ जुलाई ६८, पृ. ४
(३) वही, पृ. ७
(४) आलोचना नवांक, ६ जुलाई ६८, पृ. ७

और न अपने साहित्य के परजीवीपन को स्वीकार करेंगे। यह तो मुक्तिबोध का ही जिगरा था जो साफ शब्दों में कह सकते थे कि अब तक क्या किया। जीवन क्या जीया। ज्यादा लिया और दिया बहुत–बहुत कम। मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम। परजीवीपन के गहरे एहसास की इससे अधिक स्पष्टोक्ति और क्या हो सकती है?"[१]

जहाँ तक परजीवीपन का जीवन में स्वरूप का सम्बन्ध है, उत्पादन से उदासीनता और उपभोग की आतुरता उसके प्रमुख उपादान हैं। जल्द से जल्द ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने और थोड़े श्रम मे धनी हो जाने की आकाक्षा होती है। इसी आकांक्षा का फल है कि चारो तरफ 'शार्टकट' का नारा लग रहा है और यह परजीवियों के लिए आदर्श वाक्य बन गया है, कुल मिलाकर 'शार्टकट' इस्तेमाल करने वाला परजीवी वर्ग काफी बड़ा है। 'शुद्ध साहित्य' के साहित्य शास्त्र का उक्त परजीवी वर्ग से सम्बन्ध और भी गहरा और सूक्ष्म है।

प्रेमचन्द स्मृति अंक : प्रासंगिकता का सवाल

प्रेमचन्द स्मृति अंक के सम्पादकीय में 'प्रेमचन्द : विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता' शीर्षक के अन्तर्गत इस बात पर विचार किया गया है कि प्रेमचन्द आज कितने प्रासगिक हैं ? नामवर सिंह इस प्रासंगिकता के लिए तरह–तरह के आन्दोलनों और जुलूसों से पूछते हैं कि वह कौन प्रसंग है जिसमें उन्हे प्रासंगिक होना है ?

इस सम्बन्ध में नामवर सिंह की राय में 'प्रेमचन्द की प्रासंगिकता की चर्चा को मार्गच्युत करने में निःसन्देह प्रेमचन्द के आलोचकों का ज्यादा हाथ है। इन आलोचकों में अधिकांश कलावादी हैं अथवा आधुनिकतावादी। उन्हें न अपने सामाजिक सन्दर्भ से मतलब है न प्रेमचन्द के। प्रासंगिकता का अर्थ उनके लिए कलात्मक प्रासंगिकता से है। इसे ये एक अरसे से शब्द बदल–बदल कर कहते आ रहे हैं कि कला की दृष्टि से प्रेमचन्द पुराने पड़ गए हैं। इतने पुराने कि उनमें अब हमारी दिलचस्पी नहीं हो सकती और न अपनी सृजन प्रक्रिया मे उनसे कोई मदद ही मिल सकती है।"[२]

इस प्रकार के जितने भी कलावादी हैं वे सीधे–सीधे अपनी बात नही कहते। नामवर सिंह व्यंग्य के रूप में कहते हैं, "वह आधुनिकता वादी ही क्यो कि सीधी बात सीधे ढंग से कहे फिर कलाकारी क्या होगा ? यही बात 'लेकिन लगाकर कहते हैं।" इन लेकिनवादियों को शिकायत है कि गोदान का ढॉचा औसत उपन्यासों जैसा चुस्त नहीं, बल्कि शिथिल है। फिर जो भंगिमा अपनाता है भारतीयता की हिमायत की लेकिन यह दृष्टि यूरोपीय है। यह यूरोपीय दृष्टि से निर्धारित की हुई भारतीयता है। इसका उत्तर समाजशास्त्री पूरनचन्द जोशी ने लिखा है, "प्रेमचन्द ने नयी अन्तर्वस्तु के अनुरूप नये रूप विधान का सृजन किया–यथार्थवादी विषयवस्तु के अनुकूल यथार्थवादी शिल्प का सृजन और निखार।"[३]

---

(१) आलोचना नवांक, अक्टूबर ७३, पृ. १
(२) आलोचना ५१–५२ अक्टूबर ७६ पृ १
(३) नवांक ५१–५२ अक्टूबर ७६ पृ ८

लेकिनवाद का दूसरा रूप है कि प्रेमचन्द में यथार्थ चित्र तो है लेकिन सूक्ष्म कवित्व नहीं है। एक साहित्यकार का तो कहना है कि प्रेमचन्द में प्रवृत्ति को देखने की दृष्टि न थी। इसके उत्तर मे डॉ. नामवर सिंह ने सम्पादकीय म लिखा है–"शिकायत करने वाले यह भूल जात हैं कि जिसे वे प्रेमचन्द का दोष कहते हैं वह वस्तुतः उनका गुण है। उनके सामने 'ग्राम जीवन' और समकालीन रोमांटिक कवित्व के प्रचुर प्रलोचन थे। वे बडी आसानी से अपनी ग्राम कथाओ को बम्बइया फिल्मों तथा सूचना प्रसार विभाग के मनमोहक ग्राम चित्रो से रग सकते थे–लेकिन उन्होंने यदि लोभ संवरण किया तो यथार्थ के तकाजे से। फिर भी स्थिति के अनुरूप प्रेमचन्द के यहाँ प्रकृति भी आती है और कवित्व भी जैसे वसन्त में 'होरी आम के बाग में पहुँचा, तो वृक्षों के नीचे तारे से खिले थे। उसका व्यथित निराश मन को इस व्यापक शोभा और स्फूर्ति में आकर गाने लगा–

'प्रिया जरत रहत दिन रैन।
आम की डरिया कोयल बोले तनिक ना आवत चैन,

क्या 'हिया जरत रहत' में कोई कवित्व नहीं है ?"(१)

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर नामवर सिंह ने यह स्पष्ट किया है कि प्रेमचन्द आज भी प्रासंगिक हैं, इसलिए कि स्वाधीनता के बाद गाँवों को लेकर जो आंचलिक और गैर आंचलिक उपन्यास लिखे गये हैं वे अशत· उत्कृष्ट होते हुए भी समग्र परिप्रेक्ष्य में अन्ततः 'आंचलिक' ही हो कर रह गए हैं और यहाँ प्रेमचन्द प्रेरणा दायक तथा मार्ग दर्शक हो सकते हैं, इसी में निहित है प्रेमचन्द की विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता।"(२)

जनकवि नागार्जुन की सत्रहवीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में लिखे सम्पादकीय लेख में नामवर सिंह ने जन कवि की महत्ता को रेखाकित किया है। नागार्जुन भारत के प्रतिनिधि जनकवि हैं। तरल आवेगों वाला, अतिभावुक, हृदयधर्मी जन कवि। इस जनकवि ने अपनी कविता मे किसी को भी नहीं छोडा इसीलिए डॉ नामवर सिंह ने लिखा है, "समाजवाद का स्वप्न देखने वाले नागार्जुन इस दौर में जनवाद की रक्षा के लिए बराबर खड्गहस्त रहे–यहाँ तक कि निरंकुशता के विरोध की कीमत चुकाने में भी वे अपने समाजधर्मी कवियों में सबसे आगे रह। नागार्जुन की यह वर्ग प्रतिहिंसा कविता में व्यंग्यों के रूप में प्रकट हुई है और बिना हिचक के कहा जा सकता है कि कबीर के बाद हिन्दी में नागार्जुन से बडा दूसरा व्यंग्यकार पैदा नहीं हुआ। अपनी कविता में स्वयं वे कहते है–'हमने कबीर का पद ही तो सीखा है'। शासक वर्ग का कोई तबका इस व्यंग्य की मार से बचने नहीं पाया है। व्यंग्य के विषय ही विविध नहीं, व्यंग्य के काव्य रूप भी विविध हैं।"(३)

इस जनकवि की तुलना उन सभी प्रयोगवादी कवियों से करते हुए नामवर सिंह कहते हैं "प्रयोगवादियो ने तो प्रयोग का नारा भर दिया था वस्तुतः अकेले नागार्जुन ने कविता के रूप विधान में जितने प्रयोग किए है, सारे

(१) आलोचना नवांक ५१-५२ अक्टूबर ७६ पृ ३
(२) नवांक ५१-५२ अक्टूबर ७६ पृ ५
(३) नवांक ५१-५२ जनवरी ८१ पृ २

प्रयोगवादी मिलकर भी उसका दशमांश कर दिखाने मे असमर्थ साबित हुए है।"(१)

डॉ. रामविलास शर्मा : प्रगतिशील आलोचना के अग्रदूत

नामवर सिंह ने प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डॉ रामविलास शर्मा की सत्तरवीं वर्षगांठ के उपलब्ध में उनके कृतित्व और व्यक्तित्व का मूल्याकन किया है। डॉ. रामविलास शर्मा की रचनाओं की समीक्षा करते हुए नामवर सिंह ने यह स्थापित किया है कि डॉ. शर्मा प्रगतिशील आलोचना के अग्रदूत होने के साथ ही हिन्दी जाति के प्रतिनिधि समालोचक है और इस हैसियत से समूचे भारतीय साहित्य के विकास में उनका योगदान अन्यतम है। उनका संघर्ष और साधना हमारे लिए सतत प्रेरणा के स्रोत हैं और अतुलनीय उपलब्धियॉ अभिनन्दनीय।

डॉ. रामविलास शर्मा की रचना 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' के विषय मे डॉ नामवर सिंह ने लिखा है, "भाषिक तथ्यों की दृष्टि से यह ग्रन्थ भारत के समस्त भाषा परिवारों का अभूतपूर्व विश्वकोश है। ऐसा भाषा कोश हिन्दी में तो है ही नहीं, किसी अन्य देशी या विदेशी भाषा में भी होगा या नही, हमे नहीं मालूम। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जो कार्य भारत के इतने सारे सुविधासम्पन्न भाषा विज्ञान विभाग मिलकर भी न कर पाये, डॉ. शर्मा ने तनहा अपने बूते पर उसे सम्पन्न कर दिखाया।"(२)

अन्त में डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. रामविलास शर्मा की प्रत्येक रचना को अद्वितीय, अनुपम सिद्ध करते हुए लिखा है कि 'राम की शक्ति पूजा' के विषय मे बहुत से विद्वानों ने समीक्षाएं लिखी परन्तु डॉ. रामविलास शर्मा की समीक्षा का मूल्यांकन भी उन्हीं के शब्दों में, "राम की शक्ति पूजा' के स्थापत्य में जैसा सूक्ष्म विवेचन हुआ है, वह चालू फैशन के शैली विज्ञान वाले भाषिक विश्लेषको के लिए चुनौती है। हिन्दी में किसी आधुनिक कवि के कला–सौन्दर्य की ऐसी सूक्ष्म और समग्र समीक्षा कहाँ हुई है ?"(३)

डॉ. रामविलास शर्मा की रचना–'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक घटना है। इस समय इसकी महत्ता और भी बढ जाती है जब देश की स्थिति ऐसी हो। उसे ऐतिहासिक घटनाए और 'हिन्दी को ऊपर मानते हुए नामवर सिंह कहते हैं, "आज हिन्दी मे 'क्रान्तिकारी' मार्क्सवादियों की कमी नहीं है। सभी रणबांकुरे हैं, योद्धा का बाना बाधे। और कमी भले हो, वाणी में नवीनता कम है न क्रोध। लगता है क्रान्ति होने ही वाली है और होगी तो उन्हीं के नेतृत्व में। उधर जनता असंगठित है वामपन्थी दल एक दूसरे को तोड़ने की कोशिश में स्वयं अप्रासंगिक होने लगे है अवसरवादी संसदीय राजनीति का बोलबाला है। व्यवस्था का ढाँचा अपने ही पापों के भार से चरमरा उठा है, फासिस्ट शक्तियाँ जहाँ–तहाँ से फिर से सिर उठाने का मौका पा गयी हैं, परमाणु युद्ध की काली छाया अब झुकी कि तब

(१) आलोचना नवांक ५१-५२ जनवरी ८१ पृ ५
(२) ६०-६१ जनवरी ८२ पृ ४
(३) ६०-६१ जनवरी ८२ पृ ४ क

झुकी, अप्रतिबद्ध बुद्धिजीवी कभी अपनी ओर झांकते है, कभी पश्चिम की ओर। हमेशा की तरह, ये सभी मिलकर अन्धकार को और गाढा कर रहे हैं। इस वातावरण में भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' का प्रकाशन ऐतिहासिक घटना एवं हिन्दी को प्रत्याशित उपहार है।"[1]

उपन्यास अंक के सम्पादकीय में 'उपन्यास और राजनीति' शीर्षक लेख में भारत के पहले राजनीतिक उपन्यास 'आनन्द मठ' का परीक्षण करते हुए नामवर सिंह लक्षित करते हैं, "इतिहास की कितनी बडी विडम्बना है कि जिस आनन्द मठ में एक युग तक देश भक्त विप्लवी एक हाथ में गीता और दूसरे हाथ में 'आनन्द मठ' लेकर विप्लव मन्त्र की दीक्षा लेते थे, इस विप्लवी दल मे सिर्फ हिन्दू न थे, अनेक मुसलमान भी थे। 'आनन्द मठ' एक युग तक देश भक्ति का बीज मन्त्र था, वह अन्ततः साम्प्रदायिकता के दलदल में फंस गया।"[2]

इस उपन्यास में साम्प्रदायिकता के साथ–साथ अंग्रेजी भक्ति की समस्या भी विचारणीय है। बंकिमचन्द ने सरकारी कर्मचारी होने के कारण अंग्रेजी सेसर से बचने के लिए 'आनन्द मठ' के बाद के संस्करणो में अंग्रेजों की प्रशसा के अनेक वाक्य जोड़े। फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि अंगेज–विरोध के मूल स्वर को उन्होंने सुरक्षित रखा। इस प्रकार समूची कृति में एक दिलचस्प अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है।

'प्रासंगिकता का प्रभाव' शीर्षक सम्पादकीय में डॉ. नामवर सिह ने साहित्य में जाने वालों के प्रश्न पर अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है "प्रासंगिक क्या यही है जो हमारे विचारों का अनुमोदन करता है और आज के अनुकूल है ? जो आज से भिन्न है और हमे चुनौती देता है, वह प्रासंगिक क्यो नहीं ? आज यह सवाल उठाना इसलिए जरूरी है कि प्रासंगिकता की चिन्ता प्रमाद की तरह समकालीन बनाने की कोशिश हो रही है कि अतीत की अतीतता तो सुरक्षित रही ही नहीं, वर्तमान की अपनी विशिष्टता भी लुप्त हो रही है। यहॉ तक की अतीत और वर्तमान का अन्तर मिटता जा रहा है और इस तरह आज की ज्वलन्त समस्याओं से बच निकलने का एक बहाना मिल रहा है।"[3]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी षष्ठिपूर्ति पर प्रकाशित आलोचना के विशिष्ट अंक में नामवर सिंह ने आलोचना की भाषा को विचारणीय मुद्दा बनाया और स्वीकार किया कि शुक्ल जी ने आलोचना की भाषा का सवाल उठाया ही इसलिए था कि इससे घोर विचार शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलाने का खतरा था। यहीं नामवर सिंह ने यह भी स्वीकार किया कि आलोचना की भाषा का सवाल केवल भाषा का सवाल नहीं है।

उस अंक में प्रकाशित अनेक लेखों के आधार पर वे स्वीकारते हैं कि आलोचना की भाषा में पत्रकारिता की भाषा का आवेश वक्तृत्व और अतिनाटकीयता का दबाव बढ़ रहा है पर उनका कहना यह है कि पत्रकारिता की भाषा के प्रवेश की घटना हाल की घटना है, जबसे पत्रिकाएं व्यावसायिक हुई हैं। इसी संदर्भ में आगे लिखते हैं, "आलोचना का आत्म संघर्ष भी रचनाकार के समान ही

(१) आलोचना नवांक ६०-६१ जनवरी ८२ पृ ५ ख
(२) नवांक ६४ ६५ जनवरी ८३ पृ ४
(३) नवांक ६७ जनवरी ८३ पृ ५

महत्वपूर्ण है बल्कि व्यवहार में वह आत्मसंघर्ष और भी पेचीदा होता है क्योकि वह दुहरा होता है। इसीलिए रचनाकार के समान ही आलोचक के सामने भी माध्यम की समस्या उपस्थित होती है।''(१)

नामवर सिंह आलोचना कर्म को व्यक्तिगत प्रयास मानते हैं क्योंकि कृति सम्बन्धी कोई सच्ची प्रतिक्रिया पहले वैयक्तिक ही होती है। इसलिए वे लिखते है "यदि आलोचना में वैयक्तिकता न हो तो युग युगान्तर तक किसी कृतित्व का एक ही अर्थ और मूल्य बना रहे, न उसमें निहित नए-नए अर्थ स्तरों का उद्घाटन हो और न अर्थों के आधार पर पुनर्मूल्यांकन ही सम्भव हो।''(२)

भाषा का दुरूपयोग नामवर सिंह के अनुसार आलोचना का बहुत बड़ा दोष है। अस्पष्टता भी इसी अर्थ में एक दोष है। और तो और हिन्दी आलोचना मे ईमानदारी और प्रामाणिकता जैसे शब्दो का बहुत मनमाने ढंग से उपयोग किया गया है। नामवर सिंह को याद आते हैं मुक्तिबोध जिन्होंने ईमानदारी की स्वय सिद्धता के सामने प्रश्न चिन्ह भी लगाए और उसे वस्तुनिष्ठ एवं सार्थक भी बनाया।

नामवर सिंह ने स्वीकार किया है कि हिन्दी में सामान्य भाषा में आलोचना लिखने का सफल प्रयास डॉ. रामविलास शर्मा ने किया है जो कभी अति सरलीकृत प्रतीत होती हुई भी अपने सर्वोत्तम रूप में आज के लिए भी आदर्श कहीं जा सकती है। इस सम्पादकीय का निष्कर्ष है कि रचना के समान ही आलोचना की भाषा के लिए भी कोई निरपेक्ष प्रतिमान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उनके मतानुसार आलोचनात्मक शब्दावली के पारिभाषिक होने भर से आलोचना में कोई गुणवत्ता आ जाय यह आवश्यक नहीं। आलोचना की भाषा की जीवन्तता के लिए वे आचार्य शुक्ल की यथातथ्य, संघत, ओजस्वी, तेजतर्रार भाषा जो एक तरह के लड़ाकूपन के बीच बनी है, आदर्श मानते हैं।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण सम्पादकीय वक्तव्यों के अतिरिक्त जार्ज लूकाच पावलो नेरूदा, लूसिए गोल्डमान इत्यादि प्रमुख विदेशी प्रगतिवादी चिन्तकों को भी नामवर सिह ने अपने चर्चा का विषय बनाया एवं उनके महत्व को रेखांकित किया।

लूसिए गोल्डमान की साहित्यिक अवधारणाओं को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं, "किसी कृति के सृजन का श्रेय अकेले उसके कृतिकार को नही है बल्कि कृतिकार व्यक्ति को अतिक्रान्ति करने वाली उस चेतना को है जिसके माध्यम से पूरे समाजिक वर्ग की मानव संरचना अभिव्यक्ति होती है। आवश्यक नहीं कि पूरे सामाजिक वर्ग की उस वृहत्तर चेतना की अवगति हो ही। अक्सर तो यही होता है कि व्यक्ति को उस वृहत्तर चेतना की अवगति नहीं होती। गोल्डमान के अनुसार आलोचक का कार्य उस वृहत्तर मानस-संरचना को खोज निकालना है जो कृतिकार के अनजाने ही उसकी कल्पना को संघटित करती है।''(३)

गोल्डमान के अनुसार उनके साहित्यिक समाजशास्त्र का विवेच्य विषय

---

(१) वाद विवाद संवाद(डॉ. नामवर सिंह) पृ. २२
(२) वही पृ २२
(१) २० जनवरी ७२ पृ २

केवल महान और कालजयी कृतियाँ ही हैं। सामान्य कृतियों के विश्लेषण के लिए समभवतः सामान्य समाजशास्त्र से भी काम चल सकता है, किन्तु महान कृतियों के सृजन में जिस विश्व दृष्टि का योग होता है उसे निरूपित करने के लिए अधिक गहरी मानस–सरचनाओं की जाँच अपेक्षित होती है। इस संदभ मे गोल्डमान ने चेतना के दो भेद किए है–"वास्तविक चेतना और सम्भाव्य चेतना। उनकी प्रणाली में किसी सार्थक कृति के विश्लेषण मे वास्तविक चेतना से अधिक महत्व संभाव्य चेतना का ही होता है क्योंकि एक सार्थक कृति के उपयुक्त व्यापक, उच्चस्तरीय एवं सुसंगत विश्वदृष्टि की निर्माण की क्षमता सम्भाव्य चेतना में ही होती है। इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है कि गोल्डमान की सामूहिक सम्भाव्य चेतना को युग का सामूहिक अवचेतन समझने का भ्रम नही होना चाहिए। गोल्डमान ने इस अवधारणा को मनोविश्लेषण के संस्पर्श से मुक्त रखने की हरचन्द कोशिश की है।"(१)

नामवर सिंह ने नोबेल पुरस्कार विजेता नेरूदा की साहित्यिक मान्यताओ एवं विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा–"पाब्लो नेरूदा आधुनिक युग के एक महान कवि ही नहीं, बल्कि महान युगान्तरवादी कवि है। उन्होंने बीसवी सदी के विश्वकाव्य को एक नया मोड़ दिया है। नेरूदा का काव्य वस्तुतः पश्चिम की 'आधुनिकतावादी काव्यधारा के लिए वज्राघात है। .... वस्तुतः नेरूदा को आधुनिकतावादी बुद्धिविलास के बेहद चिढ थी। कविता को मांसल और ऐन्द्रीय बनाने के लिए उन्होने वन्य प्रकृति की गन्ध से लेकर देह की गन्ध तक उसे सुवासित किया। उनकी कविता में जैसे पदार्थ का उत्सव रचा गया है। इसी कारण कुछ आलोचकों ने उन्हे पदार्थवादी कहा है। नेरूदा का यही पदार्थवाद उन्हें अन्ततः मानव मूल्य के उन भौतिक आधारो की खोज की ओर ले गया जिसकी परिणति एक क्रान्तिकारी जनवादी कवि के रूप में हुई। इसी कारण वे एक ओर लैटिन अमेरिका की क्रान्तिकारी राष्ट्रीय भावना के कवि हैं तो दूसरी ओर वे विश्व मानवता की मुक्ति के नायक भी हैं। नेरूदा की कविता में प्रकृति प्रेम, क्रान्ति आदि इतने घुलमिल गए हैं कि किसी कविता के अन्तर्गत इनमे से किसी एक को अलगाना असम्भव है, यह ऐसा जीवंत काव्य है जिसमे प्रेम और क्रान्ति विरोधी नहीं, बल्कि प्रायः पयार्य प्रतीत होते है। नेरूदा का काव्य जैसे समग्र लैटिन अमेरिका की देह और आत्मा–अतीत, वर्तमान और भविष्य की साकार प्रतिमा है।"(२)

उपर्युक्त वक्तव्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नामवर सिह ने विदेशी लेखकों चिन्तकों की साहित्यिक अवधारणाओ एवं मान्यताओं को रेखांकित करके हिन्दी जगत को नई काव्य चिन्तनधारा से परिचित कराया और हिन्दी की यथार्थवादी काव्य दृष्टि को अधिक परिपुष्ट एवं प्रशस्त करने का सराहनीय कार्य किया।

प्रकाशित लेखों का वर्गीकरण

किसी भी पत्रिका में लेख ही महत्वपूर्ण स्तम्भ होता है जिससे उस

(१) नवांक २० जनवरी ७३ पृ ३

(२) नवांक १६ अक्टूबर ७१ पृ ३

पत्रिका के दृष्टि का पता लगाया जा सकता है। लेखों के वर्गीकरण एवं मूल्यांकन करने से उस पत्रिका के महत्व का आकलन आसानी से किया जा सकता है। इसी दृष्टि से डॉ नामवर सिंह के सम्पादन में आलोचना में प्रकाशित लेखों को निम्न वर्गीकृत करने का प्रयास किया जा सकता है–

१ भारतीय काव्य सिद्धान्तो का पुनर्मूल्यांकन
२ मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र
३ पाश्चात्य काव्यशास्त्र'–चिन्तन की नयी दिशाएं
  शैली विज्ञान
  नई समीक्षा
  अस्तित्ववाद
  समाजशास्त्रीय समीक्षा
  संरचनावादी समीक्षा
  विच्छेदवाद
४ कविता
५ मूल्यांकन
६ पुनर्मूल्यांकन
७ गद्य विधाएं
८ विशेषांक

भारतीय काव्य सिद्धान्तों का पुनर्मूल्यांकन

भारतीय काव्य सिद्धान्त सम्बन्धी जो निबन्ध इस दौरान प्रकाशित हुए व्यापक विचार विमर्श हुआ। जैसे डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने रचनात्मक समीक्षा और भारतीय काव्यशास्त्र में समीक्षक की स्थिति के बारे में यह विचार करते हुए यह स्पष्ट किया कि जब तक समीक्षक किसी भी कृति के समग्र अनुशीलन से प्रभावित नहीं होगा तब तक वह कुछ कहने के लिए उन्मुख ही क्यों होगा ? जिस स्फुरण को सर्जक कृति में बाधता है, समीक्षक जब तक उसे पकड़ नहीं लेता, तब तक कहने के लिए मुखर ही नही हो सकता। उन्हीं के शब्दों में, 'स्फुरण का समीक्षक द्वारा साक्षात्कार ही उसका प्रभावित होना है, संवादी स्थिति में आना है तभी कुछ कहने को मनोवेग प्रेरित करता है। समीक्षक कृति से गृहीत समग्र प्रभाव की विस्तृत कवि में संश्लिष्ट सर्जनात्मक कृति के प्रत्येक ताने बाने को बुद्धि द्वारा इस प्रकार विश्लेषित करता है कि वह विश्लेषण भी समग्र प्रभाव को मूर्त करने मैं उत्तरोत्तर संश्लिष्ट होते जाते हैं।''[१]

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने यह स्पष्ट किया है कि अगर समीक्षक दृष्टि–सम्पन्न है तो समीक्षा की रचनात्मकता और उसकी मूल संवेदना को उसी प्रकार मूर्त कर सकता है, जिस प्रकार आचार्य शुक्ल अपनी विशेष दृष्टि से किसी भी कृति के मूल स्वर तक पहुँच सकने में सक्षम हुए हैं और समीक्षा को रचनात्मक बनाया है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के शब्दों में–''समीक्षक के लिए प्राथमिक उपादेयता है उसकी अपनी निजी सूझ–बूझ की तत्वार्य दर्शिनी बुद्धि की, शक्त

(१) १६ जनवरी ७१ पृ ४६

भावयिनी प्रतिभा की जिसके निर्देशन में पुराने प्रतिमान उपयोगी भी हो सकते है अनुपोगी भी, साथ ही आलोच्य–कृति के सहारे नये भी गढ़े जा सकते है। जहाँ तक सैद्धान्तिक समीक्षा की बात है, स्पष्ट है कि वह अपने आप में समीक्षा नहीं है–आलोचना के संदर्भ में माध्यम का कार्य कर सकने में उसकी उपयोगिता है। वहीं वह रचनात्मक प्रायोगिक समीक्षा का अंग है। अपने आप में उसकी उपयोगिता निसर्गल बचे भावुकता को व्यवस्थित और पुष्ट बनाने के लिए, उसमे निखार लाने के लिए है--समीक्षक की सूझ–बूझ को सक्षम करने में विभिन्न परम्पराओं की विशेषअतों से अभिज्ञ बनाकर सक्रिय करने में सैद्धान्तिक समीक्षा की उपयोगिता है।"(१)

रामूर्ति त्रिपाठी 'रचनात्मक समीक्षा और भारतीय काव्यशास्त्र' निबन्ध मे विवेचन के आधार पर जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं ये इस प्रकार है–

१ : समीक्षा भी रचनात्मक होती है।

२ · रचनात्मकता के लिए तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि अपेक्षित है।

३ · समीक्षक की 'मध्यस्थता' का निर्वाह इसी दृष्टि से सम्भव है।

४ : समीक्षा इस दृष्टि से भी सर्जना है कि समीक्षक अपना समग्र विश्लेषण मूल संवेदना ग्रहण करने के बाद आरम्भ करता है और पाठक में वैसा ही प्रभाव उत्पन्न हो, इस दृष्टि से उसका समस्त विश्लेषण एकोन्मुख–प्रभावोत्पादगामी होता है।

५ . समीक्षक के लिए उसकी सूझ–बूझ ही प्रमुख है। पूर्वागत प्रतिमान अनु–गामी हो सकते हैं।

६ : प्रायोगिक समीक्षा का अंग बनकर ही सैद्धान्तिक समीक्षा उपादेय है। निसर्गजात सूझ–बूझ को निखार देने मे भी उसकी उपयोगिता है।

७ : अपेक्षाकृत शाश्वत प्रतिमान की संभावना ध्वनि सिद्धान्त में निहित है।

राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा स्थापित किए गए इन सिद्धान्तों की व्यापक रूप से आलोचना हुई। पर 'आलोचना' के अगले अंक में उन्होंने उन आपत्तियों का विधिवत उत्तर देते हुए अपनी मान्यताओं को और सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया।

राममूर्ति त्रिपाठी ने 'भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमानों की नई सम्भावनाओ मे संचार' शीर्षक निबन्ध में प्राचीन काव्यशास्त्र द्वारा निर्मित काव्य नियमों के महत्व को रेखांकित किया है। "भारतीय पुरातन आचार्यों ने काव्य शास्त्र का निर्माण कवि स्वभाव और कवि निर्माण की स्वाभाविक प्रक्रिया की उपेक्षा करके नहीं किया है।"(२)

अलंकार और 'रीति' काव्य के उत्कर्ष को बढाने में सहायक होते है। इस सम्बन्ध में राममूर्ति त्रिपाठी की मान्यता है कि "काव्य के लिए अलंकार और 'रीति' भी अपनी सामान्य व्यापकता में पूर्णतः ग्राह्य हैं। अलंकार 'अष्ट भगयत्न निर्वत्य' उपकरण है। प्रतिभा आवेश में प्रेरणा के प्रवाह में अनुभूति के अदम्य प्रकाशन में अनायस जुट गए उपकरण ही सौन्दर्य के अंग हैं–साधक हैं–अलंकरण है।"(३)

---

(१) आलोचना नवांक १६ जनवरी ७१ पृ ५२
(२) नवांक २० जनवरी ७२ पृ ४६
(३) २० जनवरी ७२ पृ ४६

प्राचीन काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रतीक ध्वनि के ही एक रूप हैं। शब्द अनुशासन का चरम उत्कर्ष प्रतीक मे ही व्यक्त होता है। प्रतीक का प्रयोक्ता दार्शनिक नहीं द्रष्टा होता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'काव्यशास्त्र' और साहित्य चिन्तन में साहित्य चिन्तन की धारा को काव्यशास्त्र के साथ देखने का प्रयास किया है। वे कहते है "साहित्य की प्रक्रिया ब्रह्मानन्द के समतुल्य मानी गयी है। आनन्द का अर्थ यदि देशकाल के तात्कालिक बन्धनों से मुक्ति है तो अपनी हर विधा में साहित्य आनन्द की उपलब्धि कराता है।"(१)

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने सर्जनात्मक आलोचना के बारे में अपना विचार व्यक्त किया है—"आलोचना का दायित्व रचना में इस अर्थ को प्रशस्त तथा विकसित करना, तथा उसे गतिशील बनाये रखना होता है। तभी रचना बार—बार अवतरित होती है। सर्जनात्मक आलोचना का शायद यही सही अर्थ हो सकता है—और उस माने में आलोचना मात्र सर्जनात्मक होगी। शैली विज्ञान के आधुनिक उत्साही पुरस्कर्ता यहाँ भूल जाते हैं कि शैली विज्ञान से अर्थ विकसित नहीं होता, एक निर्धारित दिशा में चलकर बंध जाता है।"(२)

आलोचना और रचना के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है, "रचना—आलोचना—और फिर रचना का यह स्वाभाविक विकास सम्भव नहीं होता जिसमें कविता का अर्थ कई मिले जुले स्तरों पर गतिशील रहता है। आधुनिक आलोचना अर्थ के इन विभिन्न स्तरों की परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया में एक वृहत्तर अर्थ की सर्जना अभिव्यक्त करती है, जिसे अर्थ और अनुभव का अद्वैत कहा गया है। आलोचना की इस प्रक्रिया में न तो प्राचीन ध्वनि सिद्धान्त के मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ का द्वैत रह जाता है और न इलियट के आधुनिक 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का। आलोचना यहाँ विश्लेषण के विविध उपकरणों का इस्तेमाल करती हुई भी रचना के समानान्तर संश्लिष्ट बनी रहती है।"(३)

'रस : पुनर्दृष्टि की प्रासंगिकता' पर विचार करते हुए प्रभाकर श्रोत्रिय ने रस की प्रासंगिकता को रेखांकित किया है—"वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए किसी भी प्रबुद्ध आलोचक को अनायास ही स्पष्ट हो जाता है कि उसका मेरुदण्ड रस सिद्धान्त ही है और उसमें इतनी क्षमता है कि प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन कर सके।"(४)

नयी कविता के संदर्भ में रस सिद्धान्त को लेकर आलोचकों की आग्रहशीलता के सम्बन्ध में प्रभाकर श्रोत्रिय कहते हैं कि आलोचक रस सिद्धान्त को जिस क्रूरता से नयी कविता पर लादते हैं उससे नये कवि का खीझ उठना स्वाभाविक है। आलोचकों ने वर्तमान दिक्कतों एवं संवेदनाओं का अनुभव करके वह ऐसा एक नया सौन्दर्यशास्त्र रचे जिसके अन्तर्गत परम्परा स्तूप की तरह नही, पौधे के भीतर संचरित रस की तरह एक प्राणवान गन्ध में रूपायित हो सके। इनका कहना है कि प्राचीन काव्य शास्त्र के साथ सबसे बडी कठिनाई हे

(१) आलोचना नवांक ४२, जुलाई ७७, पृ. ३३
(२) वही पृ ३५
(३) ४२ पृ ३६

कि वह केवल वर्गीकरण की पद्धति को मानता है जबकि चाहिए यह कि वह नये कवियों की वास्तविक कठिनाइयों को ध्यान में रखकर भारतीय काव्यशास्त्र का पुनर्मूल्यांकन, पुनर्विवेचन और जरूरी हो तो पुनर्रचना से भी नहीं हिचकिचाता।

"हिन्दी में इसकी सबसे समर्थ और कारगर कोशिश आचार्य शुक्ल ने की थी। नया सौन्दर्य शास्त्र रचने मे उनका सहयोग सर्वाधिक उपयोगी हो सकता है। उन्होंने पूरी शास्त्रीय परम्परा को दुहकर पश्चिम से भी उचित संवाद कायम करते हुए भारतीय रस दृष्टि को एक नयी मंजिल पर पहुँचाया है।"(१) नामवर सिंह ने उनके त्याग और ग्रहण के विवेक का मूल्यांकन करते हुए ठीक ही कहा है "आचार्य शुक्ल ने रिचर्ड्स की अर्थ मीमांसा की ओर संकेत किया लेकिन मूल्य सिद्धान्त पर खामोश रह गए।"(२)

अन्त मे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, "रस' को आलोचना की शब्दावली से हटाने की आवश्यकता नहीं है। अगर आधुनिक कविता के सही–सही मूल्यांकन के लिए रस सिद्धान्त बहुत नाकाफी देता है तो उसमें नये अध्याय जोडने होंगे। नयी रस–दृष्टि भावों की तयशुदा संस्था में नहीं बध सकती। अनुभूतियों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। यद्यपि यह मानकर चला जा सकता है कि 'रस' कलाकृति की सफलता का अन्तिम निर्धारक पदार्थ है, परन्तु यह न तो केवल आनन्दमय है न दुखपरक, यह मूलतः आस्वाद मूलक है। यह वही आस्वाद है जो रचना प्रक्रिया के दौर में कवि को अनुभूत हुआ है। यदि रस' शब्द को स्थानापन्न शब्द की तलाश हो तो आस्वाद शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है।"(३)

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र

आलोचना में प्रकाशित लेखों में सबसे ज्यादा संख्या मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र सम्बन्धी लेखों की है। उनमें जो महत्वपूर्ण निबन्ध हैं उन्हे यहाँ पर दिया जा रहा है–

मार्क्सवादी आलोचना की नई दिशाएं, मार्क्सवाद और समकालीन बूर्जुआ विचारधाराएं, आज की स्थिति में प्रगतिशीलता, प्रगतिशीलता का अर्थ : सर्वहारा सम्भावनात्मक तादात्म्य, प्रगतिशील आन्दोलन जातीय सस्कृति के तत्व– प्रगतिशील कविता का कार्य, प्रगतिशील लेखन की समस्या, प्रगतिवाद, युग व्यक्ति तथा अन्तर्विरोध, प्रगतिशील साहित्य और रूप की समस्या, मार्क्सवादी समीक्षा समसामयिक परिदृश्य पर कुछ टिप्पणियां, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र कुछ विचार, प्रगतिशील कविता का नया दौर, मार्क्स और सामाजिक विकास, मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ. रामविलास शर्मा, मार्क्स के बीज शब्द मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएं इत्यादि प्रमुख निबन्ध हैं।

मार्क्सवादी चिन्तन पर प्रकाश डालते हुए मधुरेश की स्थापना है– "मार्क्सवादी जीवन दर्शन एक वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण है जो अपने केन्द्र मे मनुष्य को प्रतिष्ठित करके जहाँ एक ओर इस संसार को उसकी समग्रता मे

(१) आलोचना नवांक ४१, पुनर्दृष्टि की प्रासंगिकता, प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ. ८६
(२) वही
(३) आलोचना नवांक ४१ अप्रैल ७७ पृ ६०

समझने की कोशिश करता है, वहीं एक वर्गहीन, शोषण मुक्त समाज की रचना के लिए सक्रिय पहल में विश्वाश रखता है। भाववादी दर्शन जहाँ अपने को केवल इस संसार को समझ सकने की कोशिश तक ही सीमित रखते है मार्क्सवाद इसे बदलने का आग्रह भी करता है। भाववादी दार्शनिक किसी अलौकिक एवं लोकोत्तरसत्ता में विश्वास करने के कारण मनुष्य को निष्क्रिय एव नियतिवादी ढलान पर छोड़ देते हैं जबकि मार्क्सवाद मानवता के समूचे इतिहास को वर्ग संघर्ष के रूप में देखने का आग्रह करता है। मधुरेश के शब्दो मे "मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन एक अन्तर्राष्ट्रीय विचार–दर्शन है। बहुत से देशों के विचारको और चिन्तकों ने जिसके विकास और सम्बर्द्धन में योग दिया है पिछले तीन–चार दशकों में हिन्दी में भी उसका प्रभाव बहुत स्पष्ट रहा है। हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से जो आन्दोलन आरम्भ हुआ वह सीधे रूप में इस मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन का ही परिणम था।"(१)

प्रगतिशील आन्दोलन के समबन्ध में कई आपत्तियाँ उठाई गईं, उनमे एक है कि साहित्य को अपने दायरे में रहना चाहिए, राजनीति का अलग क्षेत्र है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नामवर सिंह ने कहा–"प्रगतिशील लेखक हाथी दाँत के मीनार में नहीं रहते, इसलिए समाजिक समस्याओं पर दोनों मिलकर विचार कर सकते हैं। देश को चलाने वाले चन्द राजनीतिज्ञ नहीं बल्कि जनता है और साहित्यकार जनता के साथ खड़ा होकर दो काम कर सकता है–एक तो यह कि जब कथनी और करनी में फर्क होने लगे तो वह उस पाखंड का उद्घाटन करे, और दूसरा यह कि जब जनता का मनोबल टूटे तो वह उसका मनोबल बढ़ाये, उसे अभय की वाणी दे, और यदि आतंक की स्थिति उत्पन्न हो जाये तो जनता के भय को दूर करे। अगर राजसत्ता जनहित के विरुद्ध जाती है तो लेखक को उसका विरोध करने का हक है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि विरोध का अर्थ देश–द्रोह नहीं होता। हमारा देश स्वतन्त्र है तो हमारा साहित्य भी स्वाधीन होना चाहिए।"(२)

डॉ. रामदरश मिश्र की यह शिकायत है कि प्रगतिवादियों को यह आदत छोड़नी चाहिए कि अपने लोगों के साहित्य को अच्छा कहें और दूसरे को बुरा। उन्हीं के शब्दों में–"जो आप का कामरेड है उसकी चीजों को आप अच्छी कहे बाकी को खराब, यह आदत प्रगतिशील लेखकों को छोड़नी चाहिए। लेखक जब लिखता है तो उसके सामने कोई बनी बनाई चीज नहीं होती, और न होनी चाहिए, क्योंकि साहित्य केवल दृष्टि के लिए नहीं पढ़ा जाता। दृष्टि और अनुभव के साहचर्य से अच्छी रचना का सृजन होता है। कई मार्क्सवादी लेखको के पास दृष्टि तो होती है लेकिन अनुभव और अभिव्यक्ति क्षमता नहीं होती फिर भी उनकी कृतियों की चर्चा इसलिए होती है कि वे मार्क्सवादी हैं और दूसरे अनेक लेखकों की छोड़ दी जाती है, जो मार्क्सवादी तो नहीं है लेकिन अपने अनुभव से यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। इसलिए हमें प्रगतिशीलता को व्यापक बनाना चाहिए।"(३)

---

(१) आलोचना ३६, जनवरी ७६, पृ. ७६
(२) वही
(३) वही

भारत में प्रगतिशील आन्दोलन को चलाने का श्रेय सर्वप्रथम प्रेमचन्द को जाता है। उस समय दूसरे देशों में प्रगतिशील आन्दोलन का बडा बोलबाला था। उन्हीं बातों का गहरा असर प्रेमचन्द पर पडा। वे लेखकों के संगठन से और अपनी कलम के संगठित अभियान से जनता को आन्दोलित करना चाह रहे थे इसलिए वे एक संगठन की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। उनका कहना था कि भारत में विज्ञान, दर्शन, इतिहास, गणित और राजनीति की आल इण्डिया संस्थाएं तो हैं लेकिन साहित्य में कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए साधारण जनता को अन्य प्रान्तों की साहित्यिक प्रगति की कोई खबर नही होती। इसीलिए प्रेमचन्द जी ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। फिर लन्दन मे प्रगतिशील लेखक संघ की प्रगति को वे देख रहे थे इसलिए उनको ऐसी संस्था शुरू करने का उत्साह हुआ।

प्रेमचन्द ने १६३७ को लखनऊ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में प्रगतिशील लेखक संघ के उद्देश्यो पर प्रकाश डाला। "जीवन में एक नयी सुन्दरता की तलाश लेखकों को प्रेरित करेगी कि वे उस सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंके, जिसमें एक व्यक्ति हजारों व्यक्तियों पर अत्याचार कर सकता है, मानवीय आत्म सम्मान उन्हें प्रेरित करेगा कि–वे पूंजीवादी–सैनिकवाद, तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा करें। फिर हमें इन सबके विरुद्ध अपनी गैर रजामन्दी को कागज पर व्यक्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि हमें एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए सक्रिय रूप से काम करना चाहिए, जो सुन्दरता, सुरुचि तथा मानवीय महिमा का निषेध नहीं करती।"(१)

'मार्क्सवादी समीक्षा : समसामयिक परिदृश्य पर कुछ टिप्पणियाँ' शीर्षक निबन्ध मे मोतीलाल रैना ने समकालीन मार्क्सवादी समीक्षा के कुछ ऐसे मुद्दो पर ध्यान आकर्षित किया है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने लिखा है– मार्क्सवाद न केवल हमारे कर्म व्यवहार को दिशा देने वाले पूर्ववर्ती विचारों से अधिक सुसम्बद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान करता है अपितु दुनिया को बदलने के लिए संकल्पित अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन की सही एवं ईमानदार सम्भावनाएं भी प्रदान करता है।"(२)

प्रगतिशील आलोचना और आलोचकों का मूल्यांकन करते हुए गीता शर्मा ने लिखा है, "वर्तमान अवधि में हिन्दी मार्क्सवादी आलोचना अपनी प्रगतिशील परम्परा का मूल्यांकन करने और इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ने के साथ ही रूपवादी आलोचना की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए नये धरातल पर विकसित हो सकी है। यह शायद संयोग ही कहा जायेगा कि इस दौर की मार्क्सवादी आलोचना का ध्यान सबसे ज्यादे कविता पर ही केन्द्रित रहा है। हालांकि वह कविता मात्र एक सीमित नहीं रही। आलोचना को आलोचना और कोरे सैद्धान्तिक विवादों की, जैसे इस दौर में एक बाढ़ सी आ गई है। जिन युवा मार्क्सवादी आलाचकों ने व्यावहारिक समीक्षा के नाजुक क्षेत्र में डरते–झिझकते कदम रखे भी हैं तो ज्यादातर असफल ही सिद्ध हुए हैं।

(१) आलोचना नवांक ५१-५२ अक्टूबर ७९ पृ ८३
(२) नवांक ५४-५५ जुलाई ८० पृ ६६

यही नहीं, इससे यह तथ्य भी प्रमाणित हुआ है कि उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनात्मक व्यवहार के क्षेत्र मे अपने पूर्ववर्तियों से कुछ भी सीखने की कोशिश नहीं की है। यही वजह है कि बुर्जुआ–रूपवादी साहित्यिक हलकों में तो उन्हें गम्भीर आलोचक माना ही नहीं गया, प्रगतिशील रचनाकार भी उन्हे क्षोभ और सन्देह की दृष्टि से ही देखते हैं।"(१)

डॉ. शिवकुमार मिश्र ने मार्क्सवादी आलोचना की समस्याओं की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। वे लिखते हैं कि साहित्य और कला का विषय चूँकि यही मनुष्य और उसका आन्तरिक तथा वाह्य जीवन होता है, अतः वस्तु को उसकी सम्पूर्ण गतिशीलता अन्तर्विरोधी रूपों एवं द्वन्द्वात्मक भूमिका मे बिना परखे, एकदम सरल, सीधे तथा सपाट निर्णय नहीं लिये जा सकते। मार्क्सवादी विचारकों में से कुछ ने इस प्रकार के सपाट तथा यान्त्रिक निर्णय लिए है जिसका न केवल साहित्य चिन्तन, वरन साहित्य सर्जनों में भी दुष्प्रभाव पड़ा है।

मार्क्सवादी विचारकों ने बार–बार कहा है कि साहित्य तथा कला सर्जन की सही दिशा की ओर अग्रसर होने के लिए आवश्यक है कि सामाजिक तथा मानव प्रकृति की अन्तर्विरोधी जटिलताओं को परखते हुए समाज तथा मनुष्य के चित्रण में प्रवृत्त हों। भविष्य के वर्गमूल साम्यवादी समाज में एक दीर्घ कालीन विकास प्रक्रिया के क्रम में परिस्थितियों तथा मानवीय प्रकृति के क्षेत्र मे अन्तर्विरोधी जटिलताएं न रहेंगी। उस समय लेखकों के समक्ष समाज तथा मान्व प्रकृति के चित्रण के लिए नयी दिशाएं होगी, जिनको दृष्टि में रखकर उन्हें सर्जना के नये पथ पर अग्रसर होना होगा।

मार्क्सवाद की तमाम समस्याओं के बावजूद आलोचना का सबसे तेजस्वी अश इसी सिद्धान्त में देखा जा सकता है–ये लिखते हैं, "हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना की शुरुआत बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में भारतीय जीवन खास तौर से साहित्य और कला के क्षेत्र में मार्क्सवाद के प्रचार प्रसार के साथ हुई। तब से लेकर अद्‌यावधि वह न केवल विकासशील है, साहित्य की व्याख्या तथा मूल्यांकन की दूसरी विचार–सारणियों की तुलना में साहित्य और कला की सौन्दर्य सत्ता का उद्‌घाटन, उसके सामाजिक आधारों की पड़ताल, उसके सामाजिक प्रभाव के आकलन, कुल मिलाकर साहित्य की परख तथा उसके समग्र मूल्यांकन में अधिक प्रभावी और कारगर भी है। बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि अपनी कुछेक सीमाओं और अपने साथ जुड़ी समस्याओं के बावजूद, आधुनिक हिन्दी आलोचना का सबसे तेजस्वी अंश इस मार्क्सवादी आलोचना में ही देखा जा सकता है।"(२)

डॉ. शिवकुमार मिश्र का कहना है कि मार्क्सवादी समीक्षक में चिंतन और विचारों के प्रति सजगता होनी चाहिए। अगर उनमें ये सजगता नहीं है तो वे सर्जना और आलोचना दोनों को ही क्षति पहुँचा सकते हैं। उन्हीं के शब्दो मे "मार्क्सवादी दर्शन की सही आधार भूमि एवं दिशाओं से परिचय का अभाव फलतः यांत्रिकता एवं सरलीकरण के प्रति रचनाकार तथा समीक्षक का झुकाव अहेतुक निष्कर्मों, एवं अवांछित भूमिकाओं को सामने लाती है, जिसके परिणाम

---

(१) आलोचना नवांक ५४-५५, जुलाई ८०, पृ. ६६
(२) ,,० जुलाई ८४ पृ ४१

स्वरूप सर्जना और मूल्यांकन, दोनों को ही क्षति पहुंचती है। मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के अन्तर्गत विचारकों न इस स्थिति के प्रति सजगता बरती है और जिनमे यह सजगता नही रही है, उनकी सर्जना तथा समीक्षा मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली भी नहीं रह गयी है।"[१]

मार्क्सवादी आलोचना के मूल मे साहित्य और कला को देखने परखने उसे व्याख्यायित और विश्लेषित करने वाले मार्क्सवादी दृष्टिकोण की स्थिति है और यह दृष्टिकोण समाज तथा जीवन सम्बन्धी मार्क्सवाद की बुनियादी आवधारणाओ पर अवस्थित है। समाज तथा जीवन को देखने समझने का दावा करने वाली दूसरी तमाम जीवन दृष्टियाँ और विचारधाराएँ भी हैं, किन्तु उनकी तुलना मे मार्क्सवाद का वैशिष्ट्य इस बात मे है कि यह एक समग्र जीवन दृष्टि है। मानव जीवन का शायद ही कोई पहलू हो जो उसकी अन्तग्रथित समग्रता का अंग न हो। अपने द्वन्द्ववात्मक वैज्ञानिक नजरिए के ही नाते मार्क्सवाद जहॉ सृष्टि तथा समाज–विकास के सामान्य नियमों की पड़ताल करता हुआ सामाजिक जीवन के पुनर्निमाण हेतु दिशा का निर्देश देता है, वहॉ सामाजिक जीवन के इस रूपान्तरण में कार्य कर रही शक्तियों के अपने अन्तर्विरोधों और अन्त क्रियाओ को उद्घाटित करता हुआ उनके पारस्परिक सम्बन्धों का खुलासा भी करता है। इसलिए मानव के सारे क्रिया–कलाप अलग–अलग न लगते हुए एक–दूसरे से जुड़े हुए और समाजिक जीवन के पुनर्निमाण में सापेक्ष रूप से अपना विशिष्ट योगदान देते हुए सामने आते हैं।

इस सम्बन्ध में डॉ शिवकुमार मिश्र कहते हैं, "साहित्य और कला सम्बन्धी मार्क्सवादी नजरिया न केवल एक वैज्ञानिक नजरिया है, बल्कि यह साहित्य और कला की समझ तथा विश्लेषण का एक सम्पूर्ण नजरिया भी है जिसका सम्यक उपयोग करके साहित्य और कलाओ को उनकी सम्पूर्णता मे उनकी सम्पूर्ण क्षमताओं के साथ मनुष्य की एक बुनियादी जरूरत के रूप मे जाना, परखा और समझा जा सकता है।"[२]

उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी दृष्टि बिल्कुल सरल और स्पष्ट होनी चाहिए। ऐसा न होने के कारण उस पर संकीर्ण एवं एकांगी होने का आरोप लगाया जा रहा है। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने बहुत सही लिखा है, "मार्क्सवादी आलोचना में जो सबसे अहम् समस्या के रूप में उभरा है वह मार्क्सवादी दृष्टि की सही तथा खरी पहचान का है। दावा अब उसे सही रूप में पहचानने का करते हैं, परन्तु उसे सही रूप में न पहचान पाने और न लागू कर पाने का नतीजा है जिसे मार्क्सवादी शब्दावली में संशोधनवाद या संकीर्णवाद कहा जाता है, वे रुझाने उभरती हैं और सारे निष्कर्षों को अधूरा, एकांगी, सतही, और गैर मार्क्सवादी बना देती है। मार्क्सवादी आलोचना ही नही, मार्क्सवादी विचार दर्शन भी अपने उद्भव के साथ इन खतरों के साथ जूझता रहा है और अब भी जूझ रहा है। जब दृष्टिकोण को समझने में ही भ्रान्तियाँ हों तो निष्कर्षों का गलत होना, परस्पर विरोधी होना स्वाभाविक है। बहुधा देखने में आता है कि किसी एक मुद्दे पर तमाम मार्क्सवादी विचारक ही एक मत नहीं हो पाते और परस्पर

(१) ७० जुलाई ८४ पृ ४२
(२) वही

विरोधी तथा विपरीत निष्कर्ष देते हैं, उसका कारण मार्क्सवादी दृष्टिकोण की उसकी यह गलत एकांगी तथा अधूरी समझ ही है।"(१)

उपर्युक्त निबन्धों मे अभिव्यक्त विचारों के परिप्रक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी समीक्षा को मजबूत एवं स्थिर आधार भूमि देने के लिए योजना बद्ध तरीके से निबन्ध लिखवाये गये है। बडी ही सत्तर्कता के साथ मार्क्सवादी समीक्षा के सम्बन्ध में उठने वाली हर समस्या का समाधान कराने एव पत्रिका को समृद्ध बनाने के लिए सम्पादक ने उन विद्वान लेखकों की सहायता ली है जिनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण बिल्कुल साफ एवं सुदृढ़ है।

इसीलिए हम कह सकते हैं कि परम्परा के महत्व और मूल्यवत्ता को लेकर मार्क्सवाद के संस्थापकों का नजरिया बहुत साफ और सुलझा हुआ रहा है। मार्क्सवाद की इतिहास दृष्टि ने इस मुद्दे पर किसी भी प्रकार के भ्रम की गुजाइश नहीं छोडी है। स्वयं मार्क्सवाद के संस्थापकों ने परम्परागत साहित्य तथा कला के मूल्यांकन में जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे भी अपने आप में एक मिशाल हैं। जैसा कि डॉ. शिवकुमार मिश्र ने भी लिखा है, "परम्परा के मूल्यांकन का मार्क्सवादी नजरिया परम्परा के प्रति पूज्य भाव न होकर विवेक सम्मत आलोचनात्मक रूप की हिमायत करने वाला है और यह विवेक हमे मार्क्सवाद की इतिहास दृष्टि से प्राप्त होता है।"(२)

अन्त में डॉ. शिवकुमार मिश्र का निष्कर्ष है कि विचारधारा को सही और सच्चे कला का रूप कैसे दिया जाय, मार्क्सवादी चिन्तनो तथा कला चिन्तको ने इस बारे में जो कहा हे हमें उसे मद्दे नजर रखकर सवाल को सही कोण से निपटाने का प्रयास करना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में, मार्क्सवादी आलोचना तथा उसके जुड़े समीक्षकों ने आलोचना की इस प्रगतिशील परम्परा को न केवल संरक्षित किया है, बल्कि उसे नयी समृद्धि प्रदान की है, इस हद तक कि आज तमाम सारी आलोचना दृष्टियों तथा आलोचना सारणियों के बीच हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना अपनी अलग पहचान बना सकी है, सबसे अधिक प्रखर, समग्र तथा सार्थक आलोचना के रूप में अपनी प्रतिष्ठा पा सकी है। सीमाएं उसकी हैं, किन्तु सीमाएं कहाँ तक नहीं हैं। सवाल सीमाओं को सीमाओ के रूप में स्वीकार कर उनसे उबरने का है, सही मार्ग पकड़ने का है, और यह कार्य मार्क्सवादी आलोचक बखूबी कर रहे हैं।"(३)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की चिन्तन की नई दिशाएँ

आलोचना में पाश्चात्य काव्यशास्त्र से सम्बन्धित बहुत से लेख प्रकाशित हुए लेकिन उनसे जो नई प्रवृत्तियां पनपीं और फिर विकसित हुईं उनमें से निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं–

शैली विज्ञान
नयी समीक्षा
अस्तित्ववाद

---

(१) आलोचना ७०, जुलाई ८४, पृ. ४३
(२) वही, पृ. ४५
(३) वही पृ ५१

समाजशास्त्रीय समीक्षा

संरचनावादी समीक्षा एवं विच्छेदवाद इन सब प्रवृत्तियों को हम अलग–अलग देखने का प्रयास करेगे–

शैली वैज्ञानिक समीक्षा

शैली विज्ञान का मूल आधार भाषा विज्ञान है। शैली विज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा भाषा विज्ञान के अन्तर्गत आता है। यह कविता में शरीर और आत्मा को दो पृथक सत्ताएं नहीं मानता है, वरन् शैली विज्ञान का दृष्टिकोण है कि दोनों संश्लिष्ट और अभिजात्य हैं। दोनों को अलग करना असम्भव है। इसी दृष्टिकोण का सहारा लेकर शैली विज्ञान व्यवस्थिति रूप से कविता के विश्लेषण में अपनी सामर्थ्य को स्थापित कर चुका है।

इस सम्बन्ध में कृपाशंकर सिंह का कहना है, "आवृत्ति गणना और शब्दो द्वारा व्यक्त चमत्कार से कविता की सौन्दर्यात्मक गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसका आशय यह नहीं लिया जाना चाहिए कि कविता की सौन्दर्यात्मक गहराई को उजागर करने में शैली विज्ञान की पहुँच हो ही नहीं सकती। शैली विज्ञान की पैठ वहाँ तक है और यह भी निश्चित है कि उस पैठ की शुरुआत कविता के रूपाकार से ही होती है। शैली विज्ञान कविता के रूपाकार तक ही सीमित नहीं है वरन् इससे फूटने वाली सौन्दर्य आभा को उद्‌घाटित करने का जिम्मा भी इसी का है। इसलिए काव्य शास्त्रीय आलोचकों का यह कहना है कि शैली विज्ञान के अध्ययन की सीमा कविता के 'भाषिक स्तर' तक ही सीमित है या कि कविता के कलात्मक या सौन्दर्यालमक स्तर या कलात्मक अनुभूति तक शैली विज्ञान की पहुँच नहीं है, वहाँ केवल काव्यशास्त्र ही पहुँच सकता है, एक नितान्त भ्रामक दृष्टिकोण है। कविता का इस तरह दो स्तरों पर विभाजन ही भ्रामक है।"[१]

शैली विज्ञान के विरोध में जो बातें कही जाती हैं, वह हैं, "रीति विज्ञान कला विवेचन वादी रूप है जो एक तरह से मरणोन्मुखी बुर्जुआ कला रूपों के काव्य सिद्धान्त रूपवाद की ही पुनः प्रतिष्ठा का अन्तिम प्रयास है। दूसरा आरोप कि काव्यार्थ को भाषा में 'रूपान्तरित कलात्मक यथार्थ' या काव्यकृति को संवेगात्मक उद्‌देश्यों से नियन्त्रित भाषा प्रतीक' कहकर शैली विज्ञान जिस वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टिकोण का समर्थन है उसे वह किसी गहरी संरचना का अनिश्चित संकेत भर होता है–फिर–शैली विज्ञान, काव्यकृति को सामाजिक सन्दर्भों से काटकर ही नहीं चलता वरन् कविता के भीतरी मर्म या मार्मिक अर्थ की खोज को बन्द कर देता है। वह न केवल कला, कला के लिए सिद्धान्त का पक्षधर है बल्कि वह कविता के अपने वास्तविक परिवेश से ही विच्छिन्न कर देने का षड्‌यन्त्र भी है।"[२]

इन सभी आरोपों का खण्डन करते हुए रवीन्द्र श्रीवास्तव ने अपनी लेखमाला में शैली विज्ञान की अवधारणाओं को स्पष्ट किया है। शैली विज्ञान प्रतीक के संदर्भ में कथ्य और अभिव्यक्ति के एकीकरण की मान्यता को स्वीकार

(१) आलोचना ४१ अप्रैल ६६ पृ ५५
(२) ४१ अप्रैल ७७ काव्य-संसार और शैली विज्ञान रवीन्द्र श्रीवास्तव पृ ४१

कर चलता है। काव्य के अभाव में अभिव्यक्ति पक्ष और अभिव्यक्ति के अभाव मे कथ्यपक्ष किसी भी प्रतीक को जन्म देने में असमर्थ है।

"शैली विज्ञान की सैद्धान्तिक मान्ताए आभ्यन्तर आलोचना के पक्ष में है कि क्योंकि वह एक ओर सर्जनात्मक धरातल पर काव्यकृति को कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई के रूप में प्रतीकवत सिद्ध मानती है और दूसरी ओर आलोचनात्मक धरातल पर वह अपना केन्द्रक काव्यकृति और काव्यात्मकता को स्वीकार करती है। शैली विज्ञान अपनी आलोचनात्मक दृष्टि और प्रयोजनात्मक तथ्य को काव्यकृति को इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों की निम्न स्थितयों के प्रमाण रूप में ग्रहण किया जाय।"(१)

शैली विज्ञान वाह्यजगत और कला जगत के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की यान्त्रिक और जड़ प्रकृति का विरोधी है। अन्यथा वह यह मानकर चलता है कि 'कला प्रतीक' के रूप में सिद्ध काव्यकृति उन सभी उपादानों को अपने भीतर खींचती है और समेटती है जिसके समपर्क में वह आने के लिए बाध्य है।"(२)

रवीन्द्र श्रीवास्तव के अनुसार, "शैली विज्ञान याकोव्सन के इस मत का हमेशा समर्थक रहा है कि भाषा और साहित्य के अध्येता को एक तरफ और क्षेत्र को परिभाषित करने की कोशिश करनी चाहिए पर दूसरी तरफ अपनी दृष्टि की समग्रता को बिना खण्डित किए हुए विलगाव की प्रवृत्ति से बचते भी रचना चाहिए। पहली प्रवृत्ति 'भाषा—साहित्य स्वनिष्ठ और स्वायत्त बनाती है जबकि विलगाव की प्रवृत्ति खण्डीय यथार्थ की ओर ले जाती है। शैली विज्ञान की दृष्टि भाषावादी और चिन्तन वस्तुवादी है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि भाषा को देखने और समझने की दृष्टि उसकी मान्यताओं को दूर तक प्रभावित करे। शैली विज्ञान की एक धारा, भाषा विज्ञान के इस संरचानात्मक सिद्धान्त से प्रभावित होकर उभरी जो भाषा व्यवस्था और भाषा व्यवहार के प्रतियोग में भाषा को रखकर भाषा विज्ञान का अपना क्षेत्र घोषित करती है।"(३)

कुछ आलोचक यह कहते हैं कि—शैली विज्ञान व्यवस्थापन मात्र है आविष्कार नहीं, क्योंकि उसके बीज यूरोप में अरस्तू से लेकर १६वीं शती तक के आलोचकों की रचनाओं में, भारत वर्ष में भामह, दण्डी, रूद्रट, वामन के ग्रन्थों में निश्चित रूप से मिलता है।

इसके जवाब में कृपाशंकर सिंह का कहना है कि, "भाषा वैज्ञानिक विषय हो अथवा समाज वैज्ञानिक विषय या फिर ललित कलाओं के विषय हो अधिकतर विषयों के बीज दूसरे विषयों में पाये जाते हैं। इन्ही बीजों से नये विषयों का जन्म होता है और कालान्तर में वे स्वतंत्र और प्रौढ़ विषय बन जाते हैं। शैली विज्ञान के बीज भले ही यूरोपीय और भारतीय चिन्तको में मिलते हो पर साहित्यिक अध्ययन, विश्लेषण और चिन्तन के लिए आज के शैली विज्ञान की अवधारणा निश्चित रूप से आधुनिक है।"(४)

---

(१) आलोचना ४१, अप्रैल ७७, काव्य-संसार और शैली विज्ञान, रवीन्द्र श्रीवास्तव, पृ. ५०
(२) वही
(३) ४१ अप्रैल ७७ पृ ५२
(४) वही पृ ५६

समाजशास्त्रीय समीक्षा

सरचनावादी समीक्षा एवं विच्छेदवाद इन सब प्रवृत्तियो को हम अलग–अलग देखने का प्रयास करेंगे–

शैली वैज्ञानिक समीक्षा

शैली विज्ञान का मूल आधार भाषा विज्ञान है। शैली विज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा भाषा विज्ञान के अन्तर्गत आता है। यह कविता में शरीर और आत्मा को दो पृथक सत्ताएं नहीं मानता है, वरन् शैली विज्ञान का दृष्टिकोण है कि दोनो संश्लिष्ट और अभिजात्य हैं। दोनों को अलग करना असम्भव है। इसी दृष्टिकोण का सहारा लेकर शैली विज्ञान व्यवस्थिति रूप से कविता के विश्लेषण में अपनी सामर्थ्य को स्थापित कर चुका है।

इस सम्बन्ध में कृपाशंकर सिंह का कहना है, "आवृत्ति गणना और शब्दो द्वारा व्यक्त चमत्कार से कविता की सौन्दर्यात्मक गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसका आशय यह नहीं लिया जाना चाहिए कि कविता की सौन्दर्यात्मक गहराई को उजागर करने में शैली विज्ञान की पहुँच हो ही नहीं सकती। शैली विज्ञान की पैठ वहाँ तक है और यह भी निश्चित है कि उस पैठ की शुरुआत कविता के रूपाकार से ही होती है। शैली विज्ञान कविता के रूपाकार तक ही सीमित नहीं है वरन् इससे फूटने वाली सौन्दर्य आभा को उद्घाटित करने का जिम्मा भी इसी का है। इसलिए काव्य शास्त्रीय आलोचकों का यह कहना है कि शैली विज्ञान के अध्ययन की सीमा कविता के 'भाषिक स्तर' तक ही सीमित है या कि कविता के कलात्मक या सौन्दर्यातमक स्तर या कलात्मक अनुभूति तक शैली विज्ञान की पहुँच नहीं है, वहाँ केवल काव्यशास्त्र ही पहुँच सकता है, एक नितान्त भ्रामक दृष्टिकोण है। कविता का इस तरह दो स्तरों पर विभाजन ही भ्रामक है।"(१)

शैली विज्ञान के विरोध में जो बातें कही जाती हैं, वह हैं, "रीति विज्ञान कला विवेचन वादी रूप है जो एक तरह से मरणोन्मुखी बुर्जुआ कला रूपों के काव्य सिद्धान्त रूपवाद की ही पुनः प्रतिष्ठा का अन्तिम प्रयास है। दूसरा आरोप कि काव्यार्थ को भाषा में 'रूपान्तरित कलात्मक यथार्थ' या काव्यकृति को संवेगात्मक उद्देश्यों से नियन्त्रित भाषा प्रतीक' कहकर शैली विज्ञान जिस वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टिकोण का समर्थन है उसे वह किसी गहरी संरचना का अनिश्चित संकेत भर होता है–फिर–शैली विज्ञान, काव्यकृति को सामाजिक सन्दर्भों से काटकर ही नहीं चलता वरन् कविता के भीतरी मर्म या मार्मिक अर्थ की खोज को बन्द कर देता है। वह न केवल कला, कला के लिए सिद्धान्त का पक्षधर है बल्कि वह कविता के अपने वास्तविक परिवेश से ही विच्छिन्न कर देने का षड्यन्त्र भी है।"(२)

इन सभी आरोपों का खण्डन करते हुए रवीन्द्र श्रीवास्तव ने अपनी लेखमाला में शैली विज्ञान की अवधारणाओं को स्पष्ट किया है। शैली विज्ञान प्रतीक के संदर्भ में कथ्य और अभिव्यक्ति के एकीकरण की मान्यता को स्वीकार

(१) ५१ ६६ पृ ५५

(२) *५१ अप्रैल ७७ काव्य- और शैली विज्ञान रवीन्द्र पृ ५१*

कर चलता है। काव्य के अभाव में अभिव्यक्ति पक्ष और अभिव्यक्ति के अभाव मे कथ्यपक्ष किसी भी प्रतीक को जन्म देने में असमर्थ है।

"शैली विज्ञान की सैद्धान्तिक मान्ताए आभ्यन्तर आलोचना के पक्ष मे है कि क्योंकि वह एक ओर सर्जनात्मक धरातल पर काव्यकृति को कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्वित इकाई के रूप में प्रतीकवत सिद्ध मानती है और दूसरी ओर आलोचनात्मक धरातल पर वह अपना केन्द्रक काव्यकृति और काव्यात्मकता को स्वीकार करती है। शैली विज्ञान अपनी आलोचनात्मक दृष्टि और प्रयोजनात्मक तथ्य को काव्यकृति को इतिहास, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों की निम्न स्थितयों के प्रमाण रूप में ग्रहण किया जाय।"[१]

शैली विज्ञान वाह्यजगत और कला जगत के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की यान्त्रिक और जड प्रकृति का विरोधी है। अन्यथा वह यह मानकर चलता है कि 'कला प्रतीक' के रूप में सिद्ध काव्यकृति उन सभी उपादानों को अपने भीतर खींचती है और समेटती है जिसके समपर्क में वह आने के लिए बाध्य है।"[२]

रवीन्द्र श्रीवास्तव के अनुसार, "शैली विज्ञान चाकोब्सन के इस मत का हमेशा समर्थक रहा है कि भाषा और साहित्य के अध्येता को एक तरफ और क्षेत्र को परिभाषित करने की कोशिश करनी चाहिए पर दूसरी तरफ अपनी दृष्टि की समग्रता को बिना खण्डित किए हुए विलगाव की प्रवृत्ति से बचते भी रचना चाहिए। पहली प्रवृत्ति 'भाषा—साहित्य स्वनिष्ठ और स्वायत्त बनाती है जबकि विलगाव की प्रवृत्ति खण्डीय यथार्थ की ओर ले जाती है। शैली विज्ञान की दृष्टि भाषावादी और चिन्तन वस्तुवादी है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि भाषा को देखने और समझने की दृष्टि उसकी मान्यताओं को दूर तक प्रभावित करे। शैली विज्ञान की एक धारा, भाषा विज्ञान के इस संरचानात्मक सिद्धान्त से प्रभावित होकर उभरी जो भाषा व्यवस्था और भाषा व्यवहार के प्रतियोग में भाषा को रखकर भाषा विज्ञान का अपना क्षेत्र घोषित करती है।"[३]

कुछ आलोचक यह कहते हैं कि—शैली विज्ञान व्यवस्थापन मात्र है आविष्कार नहीं, क्योंकि उसके बीज यूरोप में अरस्तू से लेकर १६वीं शती तक के आलोचकों की रचनाओं में, भारत वर्ष में भामह, दण्डी, रूद्रट, वामन के ग्रन्थों में निश्चित रूप से मिलता है।

इसके जवाब में कृपाशंकर सिंह का कहना है कि, "भाषा वैज्ञानिक विषय हो अथवा समाज वैज्ञानिक विषय या फिर ललित कलाओं के विषय हो अधिकतर विषयों के बीज दूसरे विषयों में पाये जाते हैं। इन्हीं बीजों से नये विषयों का जन्म होता है और कालान्तर में वे स्वतंत्र और प्रौढ़ विषय बन जाते है। शैली विज्ञान के बीज भले ही यूरोपीय और भारतीय चिन्तकों में मिलते हो पर साहित्यिक अध्ययन, विश्लेषण और चिन्तन के लिए आज के शैली विज्ञान की अवधारणा निश्चित रूप से आधुनिक है।"[४]

---

(१) आलोचना ४१, अप्रैल ७७, काव्य-संसार और शैली विज्ञान, रवीन्द श्रीवास्तव, पृ. ५०
(२) वही
(३) आलोचना ४१, अप्रैल ७७, पृ. ५२
(४) वही पृ ५६

शैली विज्ञान के लिए यह कहा जा सकता है कि वह काव्य कृति क भीतर के संसार को अपने अध्ययन–विश्लेषण की सामग्री मानता है और उसको सही सन्दभ में देखने परखने के लिए संसर्गगत व्याख्या का अपना उपकरण बनाता है।

नई समीक्षा

प्रथम विश्व युद्ध के बाद आलोचना की जितनी पद्धतियाँ प्रचलित हुई उनमें से नयी समीक्षा का स्थान प्रमुख है। इसके विद्वान कविता यांत्रिकता से न सम्बद्ध करके आवयिकता से सम्बन्ध करता है, कविता का प्रत्येक अश दूसरे अंश से प्रभावित–संघटित होता है। प्रत्येक खण्ड किन्हीं अर्थों में सम्पूर्ण होता है। वह कला को वस्तु के रूप मे लेता है। इस पर एजरा पाउड के भाषिक विश्लेषण का भी विशेष प्रभाव पड़ा। उसके सिद्धान्तो की प्रतिध्वनि इलियट मे सुनायी पड़ती है। जान क्रबेरेंसम ने नयी आलोचना की शुरुआत रिचर्ड्स से माना है। इसमें पाउड के शिष्य इलियट का भी बहुत योगदान है।

नयी आलोचना को ऐतिहासिक आलोचना का विरोधी कहा जा सकता है। इस आलोचना के अन्तर्गत प्रकृतवाद, मार्क्सवादी आदि आलोचनाए सन्निविष्ट की जाती हैं। मनोविश्लेषणात्मक आलोचना भी नये आलोचकों को स्वीकार नहीं है। न भी आलोचना ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक, मानववादी मार्क्सवादी आलोचना के विरुद्ध खड़ी हुई है।

सन् १६४१ में जान क्रवे ने 'नयी आलोचना' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें प्रमुख आलोचकों का अध्ययन प्रस्तुत किया। इस पुस्तक के नाम पर आलोचना प्रणाली को 'नयी आलोचना' कहा जाने लगा। नये आलोचकों में मुख्य हैं 'राबर्ट पेन वारेन, क्लीन्यब्रक्स, एलनटेट, ब्लैकमर और आइवर विंटर। शिकागो स्कूल के आलोचक उस पद्धति से अलग होते हुए भी एक ही हैं। नयी आलोचना को 'तत्वमीमांसीय' आलोचना भी कहा जाता है। इसके अनुसार कविता का स्वतंत्र और सुनिश्चित अस्तित्व है जो कवि तथा सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश से पृथक है। ये केवल कविता को कविता के रूप में देखते हैं और काव्य के सभी वाह्य प्रतिमानों के विरुद्ध हैं।

फ्रेडरिक पाटिल ने नये आलोचकों से कहा है कि उन्हें समसामयिक साहित्य के नये मुहावरे को, मरणोन्मुखी रूढ़ मुहावरे से अलग करके पहचानना चाहिए। आलोचक साहित्य के मूल स्वरूप को या दिशा को उसी प्रकार नही बदल सकता, जिस प्रकार भाषाविद् भाषा के विकास की गति नहीं बदल सकता।

नयी आलोचना पर मुख्यतः निम्नलिखित आपत्तियॉ उठायी जाती हैं–

१ : यह रूपवादी आलोचना है जो प्रकारांतर से कला के लिए कला का समर्थन करती है।

२ : भाषिक विश्लेषण ही इसकी इति कर्तव्यता है। उसके आगे सम्प्रेषण, आस्वाद, और पाठकों की समस्याओं से यह अपने को असंपृक्त रखती है

३ मूल्यांकन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।
४ लम्बे काव्यों, नाटकों, उपन्यासों का विश्लेषण करने में यह असमर्थ है।

नयी आलोचना का विवेचन करते हुए रामसेवक सिंह ने कहा है, "नयी आलोचना' इतनी दूर तक 'शिल्प परक' हुई कि कविता का मूल्यांकन न करके शिल्प चर्चा मे विशेष प्रवृत्त हुई। इसके पीछे जो आधारभूत विचार काम कर रहे थे उनमें तीन महत्वपूर्ण है—एक तो यह कि काव्य का मूल्य इसलिए है कि कविता एक खास प्रकार की निराली संरचना होती है, दूसरा यह है कि जीवन मे जो कुछ भी कुरूप, सडा गला है वह भी साहित्य में सुन्दर बन जाता है। जीवन कच्चे माल के समान है। आधुनिक कविता की उपलब्धि ही है—'आत्मशुद्धि की खोज ......हर प्रकार की असम्बद्ध अथवा वाह्य तत्वों से बचाने के लिए कविता का शुद्धीकरण, यानी कविता के निखालिस तत्वों की खोज।"(१)

नई आलोचना' का अग्रदूत होते हुए भी इलियट ने समय आने पर उसकी अतिवादिता की भर्त्सना की और उन मानदण्डों का समर्थन किया जिन पर आधृत आलोचना साहित्य के 'साहित्यिक गुणों की व्याख्या कराती है।"(२)

नयी आलोचना ने साहित्य की स्वतंत्रता और स्वायत्त सत्ता पर बल देकर उसकी महत्ता को प्रतिष्ठित किया है। इसलिए जहाँ तक साहित्य की आलोचना का सम्बन्ध है नयी आलोचना को उसके महत्वपूर्ण स्थान से च्युत नहीं किया जा सकता।

हिन्दी में नई समीक्षा

हिन्दी में नयी समीक्षा प्रयोगवाद के साथ आरम्भ होती है। नयी कविता प्रयोगवाद का दूसरा नाम है, प्रयोगवाद के समर्थक ही नयी समीक्षा के लेखक भी हैं। नयी समीक्षा का आरम्भ 'तारसत्पक' और उसकी भूमिका के प्रकाशन के साथ सन् १९४३ से ही माना जाता है। अज्ञेय इस नयी धारा के प्रवर्तक हैं, साथ ही इस नई समीक्षा के भी। इस काव्यधारा की आलोचना पद्धति को नई समीक्षा कहते हैं नई समीक्षा का जन्म इसी प्रयोगवादी काव्य के विश्लेषण विवेचन और मूल्यांकन के लिए हुआ।

नयी समीक्षा की कुछ सामान्य विशेषताएं इस प्रकार हैं—'नयी समीक्षा के लेखक प्राचीन और आधुनिक कविता को मान्यता प्रदान नहीं करते। अपने से पूर्व के काव्य की या तो उपेक्षा करते हैं और तिरस्कार की दृष्टि से देखते है या उसकी निन्दा करते हैं। नए समीक्षक 'अज्ञेय' को एक स्वर से इस आन्दोलन का अगुवा मानते हैं। ये प्रगति विरोधी तो नहीं परन्तु साम्यवादी विचारधारा के कट्टर शत्रु हैं। इनकी आलोचना पद्धति प्रयोगवादी काव्य की तरह व्यक्तिवाद पर आधारति है।

नामवर सिंह ने इस आलोचना पद्धति को अधिक महत्व नहीं दिया। आलोचना अंक ७ में नई प्रवृत्तियों को देखते समय ही, 'नई आलोचना' शिकागो समीक्षा और फ्राड की आलोचना पद्धतियों की चर्चा की गई है। इससे यूरोपीय समीक्षा जगत में नयी समीक्षा के आविर्भाव और विकास को तो समझा जा

(१) नयांक ७ अक्टूबर ६८ पृ ४६
(२) वही पृ ४७

सकता है किन्तु हिन्दी में नयी समीक्षा के विकास पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। नयी समीक्षा के बारे में नामवर सिंह का चुप्पी लगा जाना या उससे सम्बन्धित लेखो को अधिक प्रश्रय न देना जहाँ उनके नयी समीक्षा के विरोध को प्रकट करता है वहीं प्रगतिवादी, यथार्थवादी काव्य दृष्टि के प्रति उनके गहरे रुझान को भी स्पष्ट करता है।

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववादी दार्शनिक विचारधारा का जन्म प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्ष पश्चात जर्मनी में हुआ जहाँ से उसे फ्रांस और इटली में प्रवेश मिला। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात मानवीय मूल्यों की संक्रान्ति स्थिति का अनुकूल वातावरण पाकर उसे साहित्यिक परिवेश में आने का सुअवसर मिला। प्रथम महायुद्ध के पश्चात भी भीषण गलनशीलता के क्षणों में काफ्का, कांमू और सार्त्र जैसे साहित्यकारों ने वस्तुस्थिति का चित्रण एक कलात्मक तटस्थता से करने का प्रयास किया।

अस्तित्ववादियों की रचनाओं में मानव जीवन की व्यर्थता, यौन–प्रवृत्तियो का उबा देने वाला घृणोत्पाक विश्लेषण, सामयिक अराजकता, आर्थिक अनिश्चयात्मकता और ह्रासोन्मुख मानव संस्कृति के चित्रों को देखकर कुछ समीक्षकों ने उक्त साहित्य को आस्थाहीन, अश्लील अति यथार्थवादी प्रवृत्तियो की अतिवादी पलायनवादी और निराशावादी घोषित कर दिया।

"सार्त्र ने चेतना एवं सत्ता के दो रूपों के विश्लेषण द्वारा अस्तित्ववाद सम्बन्धी अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं का सूत्रपात किया है। 'सत्ता' एक सुस्पष्ट दृढ–ठोस, निश्चयात्मक उपस्थित है, जो न क्रियाशील न निष्क्रिय न प्रमाणात्मक, और न निषेधात्मक ही। 'चेतना' की व्याख्या करते हुए ही सार्त्र ने अपने सूत्र की उद्भावना की है। सार्त्र का अस्तित्ववाद ईश्वर का निषेध करता है और मानव को ही अपने भविष्य का निर्माता स्वीकार करता है।"(१)

अस्तित्ववाद के समीक्षकों ने दार्शनिक सामाजिक एवं साहित्य–भूमियो पर अस्तित्ववाद एवं सार्त्र की आलोचना की है। समीक्षा में कुछ अंश ऐसे भी है जिनमें सार्त्र एवं अस्तित्ववादी दर्शन एवं साहित्य को छूने का प्रयास मिलता है और कुछ से वाद–विवाद में कुद ग्रन्थियाँ सुलझी भी हैं।

'आलोचना के अंकों में अस्तित्ववाद को और नई कविता (डॉ. रामविलास शर्मा) अस्तित्ववाद और सौन्दर्यशास्त्र (कुमार विकल), अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद (सुरेन्द्र चौधरी) इत्यादि लेख छपे हैं। अस्तित्ववाद के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि, "सामयिक परिस्थितियों की उथल–पुथल में अस्तित्ववादी साहित्यकार अपेक्षित दबाव, दायित्व, मर्यादा एवं तटस्थ संयम का निर्वाह नही कर सका है। अस्तिस्ववाद जीवन का नवीन दर्शन है, जिसका सम्पूर्ण विकास एवं साहित्य में श्रेष्ठ कलात्मक परिणति अभी तक कदाचित पूर्ण रूप से नही निभ सकी है। यह सम्भव है कि निकट भविष्य में हमें दर्शन एवं साहित्य के मध्य खुदी हुई विशाल खाई को पाटने का उपक्रम करने वाले श्रेष्ठ साहित्यकार

(१) आलोचना पूर्णांक, अप्रैल ५६, अस्तित्ववाद, मनोहर वर्मा, पृ. १२७

की कृतियों की सूचना मिले।"[१]

समाजशास्त्रीय समीक्षा

आलोचना में समाजशास्त्रीय समीक्षा सम्बन्धी निबन्धो तथा साहित्य और समाजशास्त्र (माल्कम ब्रेडवरी), साहित्यिक कल्पना और समाजशास्त्रीय कल्पना (रिचर्ड हॉंगर्ट), साहित्य और समाजशास्त्र (रेमण्ड विलिम्स) आदि साहित्य मे समाजशास्त्र की अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। पिछले कुछ वर्षों मे साहित्य–समीक्षकों एवं विद्वानों में साहित्य को उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि मे देखने की अभिरुचि में वृद्धि हुई है। किसी भी तरह यह कोई नई बात नहीं है। साहित्यिक अध्ययन में सदैव ही इसकी संस्कृति सामने वाली है।

"साहित्य उस समाज से प्राप्त होता है जिसमें उसकी रचना की गई है वह उस समाज को प्रतिबिम्बित करता है और एक अर्थ में उसे प्रभावित भी करता है। साहित्य के संलिष्ट अस्तित्व को समझने की दो मुख्य दृष्टियाँ है। एक दृष्टि साहित्य को समाज में प्रेरणात्मक एवं सक्रिय शक्ति के रूप में देखती है। दूसरी दृष्टि इसे समाज की अभिव्यक्ति के रूप में, विशेष स्रोतों, विचारों एव काल विशेष के समाज विशेष की सामग्री से रूपायित एवं अनुकूलित वस्तु के रूप मे देखती है। इसके अनुसार महान लेखन के सामर्थ्य और स्रोत के प्रतिभावान के रूप में देखा जा सकता है। हम साहित्य के अस्तित्व को मानकर चलते हैं और समाज के सम्बन्ध में उसके वाक्य को देख सकते हैं उसकी कल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि समाजशास्त्र को अधिक व्यवस्थित किन्तु अल्प सर्जनात्मक ढग से करती है।"[१]

इसके सम्बन्ध में माल्कम ब्रेडवरी के विचार द्रष्टव्य हैं– "किसी साहित्यिक कृति को ठीक ढंग से पढने के लिए प्रशिक्षित समीक्षक होना जरूरी है। इसलिए यदि आलोचक समीक्षा के लिए समाजशास्त्र की सहायता लेते हैं तो कोई खास नई बात नहीं करते। कठिनाई वहॉ खड़ी होती है जहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र के मूल वैज्ञानिक बल तथा अपेक्षाकृत मूल्य–मुक्त पक्ष से उसके अपने ही तरीकों और बोध को चुनौती मिलने लगती है। समाजशास्त्र के अस्तित्व की अवमानना करके साहित्यिक अध्ययन अग्रसर नहीं हो सकता।"[२]

जिस आलोचक ने साहित्यिक अध्ययन में समाजशास्त्र को अपनाया है उनमें दो मुख्य पद्धतियाँ दिखाई पड़ती हैं। एक का उद्‌गम साहित्य–समीक्षा से हुआ और दूसरी साहत्य सम्बन्धी विद्वता से। सहायक विधा के रूप में समाजशास्त्र की बड़ी सार्थकता है।

"साहित्य और समाजशास्त्र के मध्य निःसंदेह प्रगाढ़ संबंध है। जब समाजशास्त्री यथार्थ की परिभाषा करता है तो उसे बहुत ही सतर्क रहना चाहिए। साहित्य और समाजशास्त्र दोनों ही यथार्थबोध की संरचना और उसे रूपायित करने के तरीके हैं। सच्चाई यह है कि साहित्य और समाजशास्त्र दुनिया को देखने के लिए अलग–अलग ढंग है। एक तरफ समाजशास्त्र

---

(१) २५ अप्रैल ७३ साहित्य और माल्कम ब्रेडवरी पृ ७
(२) २५ अप्रैल ७३ पृ १०

महत्वपूर्ण एवं पूर्ण रूपेण चरितार्थ कला कृतियों में अनुभव की सश्लिष्टता को पहचानने में हमारी मदद करता है तो दूसरी ओर वह लम्बे दौर में वैयक्तिक रचनाशीलता के हमारे बोध को नष्ट करने की ओर उन्मुख हा सकता है। इसलिए समीक्षक समाजशास्त्र का लाभ तभी ले सकते हैं जबकि वह इस सम्बन्ध में जागरुक रहे कि हर महत्वपूण लेखक और पुस्तक संभावनाओ को बदलकर और उनके सम्बन्ध में हमे नये सिरे से चेताकर परिवेश को एक गहरे और वास्तविक रूप में रूपान्तरिक करती है।"[१]

संरचनावादी समीक्षा

आलोचना में प्रकाशित मैनेजर पाण्डेय के लेख में संरचनावाद और साहित्य को इतिहास में स्पष्ट किया गया है कि संरचनावाद साहित्य के इतिहास की सत्ता और महत्ता को अस्वीकार करता है पर संरचनावाद की उपेक्षा इतिहास द्वारा सम्भव नहीं है। इसके लिए विकास का क्रम इस प्रकार बताया गया है– "इस शताब्दी के पहले दशक में 'साक्यूर' के भाषा वैज्ञानिक चिन्तन से सरचनावाद का उदय हुआ। साहित्य अनुशीलन के संदर्भ में उसी का विकसित रूप इसी रूपवाद चिन्तन में दिखाई दिया। फ्रांसीसी संरचनावाद के संस्थापक 'लेबीस्त्रास' ने रूसी संरचनावाद में से बहुत कुछ सीखा है।"[२]

मैनेजर पाण्डेय स्वीकार करते हैं कि संरचनावाद को भाषा विज्ञान से साहित्य चिन्तन के क्षत्र में लाने और उसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्व देने में सबसे अधिक योगदान रोमन 'याकोम्सन' का है। संरचनावाद का उदय फ्रांस में १९६० के आस पास हुआ। उस पर अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण वाद और मार्क्सवाद का मिला जुला प्रभाव है। संरचनावादी काव्यशास्त्र विकसित करने वालो में 'रोलावार्थ ओर मिसेल फूको' मुख्य हैं।

सरंचनावादी विचारक मिथक और आदिम संस्कृतियों के अध्ययन मे विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि संरचनावाद वर्तमान को शास्वत वर्तमान बनाने वाली विचारधारा है। संरचनावाद के अनुसार किसी कृति की संरचना के विश्लेषण के माध्यम से ही उसका अर्थ निश्चित किया जा सकता है। ऐतिहासिक और जीवनी परक आलोचना पद्धतियों से जो मोह भंग हुआ उसी का परिणाम है संरचनावाद। कहा जा सकता है कि सरचनावादी साहित्य के भाषिक रूप पर अधिक बल देते हैं। इसी अनुशासन मे विकसित हुआ संरचनावादी शैली विज्ञान वह सिद्धान्त है जिसमें किसी रचना को संकेत रूप में उसका विश्लेषण किया जाता है। बाद मे गोल्डमान जैसे विचारकों ने संरचनावाद मीमासा की ऐतिहासिक भौतिकवाद की कुछ अवधारणाओं का उपयोग किया। उसने रचनाओं की परिवर्तनशीलता को भी स्वीकार किया। संरचनावाद से साहित्य के विश्लेषण, उसकी रूप मीमांसा तथा भाषा मीमांसा में मदद मिल सकती है।

---

(१) आलोचना २५ अप्रैल ७३ पृ ९५
(२) आलोचना ३८ जुलाई ७६ पृ ३

विच्छेदवाद

आलोचना के कुछ अंकों में शिकोगो स्कूल की समीक्षा या फ्राड के समीक्षा सिद्धान्त विषयों पर निबन्ध प्रकाशित हुए हैं जिनमें नई समीक्षा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण समझे जाने वाले सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है। इसी प्रकार डॉ राजनाथ ने नइ समीक्षा के साथ ही विच्छेदनवादी समीक्षा पर भी विचार किया है। विच्छेदनवादी समीक्षा के जनक 'जाक देरिदा' हैं। देरिदा के भाषा सम्बन्धी विचारों को 'सोक्यूर' के संरचनावादी भाषा विधान के संदर्भ में समझाने की चेष्टा की गई है। भाषा की सरंचना में अध्ययन से 'सोक्यूर' इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाषा संकेत उन्मुक्त होते हैं। देरिदा, सोक्यूर के इस बात से सहमत हैं कि भाषा संदर्भ विशेष में होती है और अर्धनिष्पत्ति भाषिक इकाइयो के बीच अन्तर से ही सम्भव होता है।

'सोक्यूर' से देरिदा से असहमति का बिन्दु है विलोपन की अवधारणा। देरिदा कहते हैं कि लेखन भेदों की क्रीड़ा मात्र है उसका कोई केन्द्र नही होता। डॉ. राजनाथ ने स्वीकार किया है कि देरिदा के विचारों का पूर्वाभास रिचर्ड्स में मौजूद है। यद्यपि दोनों में मतभेद भी हैं। आलंकारिक भाषा के सन्दर्भ में रिचर्ड्स देरिदा के पूर्व गामी हैं।

डॉ राजनाथ के अनुसार विच्छेदन वादी समीक्षा बीसवीं सदी की अमेरिका समीक्षा के विकास क्रम में नई समीक्षा के पश्चात सर्वाधिक महत्वपूर्ण समीक्षात्मक आन्दोलन है। यदि नई समीक्षा के प्रमुख उन्नायक रिचर्ड्स थे तो विच्छेदनवाद के जनक हैं देरिदा। डॉ. राजनाथ ने इस निबन्ध में कविता सम्बन्धी बहुत सी स्थापनाओं में सूक्ष्म भेद समझाने की चेष्टा की है। विच्छेदनवादी समीक्षा का रूप तत्व मीमांसक समीक्षा भी है। विच्छेदनवादी समीक्षक साहित्यिक भाषा को ही आदर्श बनाते हैं। अमेरिकी विच्छेदनवादी समीक्षकों ने अपने को साहित्य तक ही सीमित किया है। विच्छेदन वाद यह मानता है कि लेखक अर्थ का समर्थन और विरोध, कथन और अकथन दोनों एक साथ करते हैं जहाँ नई समीक्षा मानती है कि कृति का एक केन्द्रिय स्थल होता है। वही विच्छेदनवादी इस प्रकार के केन्द्र को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि रचना केवल उन्मुक्त क्रीडा और यह उन्मुक्त क्रीड़ा को केन्द्रहीन बना देती है।

'आलोचना' पत्रिका विचारधाराओं के परिचय और विचार धाराओं के सघर्ष को बराबर महत्व देती रही है। इसलिए उसने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध पड़ने वाली विचारधाराओं पर भी नवीनतम् जानकारियों से सम्पन्न लेख प्रकाशित किये है।

मूल्यांकन

किसी भी पत्रिका के लिए मूल्यांकन का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। पत्रिका की दृष्टि का पता हम उसमें सम्पादकीय वक्तव्य, प्रकाशित निबन्धों एव मूल्यांकित पुस्तकों से आसानी से लगा सकते है।

'आलोचना' पत्रिका हिन्दी साहित्य की वह महत्वपूर्ण पत्रिका रही है जिसमें हिन्दी साहित्य की उन सभी महत्वपूर्ण पुस्तकों की चर्चा की गई जो अपने समय में चर्चित एवं रही हैं इसमें कहानी समीक्षा नाटक

महत्वपूर्ण एवं पूर्ण रूपेण चरितार्थ कला कृतियों में अनुभव की संश्लिष्टता को पहचानने में हमारी मदद करता है तो दूसरी ओर वह लम्बे दौर में वैयक्तिक रचनाशीलता के हमारे बोध को नष्ट करने की ओर उन्मुख हो सकता है। इसलिए समीक्षक समाजशास्त्र का लाभ तभी ले सकते हैं जबकि वह इस सम्बन्ध में जागरुक रहे कि हर महत्वपूर्ण लेखक और पुस्तक सभावनाओ को बदलकर और उनके सम्बन्ध में हमें नये सिरे से चेताकर परिवेश को एक गहरे और वास्तविक रूप में रूपान्तरिक करती है।"(१)

संरचनावादी समीक्षा

आलोचना में प्रकाशित मैनेजर पाण्डेय के लेख में संरचनावाद और साहित्य को इतिहास में स्पष्ट किया गया है कि संरचनावाद साहित्य के इतिहास की सत्ता और महत्ता को अस्वीकार करता है पर संरचनावाद की उपेक्षा इतिहास द्वारा सम्भव नहीं है। इसके लिए विकास का क्रम इस प्रकार बताया गया है- "इस शताब्दी के पहले दशक में 'साक्यूर' के भाषा वैज्ञानिक चिन्तन से संरचनावाद का उदय हुआ। साहित्य अनुशीलन के सदर्भ में उसी का विकसित रूप इसी रूपवाद चिन्तन में दिखाई दिया। फ्रांसीसी संरचनावाद के सस्थापक लेबीस्त्रास' ने रूसी संरचनावाद में से बहुत कुछ सीखा है।"(२)

मैनेजर पाण्डेय स्वीकार करते हैं कि संरचनावाद को भाषा विज्ञान से साहित्य चिन्तन के क्षत्र में लाने और उसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्व देने मे सबसे अधिक योगदान रोमन 'याकोम्सन' का है। संरचनावाद का उदय फ्रांस में १९६० के आस पास हुआ। उस पर अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण वाद और मार्क्सवाद का मिला जुला प्रभाव है। संरचनावादी काव्यशास्त्र विकसित करने वालों में 'रोलावार्थ ओर मिसेल फूको' मुख्य हैं।

सरंचनावादी विचारक मिथक और आदिम संस्कृतियो के अध्ययन मे विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि संरचनावाद वर्तमान को शास्वत वर्तमान बनाने वाली विचारधारा है। संरचनावाद के अनुसार किसी कृति की संरचना के विश्लेषण के माध्यम से ही उसका अर्थ निश्चित किया जा सकता है। ऐतिहासिक और जीवनी परक आलोचना पद्धतियों से जो मोह भंग हुआ उसी का परिणाम है संरचनावाद। कहा जा सकता है कि सरचनावादी साहित्य के भाषिक रूप पर अधिक बल देते हैं। इसी अनुशासन मे विकसित हुआ संरचनावादी शैली विज्ञान वह सिद्धान्त है जिसमें किसी रचना को संकेत रूप में उसका विश्लेषण किया जाता है। बाद में गोल्डमान जैसे विचारकों ने संरचनावाद मीमांसा की ऐतिहासिक भौतिकवाद की कुछ अवधारणाओं का उपयोग किया। उसने रचनाओं की परिवर्तनशीलता को भी स्वीकार किया। संरचनावाद से साहित्य के विश्लेषण, उसकी रूप मीमांसा तथा भाषा मीमांसा में मदद मिल सकती है।

---

(१) आलोचना २५, अप्रैल ७३, पृ. १५
(२) आलोचना ३८ जुलाई ७६ पृ ३

विच्छेदवाद

आलोचना के कुछ अंकों में शिकोगो स्कूल की समीक्षा या फ्राड के समीक्षा सिद्धान्त विषयों पर निबन्ध प्रकाशित हुए हैं जिनमे नई समीक्षा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण समझे जाने वाले सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है। इसी प्रकार डॉ राजनाथ ने नइ समीक्षा के साथ ही विच्छेदनवादी समीक्षा पर भी विचार किया है। विच्छेदनवादी समीक्षा के जनक 'जाक देरिदा' हैं। देरिदा के भाषा सम्बन्धी विचारों को 'सोक्यूर' के संरचनावादी भाषा विधान के संदर्भ में समझाने की चेष्टा की गई है। भाषा की सरंचना में अध्यययन से 'सोक्यूर' इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाषा संकेत उन्मुक्त होते है। देरिदा, सोक्यूर के इस बात से सहमत हैं कि भाषा संदर्भ विशेष में होती है और अर्धनिष्पत्ति भाषिक इकाइयो के बीच अन्तर से ही सम्भव होता है।

'सोक्यूर' से देरिदा से असहमति का बिन्दु है विलोपन की अवधारणा। देरिदा कहते हैं कि लेखन भेदों की क्रीड़ा मात्र है उसका कोई केन्द्र नही होता। डॉ राजनाथ ने स्वीकार किया है कि देरिदा के विचारों का पूर्वाभास रिचर्ड्स में मौजूद है। यद्यपि दोनों में मतभेद भी हैं। आलंकारिक भाषा के सन्दर्भ में रिचर्ड्स देरिदा के पूर्व गामी है।

डॉ. राजनाथ के अनुसार विच्छेदन वादी समीक्षा बीसवीं सदी की अमेरिका समीक्षा के विकास क्रम में नई समीक्षा के पश्चात सर्वाधिक महत्वपूर्ण समीक्षात्मक आन्दोलन है। यदि नई समीक्षा के प्रमुख उन्नायक रिचर्ड्स थे तो विच्छेदनवाद के जनक हैं देरिदा। डॉ राजनाथ ने इस निबन्ध में कविता सम्बन्धी बहुत सी स्थापनाओं में सूक्ष्म भेद समझाने की चेष्टा की है। विच्छेदनवादी समीक्षा का रूप तत्व मीमांसक समीक्षा भी है। विच्छेदनवादी समीक्षक साहित्यिक भाषा को ही आदर्श बनाते हैं। अमेरिकी विच्छेदनवादी समीक्षकों ने अपने को साहित्य तक ही सीमित किया है। विच्छेदन वाद यह मानता है कि लेखक अर्थ का समर्थन और विरोध, कथन और अकथन दोनों एक साथ करते हैं जहाँ नई समीक्षा मानती है कि कृति का एक केन्द्रिय स्थल होता है। वही विच्छेदनवादी इस प्रकार के केन्द्र को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि रचना केवल उन्मुक्त क्रीड़ा और यह उन्मुक्त क्रीडा को केन्द्रहीन बना देती है।

'आलोचना' पत्रिका विचारधाराओं के परिचय और विचार धाराओं के सघर्ष को बराबर महत्त्व देती रही है। इसलिए उसने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध पड़ने वाली विचारधाराओं पर भी नवीनतम् जानकारियों से सम्पन्न लेख प्रकाशित किये है।

मूल्यांकन

किसी भी पत्रिका के लिए मूल्यांकन का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। पत्रिका की दृष्टि का पता हम उसमें सम्पादकीय वक्तव्य, प्रकाशित निबन्धों एव मूल्यांकित पुस्तकों से आसानी से लगा सकते हैं।

'आलोचना' पत्रिका हिन्दी साहित्य की वह महत्वपूर्ण पत्रिका रही है जिसमें हिन्दी साहित्य की उन सभी महत्वपूर्ण पुस्तकों की चर्चा की गई जो अपने समय मे चर्चित एवं विवादास्पद रही हैं इसमें कहानी समीक्षा नाटक

उपन्यास आदि की समीक्षाएं होती रहीं लेकिन प्रमुखता मिली हिन्दी की कविता को ही। इसका कारण रहा कि कविता किसी भी साहित्य के मूल में होती है और वही किसी आन्दोलन को चलाती है- इसलिए कविता सम्बन्धी निबन्ध इसमें ज्यादे प्रकाशित किए गये।

नामवर सिंह का दृष्टिकोण यह है कि साहित्य वही रहता है, उसक देखने की दृष्टि बदल जाया करती है। इतिहास का सम्बन्ध इसी दृष्टि से है। कबीर, सूर का साहित्य वही है पर नए विचारकों की दृष्टि वही नहीं है जो पहले के विचारकों की थी। इसलिए एक तो नामवर सिंह ने 'आलोचना' में ऐसे निबन्ध प्रकाशित किए हैं जो प्रायः उन लेखकों के है जिनकी विचारधारा प्रगतिशील या मार्क्सवादी हो। कवितावली पर रमेश कुन्तल मेघ और सूर पर शिवकुमार मिश्र के निबन्ध इसी दृष्टि के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

दूसरी ओर नामवर सिंह का आग्रह मुख्य रूप से सिद्धान्त समकालीन साहित्य और साहित्यिक आन्दोलन पर रहा है। उदाहरण के लिए उन्होंने प्रगतिवाद के महत्व और उसकी सीमाओं को आंकने के लिए दो अंक प्रकाशित किए। दूसरा अंक प्रगतिशील लेखक संघ की स्वर्ण जयन्ती पर प्रकाशित किया गया। इस पूरे अंक में आन्दोन के अन्तर्विरोधों की समीक्षा बिना किसी पूर्वग्रह के की गई है। इसी तरह युवा लेखन संज्ञा को स्वीकृति दिलाने के लिए एक सम्पूर्ण अंक प्रकाशित किया। धूमिल को स्वीकृति उसी अंक के बाद मिली। डॉ नामवर सिंह ने वहाँ भी अपने सम्पादकीय वक्तव्य में युवा लेखन के उदय के कारणों पर विचार किया। उन्होंने युवा लेखन के सकारात्मक और निषेधात्मक पहलुओं की स्पष्ट समीक्षा प्रस्तुत की। उन्होंने दिखाया कि सम्पूर्ण युवा लेखन अपने स्वरूप में क्रान्तिकारी नहीं है। वह प्रतिक्रान्तिकारी या क्रान्ति विरोधी है। जिस युवा लेखन को धर्मवीर भारती जैसे लोग प्रोत्साहन दे रहे थे उसके पीछे एक राजनीति काम कर रही थी।

नामवर सिंह को इसके लिए श्रेय दिया जायेगा कि उन्होने भारतेन्दु मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, नागार्जुन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, रामविलास शर्मा के विस्तृत मूल्यांकन के लिए आलोचना के विशेषांक निकाले। इन लेखकों के चयन के पीछे नामवर सिंह की अपनी दृष्टि काम करती रही है। उनका ध्यान अनावश्यक रूप से किसी बड़े लेखक को प्रगतिशील सिद्ध करने पर नहीं, उसके साहित्य की अपनी मूल प्रकृति और स्वधर्म की पहचान पर रहा है। फिर चाहे उसमें प्रगतिशील आन्दोलन और उसकी विरासत को बल प्राप्त होता है या नही। मैथिलीशरण गुप्त के मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन में यह दृष्टि साफ है।

विचारधाराओं का संघर्ष नामवर सिंह के आकर्षण का प्रमुख आधार है। इसलिए वे विशेष रूप से संसार भर के महत्वपूर्ण मार्क्सवादी चिन्तकों की विचार सामग्री प्रस्तुत करते रहे हैं। साथ ही उन्होंने टी. एस. इलियट और नयी समीक्षा शैली और रूपवादी प्रवृत्तियों पर अनेक लेख प्रकाशित किए। प्रतिबद्धता जैसे विषयों को लेकर उन्होंने कई प्रकार की साक्षात्कार वार्ताएं भी प्रकाशित की। भरतीय काव्शास्त्र सम्बन्धी विवादास्पद विषयों पर बराबर लेख प्रकाशित होते रहे ' दूसरी ओर उन्होंने साहित्यिक विश्लेषणकी सरंचनात्मक पद्धतियों पर डॉ रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव जैसे नए चिन्तको के लेख प्रकाशित किए मूल्याकन

आलोचना का एक अधिक महत्वहपूर्ण स्तम्भ नामवर सिंह के सम्पादन काल मे बना। जिन कृतियों को नामवर सिंह अधिक महत्वपूर्ण मानते रहे हैं उस पर उन्होंने एकाधित समीक्षाएं प्रकाशित की। इसी प्रकार उन लेखकों को जिनको वे महत्वपूर्ण मानते हैं उनके द्वारा ही अधिक से अधिक मूल्यांकन कराने की कोशिश की। इसके लिए उन्होंने अपने पहले ही सम्पादकीय वक्तव्य मे स्पष्ट कर दिया कि–कृतियों का मूल्यांकन का काम एक सुगठित लेख मण्डल द्वारा कराया जायेगा। प्राय: उन्हें वही पुस्तकें महत्वपूर्ण लगीं जो असहमति का स्वर लेकर आती हैं। बिष्णु खरे की पुस्तक 'आलोचना की पहली किताब' निश्चय ही आलोचना की महत्वपूर्ण पुस्तक नहीं है, पर वह बहुत तीखी और विवादास्पद है। अत: उसे मूल्यांकन के लिए चुना गया। कहा जा सकता है कि इस कालावधि में 'आलोचना' भी एक प्रकार की संस्था बन गई। जो लेखक उसमे अधिक प्रकाशित हुए वे ही उसके मूल उद्देश्य की पूर्ति में सहायक भी हुए।

पूनर्मूल्यांकन

नामवर सिंह ने उन कृतियों का पुनर्मूल्यांकन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कराने का प्रयास भी किया, जो अपने समय में महत्वपूर्ण एवं विवादास्पद रहीं।

कुछ महत्वपूर्ण लेखों की चर्चा प्रासंगिक है। तारसप्तक, कामायनी एक असफल कृति, शुक्लोत्तर आलोचना, एक विश्लेषण, विश्वविद्यालयों के कवि 'प्रसाद', पहचान लीलाधर जगूड़ी के लिए, परिवेश : संस्कार और संवेदना हिन्दी कहानी के सन्दर्भ में एक अधूरे चरित्र नायक का अधूरा उपाख्यान शेखर आदि प्रमुख लेखों का मूल्यांकन डॉ. नामवर सिंह ने नये साहित्यिक प्रतिमानो के सन्दर्भ में कराने का प्रयास किया।

कामायनी को एक असफल कृति सिद्ध करते हुए इन्द्रनाथ मदान ने कई तरह के प्रश्नों को उठाया और यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वह एक असफल कृति है। कामायनी पर अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी द्वारा उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। मदान जी कहते हैं कि इसे कभी रूपकों के माध्यम से कभी चरित्रों के माध्यम से तो कभी आध्यात्मिकता, तो कभी मनोवैज्ञानिक आधार पर इसका मूल्यांकन होता रहा है लेकिन कामायनी को कामायनी के माध्यम से देखने का प्रयास करते हुए ये कहते हैं कि इसकी पहचान इसकी राह से गुजर कर हो सकती है और यह राह है–क्या, कैसे और किस तरह का है।'(१)

इन्द्रनाथ मदान ने इस महाकाव्य को साहित्य के हर कसौटी पर जाँचा है परखा है। मनोविश्लेषणात्मक, सौन्दर्य परक, समाजशास्त्रीय इत्यादि साहित्य के सभी अवधारणाओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। अन्त में निष्कर्ष के रूप में वे कहते हैं, "कामायनी में मिथक और लिरिकल में समन्वय नहीं हो पाया है। लिरिकल विधा में मिथक के सामंजस्य की सम्भावना तो होती है लेकिन रूपक विधा में इसकी असंगति रचना को असफल बना देती है। मनु का भाग जाना एक बात, उसे भगा देना आरोपित जान पड़ता है। यह आन्तरिक

(१) आलोचना ७ अक्टूबर पृ १८

संरचना की दृष्टि से आरोपित कामायनी का न होकर कवि का हो गया है। कवि इसे स्वतंत्र रूप में कह पाया है, कामायनी के माध्यम से असफल रहा है। एक को कामायनी में ऐतिहासिक चेतना या दिशा के खो जाने की चिन्ता है, दूसरे को आनन्दवाद के निरूपित होने की, तीसरे को कथा वस्तु बाधित होने की चौथे को नारी को श्रद्धा मानने की, पाँचवें को मिथक से स्वप्न मे छलांग लगाने की है। क्या इन चिन्ताओं से कामायनी की असफलता का खेद बड़ा नहीं है।"[१]

कामायनी की इतनी वृहत समीक्षा पहले कभी नहीं छपी तथा इतने विस्तृत भूमिका से उस पर विचार नहीं किया गया था। कामायनी के सन्दर्भ मे प्रकाशित सभी महत्वपूर्ण पुस्तकों को ध्यान में रखते हुए इन्द्रनाथ मदान ने इसकी यह समीक्षा प्रस्तुत की है।

बहुत से आलोचकों ने अपने समय की चर्चित एवं विवादास्पद कृति 'शेखर एक जीवनी' पर रचना एवं उसके रचनाकार के मूल्यांकन सम्बन्धी लेख लिखे लेकिन माहेश्वर जी के अनुसार, "इस कृति एवं इसके रचनाकार के मूल्यांकन को लेकर हिन्दी में कोई सन्तुलित और स्पष्ट मन्तव्य नहीं बन सका है। यह एक ओर तो आलोचकों की आत्मपरक, रोमानी एवं दुराग्रही दृष्टि का परिणाम था, तो दूसरी ओर अज्ञेय के प्रचारकों और प्रशंसकों–जिनमें अज्ञेय स्वयं भी शामिल हैं–की लफ्फाजी और योजनाबद्ध प्रवंचना का भी कम हाथ नहीं रहा है।"[२]

माहेश्वर जी ने इस चर्चित उपन्यास में कथा नायक शेखर को हर दृष्टि से जांचने का प्रयास किया है। वह भ्रष्ट देवता : शेखर, शेखर और सेक्स, शशि और शेखर, शेखर की प्रकृति, शेखर और राजनीति, शेखर का जीवन दर्शन तथा शेखर और अज्ञेय आदि शीर्षकों द्वारा इस उपन्यास के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि यह एक अधूरा उपाख्यान है। माहेश्वर जी के शब्दों में, "अज्ञेय की मानसिकता, रचनात्मकता और एक लेखक के रूप में उनके भावी विकास को, उनकी पूरी शक्ति और सीमा के साथ उद्‌घाटित करने वाली भी यही एक मात्र कृति है। इसके बावजूद यह एक अधूरी रचना है। इसका अधूरापन रचना के स्थूल पर ही नहीं, उसके सूक्ष्मतम स्तरों पर भी वर्तमान है।"[३]

इसी प्रकार पुनर्मूल्यांकन के अन्तर्गत रमेशचन्द शाह का लेख 'विश्वविद्यालयों के कवि 'प्रसाद' और नित्यानन्द तिवारी का शुक्लोत्तर आलोचना एक विश्लेषण प्रकाशित हुआ जिनमें प्रसाद और आचार्य शुक्ल के कृतित्व की समीक्षा की गई है। नामवर सिंह ने पुनर्मूल्यांकन स्तम्भ के द्वारा महत्वपूर्ण लेखकों, कवियों और आलोचकों के साहित्यिक अवदानों की समीक्षा करवायी है। इससे उन पर नये सिरे से विचार करने का सिलसिला आरम्भ किया।

अन्य गद्य विधाएं

डॉ. नामवर सिंह द्वारा सम्पादित आलोचना के अंकों में कविता से

(१) आलोचना नवांक ७, अक्टूबर ६८- पृ ३६
(२) नवांक २४ जनवरी ७३ पृ ८१
(३) वही पृ ८२

सम्बन्धित लेखों की प्रमुखता होने के कारण प्रायः हिन्दी की अन्य विधाए उपेक्षित सी रही हैं। आज तक के अकों में कुल मिलाकर ४० के आस पास गद्य स सम्बन्धित निबन्ध प्रकाशित हुए जिनमे १० नाटक सम्बन्धी, १० उपन्यास और १० के ही आस पास कहानियो पर भी समीक्षात्मक लेख प्रकाशित हुए।

नाटको से सम्बन्धित जो लेख प्रकाशित हुए है उनमे प्रमुख हैं—नाट्य समीक्षा—एक शिकायत, हिन्दी का नया नाटक साहित्य, नाट्यशास्त्र एवं साख्य दर्शन के भाव, नाट्यकला, काव्यकला रचनात्मक दृष्टि, एक चर्चित नाटक—सुखाराम बाइण्डर, नाट्याध्यापन परम्परा से अध्ययन की ओर, आधुनिक नाट्यालोचन, नाट्य समीक्षा—नये क्षितिज की खोज, प्रसाद—नाट्यालोचन के परिप्रेक्ष्य मे, अभिनेयता का प्रश्न और हिन्दी नाट्यालोचन की सीमाएँ, नाट्य रचना विधान और जीवन संदर्भ, भारतीय नाट्यसौन्दर्य आदि प्रमुख हैं।

उपन्यास से सम्बन्धित जो निबन्ध प्रकाशित हुए उनमें—उपन्यास मानवीय स्वतंत्रता का कथा बिम्ब, नागार्जुन के उपन्यास, उपन्यास और समय संदर्भ उपन्यास के पारस्परिक अवधारणा के स्वीकृति के बावजूद, जगदीश चन्द्र के उपन्यास, प्रेमचन्द के उपन्यास की कला, रंगभूमि एक राजनैतिक उपन्यास भारतीय भाषा में उपन्यास का उदय, हिन्दी आंचलिक उपन्यास बनाम लोक चेतना आदि प्रमुख हैं।

कहानी से सम्बन्धित जो लेख प्रकाशित हुए उनमें ये निबन्ध प्रमुख है—हिन्दी कहानी पर गार्डन रोडरमल के विचार, आधुनिक कहानी, हिन्दी कहानी का सातवाँ दशक नया जीवन बोध, नयी सोच तथा नयी मानसिकता कहानी परत दर परत, समकालीन कहानी, सरचना, अमरकान्त की कहानियॉ कहानी के बदलते समीकरण और अज्ञेय, हिन्दी कहानी का अजनबी संसार और मानवीय अस्तित्व का सकट, प्रेमचन्द की कहानियाँ, रेणु की कहानी तीसरी कसम आदि।

आलोचना में गद्य विधाओं को उतना महत्व नहीं दिया गया जितना कविता को दिया गया है। इन गद्य विधाओं को भी देखने का एक दृष्टिकोण रहा है।

नाटक समीक्षा में नाट्य कला एवं उसकी सैद्धान्तिक स्थापनाए आधारभूत चिन्तन, मान्यताओं, तथा अवधारणाओं का अध्ययन किया गया है। इस संदर्भ में डॉ. सत्येन्द्र कुमार की दो समीक्षाएं महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त नर नारायण राय की भी समीक्षाएं नाटक समीक्षा के क्षितिज की खोज में है। नाट्य क्षेत्र में आए हुए परिवर्तन को रेखांकित करते हुए नर नारायण राय ने लिखा है, "हर युग में, जब जब युग विशेष के जीवन मूल्यो को नाटको मे सुरक्षित किया जाता रहा होगा—तदनुरूप आलोचना शैली का निर्माण होता रहा होगा। नाट्य रचना के क्षेत्र में अब तक एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ चुका है। हालांकि यह क्रान्तिकारी परिवर्तन अन्य साहित्य रूपों की तुलना में काफी विलम्ब से हुई क्रान्ति माना जाता रहा है। नये नाटकों के आविर्भाव के साथ नयी नाटय समीक्षा की जरूरत महसूस की गई। नये जीवन मूल्यों, युगसत्यो और कला मूल्यो को लिखे जा रहे इन नये नाटको की के लिए एक नयी नाटय समीक्षा शैली की माग उचित थी इस माँग को पूरी करने

की कोशिशे की गई हैं।"(१)

नाट्य–समीक्षा के रूप मे 'काव्य–समीक्षा' की दृढ़ परम्परा और रग समीक्षा के रूप में एकागी समीक्षा शैली की एकागिकता, अपूर्णता अब गम्भीरता से अनुभव की जाने लगी है और बल दिया जाने लगा है कि समीक्षा की सिर्फ एक ही रूप हो, जिसमें दृष्टियाँ दो काम कर रही हों। एक साथ एक आँख नाट्य के काव्यत्व पर और दूसरी उसकी दृश्यत्व पर केन्द्रित हो। यह तभी सम्भव होगा जब इस पर समीक्षक अपना विचार प्रस्तुत करें।

नाट्य समीक्षा के नए रूपों पर न्र नारायण राय नें विस्तृत रूप से विचार किया है। इन निबन्धों में नाट्य–समीक्षा के लिए नये क्षितिज की खोज की गई है।

उपन्यास के सम्बन्ध में जो आलोचाएं छपी हैं उनमें नवल किशोर मधुरेश, राजेन्द्र यादव, परमानन्द श्रीवास्तव, गोपाल राय की समीक्षाएं उपन्यास के उन महत्वपूर्ण पहलुओं को रेखांकित किया है जो उपन्यास तत्व के आधार पर महत्व रखती हैं।

'उपन्यास : मानवीय स्वतंत्रता का कथाबिम्ब' शीर्षक में नवल किशोर ने यह स्वीकार किया है कि "लेखक भाषा के सर्जनात्मक प्रयोग द्वारा स्वातन्त्र्य मूलक मानवीय रचनात्मकता को प्रकट करता है। विगत दो सौ वर्षों से इस रचनात्मकता का केन्द्रीय साहित्य–रूप उपन्यास रहा है जो विश्व की कल्पना प्रसूत संस्कृति को बुर्जुआ अथवा पूंजीवादी सभ्यता की सबसे महत्पूर्ण देन है। उपन्यास को जटिल वास्तविकता के चित्रण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम माना गया है।"(२)

नवल किशोर ने यह स्पष्ट किया है कि बड़े उपन्यासकार क्यों पढ़े जाते है। उन्हीं के शब्दों में, "मात्र योगशीलता अपने आप में उपन्यास को वह सामर्थ्य नहीं देती जिसके कारण वह ज्वलन्त मानवी समस्याओं का साक्षात्कार बनता है। बड़े उपन्यासकारों की यह विशेषता रही है कि वे केवल कलात्मक सभावनाओं में ही परिवर्तन नहीं करते, वे मनुष्य की चेतना–मानवीय सम्भावनाओ के अभिज्ञान को उन्नत करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। बडे उपन्यासकार इसलिए ही नहीं पढ़े जाते रहे हैं कि वे प्रतिभा–पुरुष थे, पर इसलिए भी कि आत्मीय जीवन और सामाजिक समस्याओं के बारे में अनिवार्य महत्व की कुछ बातें कहने को उनके पास थीं।"(३)

हिन्दी उपन्यास के भविष्य के विषय में राजेन्द्र यादव ने उपन्यास की उपलब्धि और उसकी शक्ति क्षमता के महत्व को रेखांकित किया है। साथ ही इन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि, "आज कल के बाजारू लेखकों में बहुत ऐसे लेखक हैं जो अपनी सस्ती और ओछी उपलब्धि पर चमत्कृत होकर सन्तुष्ट हैं। न उनके पास ऐसी दृष्टि या कल्पना क्षमता है न कल्पनाशक्ति। फिर भी उद्योगों, राजनैतिक कार्य पद्धतियों, धार्मिक दुकानदारियों या सामाजिक, राजनैतिक अपराधों या विभिन्न प्रोजेक्टों पर उपन्यास लेखक के कुछ प्रयास इधर दिखाई

(१) आलोचना नवांक ४२, जुलाई ७७, पृ. ७३
(२) आलोचना नवांक २० जनवरी ७२ पृ ३८
(३) वही पृ ४१

देने लगे हैं। राजेन्द्र यादव ने यह महसूस किया है कि बात पुरानी है मगर नये सिरे से महसूस होती है कि हम लोग शायद यह दृष्टि या दृष्टिकोण विकसित नही कर पाये है जा व्यक्तिगत अनुभवों को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य दे सके।"(१)

अन्त मे उनका मानना है कि "बिल्कुल यह जरूरी नहीं है कि वृहदाकार या बडे उपन्यासों में ही ऐसा गुण हो कि अपने निजी अनुभव औरो तक पहुँचे और वह समग्र का हो जाय, बल्कि बड़े नहीं छोटे उपन्यासों के माध्यम से ही ऐसा होना उसकी गहनता और संश्लिष्ट नुकीलेपन को अपेक्षाकृत अधिक तीव्र सार्थकता से सम्प्रेषित कर पाता है। इसलिए फिलहाल उपन्यास का भविष्य क्लासकीय ढंग से पुराने महाभारतकार उपन्यासों में नहीं, छोटे नुकीले और देखने में इकहरे लगने वाले उपन्यासों में ही तलाशना होगा।"(२)

महाकाव्य और उपन्यास की चर्चा करती हुई बीना श्रीवास्तव कहती है कि उपन्यास एवं महाकाव्य की कतिपय विशेषताओं के आधार पर कुछ विद्वानो ने उपन्यास को 'आधुनिक युग का गद्यमय महाकाव्य तथा महाकाव्य को पद्यमय उपन्यास कहा है। दोनों में कुछ ऐसी समानाताएं दृष्टिगोचर होती हैं जिससे वे एक दूसरे के निकट आती हुई प्रतीत होती हैं। बीना श्रीवास्तव उपन्यास के लिए यथार्थता का गुण आवश्यक मानती है। उन्हीं के शब्दों मे, "कविता यथार्थ की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़कर भी जा सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थवाद प्राण है। उपन्यास किसी देश के साहित्यिक विचारों की प्रगति को समझने के उत्तम साधन माने जाते हैं क्योंकि जीवन की यथार्थताए ही उपन्यास को आगे बढाती हैं।"(३)

इस तरह हम देखते हैं कि उपर्युक्त उपन्यास समीक्षाओं के द्वारा हिन्दी उपन्यास के महत्व और उनके नये रूप विधान को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

कहानी से सम्बन्धित जो भी समीक्षाएं छपी हैं उनमे आधुनिक एव समकालीन कहानी तथा कहानीकारों की उपलब्धियों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। 'समकालीन कहानी संरचना' शीर्षक लेख में श्रीमती जगन सिह ने कहानी के संरचनात्मक ढॉचे को बड़ी गहराई से देखने का प्रयास किया है। इनका कहना है, "सरंचना से अभिप्राय कथ्य और शिल्प का वह संश्लिष्ट रूप है जो कहानी के सम्पूर्ण भीतरी और बाहरी रूपों का निर्माण करता है। उसके सम्पूर्ण प्रेम को बाहर से भीतर एक ग्रन्थित करता है। इस तरह कहानी की संरचना उसकी भीतरी यात्रा भी और बाहरी बुनावट भी है। कथाकार की कला चेतना भी इसी में समाहित होती है और उस चेतना को प्रस्तुत करने वाला ताना बाना भी। इसी कथाकार की अनुभूति और चिन्तन सौन्दर्यात्मक रूपाकार में रचानान्तरित होते हैं।"(४)

समकालीन कहानी परम्परागत मूल्यों को ढोने अथवा नवीन मूल्यों की स्थापना का आग्रह नहीं करती बल्कि अपने चारों ओर व्याप्त विसंगतियो

---

(१) आलोचना नवांक ४७, अक्टूबर ७८, पृ. २४
(२) वही, पृ. २४
(३) आलोचना नवांक ४५, अप्रैल ७८, पृ. ७६
(४) ४१ अप्रैल ७७ पृ ६१

आवेश और संत्रास को गहराई में उतर कर व्यक्त करती है। "आज का कथाकार शिल्प को कहानी पर आरोपित नही करता। कहानी अपने कथागत अलंकरणों का परित्याग करके अपन प्राकृतिक रूप में सामने आयी है। आज की कहानियाँ महज सामान्य व्यक्ति के जीवन की सामान्य सी घटनाएं है, परन्तु आधुनिक शहरी और ग्राम्य परिवेश के भीतर मानसिक यन्त्रणा से छटपटाते व्यक्ति की वेदना को पर्त दर–पर्त उधेड कर रख देती है।"(१)

समकालीन कहानी यथार्थ की प्रामाणिकता पर बल देती है, इसलिए कहानी ने यथार्थ के प्रति लेखकीय तटस्थता अथवा निर्वैयक्तिक दृष्टि का विकास किया है। आज अब वह सामाजिक आदर्शों का निरूपण करने के स्थान पर तटस्थ भाव से वस्तु स्थिति को पाठक के सामने रखता है।

कथाकार बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से कहानी के भीतर निहित साकेतिकता के अर्थ के विभिन्न स्तरो पर व्यक्त करता है। साहित्य में बिम्बो और प्रतीको मे विशेष अंतर नहीं होता। बिम्ब प्रतीकों का निर्माण करते है और प्रतीक बिम्ब का। हाँ, प्रतीक से जो बिम्ब बनता है वह एक निश्चित अर्थ–संकेत देता है। समकालीन कहानी की सांकेतिक प्रभावान्विति बिम्बों और प्रतीकों पर टिकी हुई है।

समकालीन कहानीकार भोगे हुए यथार्थ को ज्यों का त्यो कहानी में नही उतारता। वह अपनी बात संकेतो के माध्यम से व्यक्त करता है। सांकेतिकता की नियोजना प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों में भी की गई है।

समकालीन कहानी का सर्वेक्षण करते हुए श्रीमती जगन सिंह ने प्रमुख कहानीकारों को सामने रखी है उनमें मोहन राकेश, भीष्म साहनी, उषा प्रियंवदा रेणु, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी रामदरश मिश्र आदि इन प्रमुख रचनाकारों की रचनाओं को ध्यान में रखते हुए समकालीन कहानी के महत्व को रेखांकित किया।

रमेश तिवारी ने अपने 'हिन्दी कहानी (सातवें दशक की) को विवेचन क्रम मे समकालीन कहानी के नये जीवन बोध, नई सोच तथा नई मानसिकता को रेखांकित किया है। सातवें दशक की तमाम कहानियों मे व्यर्थता–बोध व्यक्त हुआ है जो अन्ततः आदमी को निष्क्रियता की स्थिति में पहुँचा देता है जहाँ पहुँचकर आज मनुष्य अपने को निहायत कमजोर कायर और असहाय महसूस करने लगता है और एक कुछ भी नहीं करने की विवशता में कैद हो जाता है। रमेश तिवारी के शब्दों में, "भारतीय जीवन तथा उसके विभिन्न क्षेत्रों में तथा सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों मे जो मूलभूत परिवर्तन १९५८–६० के आस पास लक्षित होता है उसने साहित्य तथा कला को भी बहुत कुछ प्रभावित किया है–विशेषकर हमारे कहानी तथा उपन्यास साहित्य को तो उसने सर्वाधिक प्रभावित किया है, यही कारण है कि यह परिवर्तन जीवन बोध नई सोच और नई मानसिकता–सातवें दशक के कथा–साहित्य में सबसे अधिक दृष्टिगत होती है।"(२)

(१) आलोचना नवांक ४१, अप्रैल ७७, पृ. ६१
(४) नवाक २३ अक्टूबर ७२ पृ ६२

विशेषाक

'आलोचना' पत्रिका ने समय–समय पर महत्वपूर्ण विशेषांक निकाले। पहले ये विशेषांक विधागत निकला करते थे। नामवर सिंह ने आलोचना मे किसी व्यक्ति विशेष के ऊपर विशेषांक निकालने का क्रम चलाया और अब तो करीब–करीब हर पत्रिका व्यक्ति केन्द्रित विशेषांक निकालने लगी है। लेकिन सर्वप्रथम व्यक्ति केन्द्रित विशेषांक निकालने का श्रेय नामवर सिंह को ही जाता है।

नामवर सिंह अपनी पत्रिका के लिए विशेषांकों के चुनाव में बहुत सतर्क प्रतीत होते हैं। जो भी विशेषांक निकले हैं उन पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि ये विशेषांक योजनाबद्ध तरीके से निकाले गए हैं। इनके चुनाव के पीछे नामवर सिंह का व्यक्तिगत दृष्टिकोण काम करता है।

विशेषांकों में कुछ इस प्रकार हैं : हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध, गालिब, प्रगतिशील आन्दोलन, हजारी प्रसाद द्विवेदी (दूसरी बार) प्रेमचन्द नागार्जुन, रामविलास शर्मा, समीक्षा अंक, उपन्यास अंक, मार्क्स अंक आदि।

इन विशेषांकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग अपने विचारों मे प्रगतिशील है, यथार्थवादी हैं उन्हीं को ज्यादे महत्व दिया गया है। इन विशेषांको के द्वारा उन व्यक्तियों की विशेषताओं को रेखांकित किया गया है और उसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है।

हम यहाँ विशेषांकों में विश्लेषित मुख्य–मुख्य निबन्धों को देखने का प्रयास करेंगे।

अपने संपादन में 'आलोचना' के दूसरे अंक को ही डॉ. नामवर सिंह ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी स्मृति विशेषांक के रूप में निकाला। इसमें आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक मान्यताओं, विशेषताओ को रेखांकित किया गया है।

मुक्तिबोध विशेषांक

मुक्तिबोध की इक्यानवीं जन्म तिथि पर विशेषांक निकाला गया। इसमे 'मुक्तिबोध की कविताएं', समीक्षाएं एवं पुस्तकों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विस्तृत मूल्यांकन किया गया है। मुक्तिबोध की कविताओं पर नामवर सिंह ने अपना विचार प्रस्तुत करते हुए मुक्तिबोध की तुलना वर्तोल्त ब्रेख्त से करते हुए कहा, "ब्रेख्त अपनी कविता में वास्तविकता ढंकने वाले राजनैतिक माया प्रतीको का या मिथकों को अनावृत किया वहीं दूसरी ओर लोगों में वास्तविकता को पुनर्जागृत किया। यदि वे सरल समाधान से सन्तुष्ट नहीं हुए तो प्रश्न भी उन्होंने सरल ढंग से नहीं पूछे। हर सवाल दुधारा था जिसकी एक धार पर हमेशा कवि अपने आप को रखता था। वह ईमानदारी, वह समझदारी और यह जिम्मेदारी ही कवि की श्रेष्ठता के मूल मंत्र हैं और इस दृष्टि से मुक्तिबोध भी हमारे लिए सर्वथा प्रासंगिक हैं।"[१]

मुक्तिबोध की सार्थकता (श्रीकान्त वर्मा) और मुक्तिबोध और अज्ञेय के काव्य बिम्ब (रणजीत, इरसाद और अब्दुल) ये दो लेख मुक्तिबोध की विशेषताओ

(१) ६ जुलाई ६८ पृ ७

को रेखांकित करते हैं। श्रीकान्त वर्मा के अनुसार, "मुक्तिबोध का साहित्य भी विशिष्ट संदर्भों का साहित्य है। ये संदर्भ हैं वे तमाम प्रश्न जो कि मुक्तिबोध ने अपने समूचे साहित्य, कविता, कहानी और डायरी में उठाये हैं। जिनके लिए ये सवाल महत्वपूर्ण नहीं उन्हें स्वाभाविक है, मुक्तिबोध का साहित्य भी महत्वपूर्ण नहीं लगेगा। मगर इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि जिन्हें ये सवाल सगत नहीं लगते स्वयं उनकी संगति क्या है ? या तो ये प्रश्न असंगत हैं या इन प्रश्नो को असंगत मानने वाले आलोचक अध्येता कवि असंगत हैं।"(१)

हरिशंकर परसाई उनके बारे में कहते हैं, "मुक्तिबोध जिन्दगी भर बीमारी से लड़कर जीत गए थे। बीमारी ने उन्हें मार दिया पर तोड़ नहीं सकी। मुक्तिबोध का फौलादी व्यक्तित्व अन्त तक वैसा ही रहा। जैसे जिन्दगी में किसी से लाभ के लिए समझौता नहीं किया, वैसे मृत्यु से भी कोई समझौता करने को वे तैयार नहीं थे। वे मरे पर हारे नहीं। मरना कोई हार नहीं होती।"(२)

गालिब विशेषांक

इसी प्रकार गालिब विशेषांक में गालिब की महत्ता विभिन्न लेखों द्वारा रेखांकित किया गया है। ख्वाजा अहमद फारुखी के शब्दों में, "गालिब असाधारण व्यक्तित्व के व्यक्ति थे उनकी महानता का रहस्य उनकी तबीयत की रंगारंगी, उनके मोहक व्यक्तिवाद, उनके मानव प्रेम और सर्वात्रयी सर्व व्यापकता में छिपा हुआ है। वह महान कवि होते हुए भी भरपूर इंसान थे। उनकी निर्भीकता, सत्यनिष्ठा, मौजमस्ती, संस्कारी अनुराग और उनकी विनोद प्रियता उर्दू साहित्य की सबसे बड़ी पूंजी है। गालिब का व्यक्तित्व गरिमा–मंडित और सम्मान्य मात्र नहीं बल्कि वह हमारे साहित्य की सबसे अधिक अन्तरंग हस्ती हैं।"(३)

मिर्जा अपना रास्ता स्वयं तय करते हैं। गालिब ने शायरी ही को नया रग और स्वर साज नहीं दिया, आधुनिक उर्दू गद्य की बुनियाद रखने का श्रेय भी उन्हीं को है। गालिब को गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार था, ऐसे कला वैशिष्ट्य, ऐसी महत्ता सामान्य बात नहीं। काव्य में गालिब की विलक्षण प्रतिभा की देन अपनी जगह निश्चय ही शाश्वत मूल्य की है।

गालिब की आधुनिकता पर विचार करते हुए अहमद हुसेन ने लिखा है "गालिब का आधुनिक मस्तिष्क, उनकी अविलम्ब निर्वाचन करने वाली प्रौढ आलोचनात्मक चेतना केवल 'इंसान शनासी' तक सीमित नहीं थी जिस पर उन्हे गर्व था बल्कि उससे बहुत व्यापक थी और दोस्त–दुश्मन, अच्छे–बुरे ही में नही बल्कि कला और अकला, सुन्दर और असुन्दर में भी स्पष्ट विश्लेषण करती थी। मगर अन्त में उसकी विशेष शक्ति वही थी, मानव की पहचान, जिसका गालिब ने दावा किया है।"(४)

---

(१) आलोचना नवांक ६, जुलाई ६८, पृ. ५६
(२) आलोचना नवांक ८, जनवरी ६६, पृ. ७
(३) वही, पृ. २५
(४) आलोचना नवांक ८ जनवरी ६६ पृ २५

द्विवेदी स्मृति अंक

विशेषांकों के क्रम में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के दिवंगत होने पर एक विशेषांक निकला। इस अंक मे उनकी पुण्य स्मृति के अवसर पर विभिन्न दृष्टि के लोगों से आचार्य द्विवेदी का मूल्यांकन कराया गया है। निर्मल वर्मा अपनी चिन्तन प्रक्रिया से गुजरते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी के रूप में एक ऐसे आधुनिक भारतीय के दर्शन कराते हैं जो जाने कितने दुर्गम रास्ते से अपनी खण्डित चेतना का अतिक्रमण करता है, अपनी जातीय स्मृति की सलवटों से उस देवता की मूर्ति निकालता है जिस पर पिछले दो सौ वर्षों के इतिहास की काई जमा होती गई है। जो मूर्ति भी है और आईना भी, जिसमें वह अपना साक्षात्कार करता है।

निर्मल वर्मा कहते हैं, "आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सही अर्थों मे आधुनिक थे, क्योंकि अतीत की सब छलनाओं और इतिहास की मरीचिकाओं से मुक्त थे–वह सही अर्थों में हिन्दू भी थे–ऐसे ब्राह्मण जिन्होंने हिन्दुत्व की बहुविधि प्रेरणाओं से मनुष्य का सत्य निचोड़ा था। आधुनिकता और हिन्दुत्व इन दोनों के मेल से वह प्रामाणिक अर्थ में भारतीय बने। उनकी दृष्टि में 'भारतीयता वर्तमान के पासपोर्ट पर कोई बनी–बनायी विरासत नहीं थी, जिसे हम अतीत से पा लेते हैं–वह एक ऐसा मूल्य थी, जिसे हर पीढ़ी को अपने समय में अर्जित करना पड़ता है।"[१]

नन्द किशोर नवल ने प्रगतिवाद के साथ द्विवेदी के सम्बन्ध का तथ्यपूर्ण विवेचन करते हुए प्रमाणित किया है कि, "द्विवेदी जी की सफलता इस बात मे है कि उन्होंने प्रगतिवाद को ठीक–ठीक समझकर उसका मूल्यांकन किया और प्रगतिवाद की सार्थकता इस बात में है कि उसने द्विवेदी जी जैसे आचार्यों को भी समाज और साहित्य–सम्बन्धी विचारों को प्रभावित किया। आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व के बिना उनके विचारों का परिचय अधूरा ही रहेगा। डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने अपनी प्रकृति के अनुरूप द्विवेदी जी को 'कालजयी अवधूत' के रूप में देखा है।"[२]

डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने अपनी ऐतिहासिक दृष्टि के अनुरूप इस युग के रिनेसाँ पुरुष के रूप में आचार्य द्विवेदी को देखने का प्रयास किया है। पुण्य स्मृति के अवसर पर निकाले जाने के कारण इस विशेषांक का स्वर विशेष आत्मीयतापूर्ण हो गया है।

प्रगतिवाद विशेषांक

प्रगतिवादी आन्दोलन के मूल्यांकन के लिए एक विशेषांक निकाला गया जिसमें प्रगतिवाद से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण लेखकों से इसका सिंहावलोकन कराया गया है। स्वयं नामवर सिंह ने इस पर एक संवाद का आयोजन कर इससे सम्बन्धित लेखकों से इसके विभिन्न पहलुओं पर विचार कराया है। इसमे प्रगतिवाद, मूल्य और आन्दोलन नए संदर्भ में, प्रगतिशीलता का अर्थ : सर्वहारा से सम्भावनात्मक तादात्म्य, प्रगतिशील आन्दोलन : जातीय संस्कृति के तत्व

(१) आलोचना नवांक ४६–५० अप्रैल ७६ पृ ७

(२) वही पृ २

प्रगतिवादी लेखन की भूमि, प्रगतिवादी युग व्याप्त तथा अन्तर्विरोध, प्रगतिशील कतिवा का कार्य, आदि प्रमुख लेख हैं जो प्रगतिवाद के महत्व को एवं सार्थकता को रेखांकित करने में सहायक है।

प्रेमचंद स्मृति अंक

आलोचना ने उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द के जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में प्रेमचन्द स्मृति अंक निकालकर प्रेमचन्द को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। इस अंक में प्रेमचन्द के उपन्यासों, कहानियों को दृष्टि में रखकर विद्वान लेखकों द्वारा प्रेमचन्द की प्रासंगिकता को विश्लेषित किया है।

"प्रेमचन्द का नाम भारतीय साहित्य सृजन के नये और क्रान्तिकारी मोड के साथ जुड़ा रहेगा। प्रेमचन्द द्वारा लायी गयी क्रान्ति साहित्य के विषय वस्तु सम्बन्धी पक्ष में उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी साहित्य के कलात्मक पक्ष मे। विषय वस्तु को यथार्थवाद की ओर ले जाने का उतना ही बड़ा श्रेय प्रेमचन्द को है जितना यथार्थवादी विषय–वस्तु के अनुकूल एक यथार्थवादी शिल्प, शैली और भाषा के सृजन और निखर का। प्रेमचन्द के महत योगदान को इस कथन द्वारा समझा जा सकता है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द की वही भूमिका रही है जो भारतीय राजनीति के इतिहास में मोहनदास करमचन्द गांधी की।"[१]

जिस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक संघर्ष मे योग दिया, उसी प्रकार अपने कला और साहित्य सम्बन्धी विचारों के माध्यम से भी। उनके साहित्य और सौन्दर्य शास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है लेकिन उनके सौन्दर्य शास्त्र की विशेषता यह है कि वह उन्हीं के साहित्य के लिए सार्थक न होकर साहित्य मात्र के लिए सार्थक है।

खगेन्द्र ठाकुर ने प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता पर विचार करते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्रेमचन्द ने प्रगतिवाद को अपने विचारों, अपनी लेखनी तथा श्रम से पुष्ट किया है। उन्हीं के शब्दों में,"प्रगतिशील आन्दोलन को वैचारिक सांगठनिक दिशा एवं शक्ति देने के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने अधिक शक्ति दी अपने रचनात्मक लेख के जरिए। उनका सम्पूर्ण कथा साहित्य प्रगतिशील मूल्यो का विनियोग प्रस्तुत करता है। उन्होंने सामाजिक यथार्थवादी साहित्य को जो कलात्मक ऊँचाई प्रदान की है उससे आज सम्पूर्ण भारतीय समाज गर्व कर रहा है।"[२]

नागार्जुन विशेषांक

उपन्यासों की कडी में जन कवि नगार्जुन की सत्तरवीं वर्षगांठ पर विशेषांक निकाला गया जिसमें नागार्जुन के महत्व को, उनकी कविता को एव उनके अदम्य साहस को रेखांकित किया गया है। नामवर सिंह अपने सम्पादकीय लेख में कहते हैं कि सारे प्रयोगवादियों ने जितने प्रयोग किए हैं उनकी तुलना मे अकेले नागार्जुन के प्रयोगों की प्रचुरता की प्रशंसा की। उन्हीं के शब्दों मे

(१) ५१-५२ अक्टूबर ७६ पृ ८
(२) नयांक ५२ अक्टूबर ७६ पृ ६२

"प्रयोगवादियों ने तो प्रयोग का नारा भर दिया था, वस्तुतः अकेले नागार्जुन ने कविता के रूप विधान में जितने प्रयोग किए हैं, सारे प्रयोगवादी मिलाकर भी उसका दशमांश कर दिखाने मे असमर्थ साबित हुए है। कविता में वाचिक परम्परा का गुणगान करने वाले और हैं जब कि नागार्जुन से यह वाचिक पराम्परा पुनर्जीवित हुई है बेहतर रूप मे।"(१)

नागार्जुन की कविताओं को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास डॉ केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, विष्णु खरे, अरुण कमल ने भी किया है। नागार्जुन की वर्ग प्रतिहिंसा कविता में व्यंग्यों के रूप में प्रकट हुई है और बिना सकोच के कहा जा सकता है कि कबीर के बाद हिन्दी में नागार्जुन से बडा दूसरा व्यंग्यकार पैदा नहीं हुआ। शासक वर्ग का कोई तबका इनके व्यंग्य की मार से बच नहीं पाया है। व्यंग्य का विषय ही विविध नहीं व्यंग्य के काव्य रूप भी विविध हैं। नागार्जुन के ये व्यंग्य भारतीय जनता के प्रखर राजनैतिक चेतना के साथ ही उसके सहज बोध और जिन्दादिली के ही अचूक प्रमाण हैं।

विष्णु खरे ने 'हिन्दी का वाल्टविटमैन' शीर्षक लेख में नागार्जुन का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, "प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का, जन--जन में जो उर्जा भर दे, मैं उद्‌गाता हूँ उस रवि का---यही वह आक्रोश है जो नागार्जुन को जनकवि बनाता है। भारत के करोड़ों भूखे, प्यासे, बेआसरा आदमी, औरतों और बच्चों के पक्ष की यह प्रतिहिंसा उन्हें बुद्ध कबीर तथा अन्य सन्त कवियों निराला तथा मुक्तिबोध की पंक्ति में कालजयी स्थान देती है।"(२)

डॉ. रामविलास शर्मा विशेषांक

आलोचना का ६०--६१ वां अंक प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक एवं प्रखर विचारक डॉ. रामविलास शर्मा की सत्तरवीं वर्षगांठ पर विशेषांक के रूप मे निकला। इस अंक में डॉ. रामविलास शर्मा के कृतित्व का विशेष रूप से मूल्याकन किया गया है और हिन्दी साहित्य में उनके योगदान को रेखांकित किया गया है। नामवर सिंह अपने सम्पादकीय में लिखते हैं, "डॉ. रामविलास शर्मा अपनी साहित्य साधना के सर्वोच्च शिखर पर हैं। जो उनकी सभी मान्यताओं से पूरी तरह सहमत नहीं है वे भी यह स्वीकार करेंगे कि डॉ. शर्मा अपने संघर्ष और साधना में अप्रतिम हैं। प्रगतिशील आलोचन के अग्रदूत होने के साथ ही वे हिन्दी जाति के प्रतिनिधि समालोचक हैं और इस हैसियत से समूचे भारतीय साहित्य के विकास में उनका योगदान अन्यतम है। उनके संघर्ष और साधना हमारे लिए सतत प्रेरणा के स्रोत हैं और अतुलनीय उपलब्धियाँ अभिनन्दनीय हैं।"(३) डॉ. रामविलास शर्मा की 'भारत के प्राचीन भाषा--परिवार और हिन्दी' के सम्बन्ध में नामवर सिंह का विचार है कि, "यह ग्रन्थ भारत के समस्त भाषा परिवारों का अभूतपूर्व विश्वकोश है--ऐसा भाषा कोश हिन्दी में तो है ही नहीं, किसी अन्य देशी या विदेशी भाषा में होगा या नहीं, हमें नहीं मालूम। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जो कार्य भारत के इतने सारे सुविधा सम्पन्न भाषा

विज्ञान मिलकर भी नहीं कर पाये, डॉ. शर्मा ने तनहा अपने बूते उसे सम्पन्न कर दिखाया।"(१)

इसी प्रकार 'राम की शक्ति पूजा' की समीक्षा तो बहुत से आलोचको ने की है परन्तु जो समीक्षा डॉ रामविलास शर्मा ने की है और उसमें इस कविता के स्थापत्य का जैसा सूक्ष्म विवेचन हुआ है वह चालू फैशन के शैली विज्ञान वाले भाषिक विश्लेषकों के लिए भी चुनौती है। हिन्दी में किसी आधुनिक कवि के कला सौन्दर्य की ऐसी सूक्ष्म और समग्र समीक्षा कहाँ हुई है ?' (२)

शिवकुमार मिश्र डॉ. रामविलास शर्मा की दो पुस्तकें 'परम्परा का मूल्यांकन और 'भाषा युग बोध और कविता' की समीक्षा करते हुए लिखते हैं, "डॉ. शर्मा की ये दो पुस्तकें जो कि उनके पूर्ववर्ती निबन्धों को हमारे सामने लाती हैं किन्तु वे इस कारण नयी और महतवपूर्ण हैं कि उनमें जिन सवालों से निपटा गया है वे हमारी आज की साहित्यिक चिन्ता से, हमारी आज की सर्जनात्मक यात्रा से जुड़े हुए सवाल है। प्रगतिशील समीक्षा के लिए जो सवाल बन रहे है उसके लिए भी ये सवाल समान रूप से अहम हैं। ये किताबे उस व्यक्ति के अब तक के समीक्षात्मक कर्म का, उसकी चिन्तन प्रक्रिया का, उनके साहित्यिक तथा मानवीय सरोकारों का ज्वलन्त दस्तावेज हैं। जिसने अपने अब तक के जीवन का ' अधिकांश भाग, ईमानदारी और साहित्य की सर्जनात्मक तथा वैचारिक समृद्धि के लिए होम कर दिया, तथा जो आज भी समान निष्ठा तथा समान प्रखरता के साथ अपने इस ध्येय के प्रति अग्रसर हैं, और वह सब कुछ सामने लाने के लिए सक्रिय हैं, जिसे एक व्यक्ति क्या, सस्थाएं भी नहीं ला पातीं। समीक्षकों की प्रगतिशील पीढी ज्ञान की इस मशाल को आलोकित किये रहेगी यह हमारा विश्वास है।"(३)

डॉ. रामाविलास शर्मा की रचना 'कथा, विवेचन और गद्य शिल्प' की समीक्षा करते हुए गोपाल राय ने लिखा—"इस पुस्तक में डॉ रामविलास शर्मा का मार्क्सवादी आलोचक रूप उभरता है। वे घोषित रूप से प्रतिबद्ध आलोचक हैं पर उनकी प्रतिबद्धता पहले जनता के प्रति है, बाद में सिद्धान्तों के प्रति। मार्क्सवादी विचार धारा में उनकी निष्ठा इसलिए है कि वह आम जनता के हितो को सर्वोपरि समझते है। उनकी दृष्टि में वही साहित्य और साहित्यकार श्रेष्ठ है जो व्यापक जन समुदाय की आशा और आकांक्षा, सुख—दुख, प्रेम—घृणा आँसू—हँसी आदि को अभिव्यक्ति करता है और दलित शोषित मानवता की मुक्ति का सन्देश देता है। उनकी आलोचना एक दृष्टिकोण विशेष से जुड़ी होने पर भी सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों से अनुशासित है। 'रामविलास की यही खूबी है जो उन्हें आज एक श्रेष्ठ आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित किए हुए है।"(४)

मार्क्स विशेषांक

आलोचना का ७० वां अंक मार्क्स पर केन्द्रित अंक था। इस अंक मे

(१) आलोचना ६०-६१, जनवरी ८२, पृ. ४
(२) वही- पृ ४ क
(३) वही पृ १५०
(४) वही पृ १५७

कार्ल मार्क्स और हिन्दी साहित्य, मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएं, काव्यशास्त्र और मार्क्सवाद, मार्क्स के पॉच बीज शब्द आदि प्रमुख लेख हैं जिसमें मार्क्स की बढती हुई महत्ता को स्वीकार किया गया है। आलोचना मे मार्क्सवादी दृष्टि किसी साहित्य को देखने की अपनी विशेष दृष्टि है जिसके आधार पर उस रचना की सार्थकता, यथार्थता की परख और विश्लेषण किया जाता है।

सम्पूर्ण विशेषांकों पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिवादी दृष्टि को और पुष्ट और प्रौढ़ बनाने में आलोचना के इन विशेषांको का बहुत बड़ा योगदान है। इससे निश्चित रूप से प्रगतिवादी समीक्षा और अधिक धारदार हुई है। साथ ही विशेषांकों का वैविध्य साहित्य सृजन में जो कुछ महत्वपूर्ण घटित हो रहा है उसकी महत्ता के उद्घाटन के प्रति सम्पादक की सजग, सतर्क दृष्टि तथा दायित्व बोध का परिचय है।

प्रमुख समीक्षक

'आलोचना' पत्रिका की यह मुख्य विशेषता है कि सदा ही इसमें उच्चस्तरीय निबन्ध ही प्रकाशित होते रहे हैं। इसमें उन्हीं लेखकों का योगदान लिया जाता रहा, जिनकी दृष्टि साफ सुथरी और स्पष्ट हो। लेखकों आलोचकों के लिए यह पत्रिका प्लेटफार्म का कार्य करती है। समय-समय पर नये एवं युवा आलाचको को इसने प्रोत्साहित किया है और समीक्षा दृष्टि को साफ करने का अवसर दिया है। नये समीक्षकों में अरुण कमल, सुरेश शर्मा, अपूर्वानन्द, विजयमोहन सिह और गीता शर्मा आदि प्रमुख हैं।

स्थापित समीक्षक जो कि पत्रिका में हमेशा ही छपते रहे हैं उनमें प्रमुख है- डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ रमेश कुन्तल मेघ, अशोक वाजपेयी, परमानन्द श्रीवास्तव, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, रवीन्द्र श्रीवास्तव, मलयज, प्रयाग शुक्ल, कमलेश, रघुवंश, कुँवरनारायण, श्रीकान्त वर्मा, विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवकुमार मिश्र, विष्णुचन्द शर्मा, विष्णु खरे, नन्दकिशोर नवल, बागीश शुक्ल, मैनेजर पाण्डेय, गिरधर राठी, गोपाल राय, लीलाधर जगूड़ी, खगेन्द्र ठाकुर आदि।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे पूर्ववर्ती समीक्षक आलोचक रहे हैं जिनपर कि निबन्ध, लेख, समीक्षाएं छपती रहीं। उनमें-नागार्जुन, मुक्तिबोध, प्रेमचन्द, त्रिलोचन धूमिल, रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि रहे। इन समीक्षकों की मान्यताओ, आलोचना दृष्टि और पद्धति का विश्लेषण विगत पृष्ठों में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है।

कविता

नामवर सिंह ने 'आलोचना' पत्रिका को सर्जनात्मक बनाने का भी प्रयास किया। सर्वप्रथम इन्होंने ही इस पत्रिका में कविता को भी प्रकाशित करने का कार्यक्रम बनाया। इससे पहले के अंकों में कविता को जगह नहीं दी गई। इसी क्रम में इन्होंने विदेशी लेखकों की भी कविताएं प्रकाशित कीं। जिन विदेशी कवियों की कविताएँ प्रकाशित की गई उनमें प्रमुख हैं-आत्तिला योसेफ, स्तेफान मोराबस्फी, अलेक्सादेरसें कोविल्त, निकोलाई जिनोब्येब, बर्तोल्ट ब्रेख्त, पाब्लेनोरूदा आदोलेन स्मैकेल इत्यादि

इसके अतिरिक्त जिन भारतीय कवियो की कविताएँ प्रकाशित की गई उन कवियों में नए पुराने सभी वर्ग के अनेक प्रमुख नाम हैं–केदारनाथ सिंह धूमिल, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, श्रीकान्त वर्मा, प्रयाग शुक्ल, कैलाश वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी, मुक्तिबोध, विश्वनाथ त्रिपाठी, कुमार विकल, नाजिम हिकमत, विजयदेव नारायण साही, त्रिनेत्र जोशी, श्रीराम वर्मा कमलेश, श्यामकिशोर, परमानन्द श्रीवास्तव, विष्णुकान्त शास्त्री, ज्ञानेन्द्र पति मलयज, अतुल अरोड़ा, गोविन्द उपाध्याय, गिरधरराय, विष्णु खरे, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, सोमदत्त, नागार्जुन, कृष्णा सोबती, रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख हैं।

नामवर सिंह ने पुराने कवियों के साथ–साथ नये कवियों की भी कविताएं प्रकाशित करके उन्हें प्रोत्साहित करने का एक सराहनीय कार्य किया है। महत्वपूर्ण विदेशी तथा हिन्दीतर कवियों की भी रचनाओं का अनुवाद कराकर हिन्दी के क्षेत्र को और व्यापक बनाने की कोशिश की गई।

निष्कर्ष

डॉ. नामवर सिंह 'आलोचना' पत्रिका के अकेले ऐसे सम्पादक हैं, जिन्होने लम्बे समय तक इसके सम्पादन का गुरुतर कार्य किया और आज भी यह दायित्व वे उसी कुशलता के साथ सम्भाल रहे हैं। इनके सम्पादन काल मे 'आलोचना' पत्रिका को एक नया तेवर मिला। उन्होंने परिसंवाद स्तम्भ के अन्तर्गत तरह–तरह की साहित्यिक बहसें चलाईं जिनसे शीतल मन्द धारा के रूप में प्रवाहित हिन्दी आलोचना में वैचारिक संघर्ष का उफान पैदा हुआ। नामवर सिंह ने मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टिकोण को भारतीय संदर्भ में व्याख्यायित करने की सार्थक कोशिश की और मार्क्सवाद के कठमुल्ले विचारकों का विरोध भी किया। नामवर सिंह 'आलोचना' के पहले ऐसे सम्पादक हैं, जिन्होंने इसे निरी 'आलोचना' पत्रिका के स्थान पर सर्जना और 'आलोचना' को पत्रिका का रूप दिया। उन्होंने न केवल हिन्दी के चर्चित एवं महत्वपूर्ण कवियों की कविताओं को प्रकाशित किया बल्कि विश्व के समाजवादी, यथार्थवादी कवियो की कविताओं को प्रकाशित करके पत्रिका के माध्यम से विश्व के तमाम साहित्यिक आन्दोलनों और उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों से हिन्दी जगत को परिचित कराया और हिन्दी आलोचना को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान किया।

उपसंहार

समग्र आकलन

हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं के इतिहास में 'आलोचना' पत्रिका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। एक प्रकार से वह संस्थान बन चुकी है और उसने विगत चार दशकों के साहित्यिक परिदृश्य को बहुत गम्भीरता से प्रभावित किया है। एक ओर आलोचना पत्रिका का इतिहास विचार धाराओं के संघर्ष का इतिहास है तो दूसरी ओर आलोचना के सैद्धान्तिक अैर व्यावहारिक पद्धतियों के विकास का इतिहास है।

आलोचना का प्रकाशन वर्ष ५१ में प्रारम्भ हुआ था। तब सम्पादक थे श्री शिवदान सिंह चौहान, जिन्हें प्रगतिवादी आलोचक के रूप में विशेष मान्यता प्राप्त थी। शिवदान सिंह चौहान ने एक तरह से प्रगतिवादी आन्दोलन को और मजबूत बनाने के लिए इस पत्रिका का सहारा लिया। यद्यपि इसमें हर तरह के समीक्षात्मक लेख प्रकाशित किये गये किन्तु विशेष बल प्रगतिवादी समीक्षा पर ही दिया गया।

यह वह समय था जब आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं की चारों तरफ धूम सी मची थी। आचार्य शुक्ल की मृत्यु के पश्चात समीक्षा के क्षेत्र में एक अनिश्चितता सी आ गई। इसी समय प्रयोगवाद, प्रतीकवाद और प्रगतिवाद अपना-अपना रास्ता बना रहे थे। समाजशास्त्रीय आधार को लेकर प्रगतिवाद साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा पर बल देकर प्रगतिवादी आन्दोलन को सुनियोजित ढंग से साहित्य में घोषित करने का प्रयास करने लगा।

उस समय के विद्वान लेखकों के सहारे साहित्य में फैले गतिरोध को तोड़ने और उचित दिशा प्रदान करने के लिए एक तरह से संकल्प लेकर आलोचना पत्रिका साहित्यिक क्षेत्र में जन्मी जिन मानव मूल्यों को भुला दिया गया था उन्हे विश्व साहित्य के   से प्राप्त करने पर विशेष बल दिया

गया। उस समय प्रतीकवादियों ने साहित्य में दुर्बोधता, अस्पष्टता एवं अतिवादिता का जो प्रचार प्रसार करना आरम्भ किया था जिससे क्षुब्ध होकर शिवदान सिंह चौहान ने त्रिशकुओं का साहित्य कह कर इसका विरोध किया। साथ ही महान साहित्य रचना, आलोचना पर बल दिया और यथार्थवादी दृष्टिकोण विशेष को प्रमुखता प्रदान की। इनका कहना था कि महान साहित्य और कला निर्वित्य रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है।

यह स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद का समय था जब भारतीय व्यक्ति की तरह भारतीय साहित्य का भी अपने अतीत और समकालीन इतिहास से साक्षात्कार करना आवश्यक जान पड़ा। 'आलोचना' का महत्वूपर्ण इतिहास अक इस दृष्टि से उल्लेखनीय उदाहरण है। इसमें इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया। पर तब आलोचना अधिक उदार और व्यापक आदर्शों को लेकर चल रही थी उसमें दूसरी विचारधाराओं के लिए विरोध न था। उसमें साहित्य जगत की विभिन्न प्रवृत्तियों, भावधाराएं और विचार धाराएं एक साथ लक्ष्य की जा सकती थीं। यह स्थिति आगे नही रही।

उस समय इस पत्रिका में 'हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ देवराज, भगीरथ मिश्र और बच्चन सिंह आदि प्रमुख विद्वान लेखकों ने हिन्दी आलोचना प्राचीन साहित्य और साहित्यिक सिद्धान्तों से संबंधित विद्वत्तापूर्ण एव शोधपूर्ण सामग्री देकर आलोचना पत्रिका को प्रौढ़ बनाने का सफल प्रयास किया और साहित्य में व्याप्त गतिरोध को तोडकर स्थायी मूल्य के आलोचना साहित्य के निर्माण को ठोस आधार प्रदान किया। इसमें प्राचीन साहित्य को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसके महत्व को रेखांकित करने का भी प्रयास किया गया। इतिहास अंक उस समय काफी चर्चित एवं उपयोगी सिद्ध हुआ। इतिहास अंक के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है, "इधर हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लिखने और हिन्दी में साहित्य शास्त्र रचने की काफी चर्चा हुई है। इस चर्चा में दिल्ली की 'आलोचना' ने विशेष योग दिया है। हिन्दी साहित्य के नये इतिहास की आवश्यकता है। १६४० के बाद हिन्दी में जो साहित्य रचा गया है पिछले साहित्य स्तर पर जो रिसर्च का काम हुआ है, उन सबको समेटकर हिन्दी साहित्य का एक भरा पूरा इतिहास जरूर लिखा जाना चाहिए। आलोचना के सिद्धान्तों के बारे में हमारी जानकारी बढ़े, उनसे साहित्य को परखने और नया साहित्य रचने में सहायता मिले, यह भी वांछनीय है।"[१]

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने संदर्भ से यह पुष्ट किया है कि 'आलोचना पत्रिका के इतिहास अक में प्रकाशित हर निबन्ध बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

शिवदान सिंह चौहान ने अपने सम्पादन काल में सभी विधाओं से सम्बन्धित लेख प्रकाशित किया। प्राचीन कालजयी रचनाओं तथा रचनाकारों का मूल्यांकन कराया, साथ ही अर्वाचीन सिद्धान्तों तथा काव्य प्रवृत्तियों का भी अध्ययन, विवेचन, विश्लेषण विद्वान लेखकों द्वारा कराया। कबीर, सूर, तुलसी कालिदास, पन्त और प्रेमचन्द की महत्वपूर्ण काव्यगत विशेषताओं को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया तो साथ ही आधुनिक काव्य प्रवृत्तियाँ

(१) आ० शुक्ल और हिन्दी डॉ शर्मा पृ ३०

प्रगतिवद, प्रतीकवाद, छायावाद आदि की भी समीक्षाएं हुई।

जब 'आलोचना' के सम्पादक मण्डल में धर्मवीर भारती, ब्रजेश्वर वर्मा, रघुवश, विजयदेव नारायण साही जैसे नाम जुड़े तो आलोचना बिल्कुल भिन्न प्रकार की विचारधारा लेकर उभरी। इन आलोचकों ने मार्क्सवाद विरोध को अपना मुख्य लक्ष्य बनाया और वे शीत युद्ध की विचारधारा के प्रभाव में अन्तिम सीमा तक जाने वाले व्यक्ति स्वातंत्र्य, अकेलेपन, परजीवीपन, हताशा, कुण्ठा, सत्रास और मूल्यगत संक्रमण जैसे शब्दों और अवधारणाओं को लेकर एक ऐसी विचारधारा को प्रतिष्ठित करने लगे थे जिसकी जड़ें अपने यहाँ थी ही नही। उस समय की 'आलोचना' में प्रकाशित साही का लेख 'मार्क्सवादी समीक्षा की कम्युनिष्ट परिणति' इसका सटीक उदाहरण है। एक ओर ये सम्पादक विश्वविद्यालय शिक्षा की संस्थानगत स्थिति को आलोचना पत्रिका से समर्थन दे रहे थे तो दूसरी ओर वे प्रगतिशील विचाराधारा और मार्क्सवाद के विरुद्ध आक्रामक थे। उस समय की आलोचना पत्रिका में हिन्दी के जातीय गद्य का तिरस्कार भी दिखाई देता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा जैसे लेखकों के लेखों में प्रयुक्त हिन्दी गद्य अनुवाद की गन्ध के साथ मौजूद है। वह अंग्रेजी की जटिल विन्यास का अनुकरण भर है। फिर भी स्वीकार किया जा सकता है कि दुनिया की विभिन्न देशों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के संपर्क में हिन्दी पाठक आ सके ऐसा प्रयत्न आलोचना ने सुनियोजित ढंग से आरम्भ किया। यदि पहले के इतिहास अंक से बाद के उपन्यास अंक, आलोचना अंक की तुलना की जायेगी तो विचारधारा का अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई देगा।

इसके बाद आलोचना पत्रिका के सम्पादक नियुक्त किए गए डॉ. नन्द दुलारे वाजपेयी। जिनकी आलोचना दृष्टि स्पष्ट और प्रौढ़ थी। शुक्ल जी के बाद जो प्रमुख आलोचना पद्धतियां हैं जिसके प्रवर्तकों में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का नाम प्रमुख है। आचार्य वाजपेयी ने 'आलोचना' पत्रिका के माध्यम से स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रवृत्ति को अधिक स्पष्ट एवं मूल्यवान सिद्ध करने का प्रयास किया। आचार्य वाजपेयी का मार्ग समन्वयवादी मार्ग था जो मध्यवर्ग की सामान्य विशेषता है। उनका विचार था कि हमारा साहित्य नयी विचारधाराओ और नयी परिस्थितियों से प्रभावित होकर नए कला स्वरूपों से प्रकट होता और नयी शैलियों में ढला करता है। उसके विकास क्रम में विरोध के स्थान पर समन्वय का तत्व प्रमुख रहता है। विवादी स्तरों की अपेक्षा संवादी स्वरों की प्रधानता रहती है। वाजपेयी जी किसी भी आलोचना शैली को पूर्ण न पाकर सभी आलोचना शैलियों—विशुद्ध साहित्यिक, मार्क्सवादी, मनोवैज्ञानिक और प्रभावाभिव्यंजक में समन्वय स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु उनमें संघर्ष की बढती हुई स्थिति देखकर खेद पूर्वक कहते हैं "वर्तमान समय में इनके बीच विरोधी प्रवृत्तियो का हो रहा है मिलन की दूर दिखाई देती

विचार किया करते थे। इसे वाजपेयी जी ने आत्मनिष्ठ होना बताया है। उनकी दृष्टि में वस्तुनिष्ठ आलोचना वह है जो दृष्टिकोण विहीन होती है, यानी जो आलोचक की दृष्टि से नहीं, रचनाकार और उसके परिवेश की दृष्टि से लिखी जाती है।

बाजपेयी जी का कहना है कि हम आलोचना के क्षेत्र में बिल्कुल ठहरे हुए हैं। वाजपेयी जी अपना क्षोभ प्रकट करते हुए लिखते हैं, "हम समीक्षा के क्षेत्र में बिल्कुल ठहरे हुए हैं, अभी हमको आगे बढ़ना है। इसके लिए कवियो के जन–सम्पर्क का आग्रह किया जाय साथ ही आलोचना की तटस्थ अनुशीलन आरम्भ किया जाय जो साहित्यिक परम्परा के सहयोग, से अधिक से अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सके।"(१)

वाजपेयी जी उन आलोचकों की निन्दा करते हैं जो आलोचना मे नितान्त वैयक्तिक उद्‌भव स्रोतों का उल्लेख करते हैं साहित्यिक सृष्टि को दिवास्वप्न मानते हैं श्रेष्ठ निर्माण के लिए कुण्ठा को अनिवार्य बताते हैं प्रयोगो और प्रतीकों के बाहुल्य से रचना साहित्य को आप्लावित करना चाहते हैं परन्तु भूल जाते हैं कि निरी वैयक्तिक अनुभूति कदापि साहित्यिक प्रतिमान नहीं हो सकती।

आचार्य वाजपेयी यह मानते हैं कि आज हमारे साहित्य में गतिरोध है तो हिन्दी आलोचना में कुछ अंश तक लक्ष्यहीनता और दिग्भ्रमित होने के चिह्न दिखाई पडते हैं। यदि हम जीवन और काव्य–साहित्य–सम्बन्धी उन मूलभूत तथ्यों को पहचान लें और पहचान कर आत्मसात कर लें जो तथ्य एक साथ ही मानव व्यक्तित्व के और उसके समस्त कृतित्व के उन्नायक हैं। साहित्य और साहित्यिक समीक्षा भी मानव कृतित्व का ही एक अंग है। यदि हम किसी पूर्वग्रह से मुक्त होकर मूलभूत जीवन–विकास के प्रति वास्तविक श्रद्धा और आस्था है तो उससे हमारा साहित्यिक कृतित्व अवश्य उपकृत होगा और हमारी समीक्षा दृष्टि को भी निश्चय ही नई ज्योति प्राप्त होगी।

'आलोचना' पत्रिका के महत्व को वाजपेयी जी ने भी स्वीकारते हुए अपने एक सम्पादकीय में लिखा है, "पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी साहित्य के उच्चतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई उनमें 'आलोचना' का विशिष्ट महत्व है।" वाजपेयी जी इस पत्रिका को सार्वजनिक बनाने पर जोर देते हैं और 'आलोचना' के द्वारा साहित्य स्तर पर लेखकों और पाठकों का एक राष्ट्रव्यापी संगठन बनाना चाहते हैं।

'आलोचना' के क्षेत्र में 'वादों' गिरोहों का वाजपेयी जी ने विरोध किया। वे कहते हैं, "आज समीक्षा के क्षेत्र में अनेक 'वादों' का प्रचलन हो गया है। छोटे–छोटे गिरोह बनने की आशंका स्वतंत्र रचनाकारों, कवियों, लेखकों के मार्ग में बाधा डाल रही है। रचना और आलोचना के बीच सन्तुलन की आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना निर्माणकारी प्रतिभा कुण्ठित होती है।

वाजपेयी जी के समय में नाटक विशेषांक और काव्यालोचन विशेषाक जैसे दो महत्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित हुए। जिसमें वाजपेयी जी की सौष्ठववादी

(१) पूर्णांक ५, अक्टूबर ५२ पृ ७०

दृष्टि साफ झलकती है। सौष्ठववादी समीक्षक के रूप में वाजपेयी ने इस पत्रिका को भी अपनी विचारधारा के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। शुक्लोत्तर आलोचना के विकास म जिन प्रमुख समीक्षकों का नाम आता है उनमें आचाय वाजपेयी जी प्रमुख हैं और इन्होंने 'आलोचना' पत्रिका के सम्पादक के रूप मे अपनी आलोचना दृष्टि से पत्रिका को सवारने, सजाने का हर सम्भव प्रयास किया।

उन दिनों जो पुस्तक समीक्षाएं लिखी जा रही थीं, लेख लिखे जा रहे थे और आलोचना प्रत्यालोचनाएं हो रही थीं, उनमें 'आलोचना' पत्रिका का बहुत बडा हाथ था।

'आलोचना' के स्वरूप और विन्यास में क्रान्तिकारी परिवर्तन तब आया जब नामवर सिंह इस पत्रिका के सम्पादक नियुक्त हुए। इसके पहले भी आलोचना' से कुछ समय तक सहसम्पादक के रूप मे सम्बद्ध थे। मुख्य रूप से उन्होंने 'आलोचना' के इतिहास अंक में सहयोग दिया था। जब नामवर सिंह ने वर्ष १९६७ में सम्पादक का दायित्व वहन किया तो एक ऐतिहासिक मोड आ चुका था। चुनाव जैसे शब्द ने नया यथार्थ प्राप्त कर लिया था। नामवर सिह ने जब आलोचना के प्रथम अंक का सम्पादन किया तो चुनाव के बाद का भारत ही संवाद का मुख्य मुद्दा बना। अब आलोचना में केदारनाथ सिंह और धूमिल की कविताएं भी प्रकाशित हो रही थीं। आलोचना रचना परिदृश्य की ओर निकट आ गई थी इसके बाद आलोचना का पूरा इतिहास नवीनतम वैचारिक सघर्ष से परिचय कराने वाला है। एक ओर मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद जैसी विचार धाराओं पर विश्व प्रसिद्ध लेखकों के विश्लेषण प्रकाशित हुए तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और विचार धाराओं से परिचित कराने की चेष्टा की गई है। महान कृतिकारों पर अंक निकाले गए। 'आलोचना' ने पहली बार इस तरह का प्रयास किया जिसमें व्यक्ति विशेष पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करके उनके कृतित्व और व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया। पत्रिका का यह प्रयास बहुत सफल एवं अनुकरणीय सिद्ध हुआ।

कहा जा चुका है कि 'आलोचना' मे वैसे तो सभी साहित्यिक प्रवृत्तियो पर विचार किया गया है हर तरह के लेख प्रकाशित किये गये हैं परन्तु इसका प्रमुख स्वर प्रगतिवादी ही रहा है। इसकी शुरुआत भी प्रगतिवादी दृष्टि से की गई थी बीच–बीच में भले ही कुछ परिवर्तन आए लेकिन वे परिवर्तन इस पत्रिका की मुख्य धारा को मोड़ने में असफल रहे। यही कारण था कि शिवदान सिंह चौहान को दुबारा सम्पादन कार्य सौंपा गया और उसके बाद नामवर सिंह जैसे प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक के हाथ में पत्रिका का दायित्व दिया गया, जिसको नामवर सिंह विगत २२ वर्षों से बखूबी निभा रहे हैं, यह इस बात का प्रमाण है।

नामवर सिंह ने परिसंवादों के जरिये प्रतिबद्धता, रोमान्टीकता जैसे मुद्दों पर पुनर्विचार किया। 'नयी समीक्षा' पर लेख प्रकाशित किया। काव्यभाषा और शैली विज्ञान से लेकर विच्छेदवाद तक का मूल्यांकन 'आलोचना' में मिल जायेगा। तुलसी, सूर, जायसी, जैसे महान भक्तिकालीन कवियों का एक दम नये सिरे से किया गया है सस्कृत कविता की दूसरी का अन्वेषण किया गया है जो लोक जीवन और गार्हस्त जीवन से जुटी रही है

विभिन्न क्षेत्रों की वैचारिक साहित्यिक यथा स्थिति की चुनौती देने की स्थिति आलोचना में बराबर प्रकाशित होती रही है। पुस्तक समीक्षा मूल्याकन की केन्द्रीयता से जोड़कर इस पत्रिका ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'आलोचना' मे प्रकाशित पुस्तक समीक्षाएं पुस्तक का सारांश मात्र नहीं होतीं। वे पुस्तक मे निहित विचारधारा का पुनर्वेधन होती हैं। यदि पहले की आलोचना पत्रिका से विजय देवनारायण साही और लक्ष्मीकान्त वर्मा उभरे थे तो इधर के आलोचना पत्रिका एक साथ कई प्रतिभावांन आलोचक समने आए जिनमें–अशोक वाजपेयी मलयज, विष्णु खरे, परमानन्द श्रीवास्तव, विजयमोहन सिंह, मधुरेश, नन्दकिशोर नवल आदि प्रमुख हैं।

समसामयिक साहित्यिक घटनाओं पर अत्यन्त उत्तेजक टिप्पणियाँ 'आलोचना' में उपस्थित हैं। ब्रेख्त, लुकाच, वेर्का जैसे विश्वदृष्टि सम्पन्न लेखको पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ 'आलोचना' में विद्यमान हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, नागार्जुन, मुक्तिबोध, मार्क्स से संबधित विशेषांको में सम्पादकीय भी अत्यन्त मूल्यवान और पठनीय हैं। इधर की 'आलोचना' में प्रकाशित साक्षात्कार भी ध्यान आकृष्ट करने वाला है। अनेक विख्यात लेखकों के पत्र डायरी के अंश भी 'आलोचना' में प्रकाशित हुए जो उसे अन्वित बनाते हैं। अब आलोचना अपनी प्रकृत भूमि से जुड़ी और उसमें सूक्ष्म गहनतम विश्लेषण की क्षमता भी बढ़ी है। इन सबसे अलग उल्लेखनीय है नामवर सिंह का अपना आलोचनात्मक संघर्ष जो उनके द्वारा लिखे गये सम्पादकीय में उपलब्ध है जैसे, आलोचना की भाषा, आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना प्रासंगिकता का प्रमाद।

'आलोचना' पत्रिका ने अपने पाठकों को निरन्तर विचार सक्रिय बनाया। यह पत्रिका आज के रचनात्मक परिदृश्य पर बहुत गहरा दबाव डालने वाली पत्रिका प्रमाणित हो चुकी है। उसने ऐतिहासिक न्याय का काम भी किया है जैसे–आलोचना की कृत्रिम वाग्धारा को चुनौती 'आलोचना ने दी है। प्रगतिवाद के अंधलोक वादी रुझान को चुनौती 'आलोचना' ने दी। युवा लेखन के ऐतिहासिक महत्व को स्वीकृति आलोचना ने दिलाई और साहित्य की दूसरी परम्परा को मान्यता आलोचना के कारण ही मिली।

'आलोचना' पत्रिका की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

१ साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों के महत्व को रेखांकित करते हुए प्रगतिवादी दृष्टिकोण को विशेष महत्व दिया गया है।

२ सम्पादकीय वक्तव्य, विशेषांकों का चयन एवं समीक्षित पुस्तकों के द्वारा यथार्थवादी समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति की पुष्टि की गई है।

३ आलोचना पत्रिका में प्रकाशित विशेषांक ऐतिहासिक महत्व रखते है।

४ सर्वप्रथम 'व्यक्ति विशेष' पर विशेषांक निकालना इस पत्रिका ने ही आरम्भ किया जिसका साहित्य जगत में जोरदार स्वागत किया गया।

५ आलोचना ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विदेशी लेखकों की समीक्षाए कविताएं प्रकाशित कर इस पत्रिका को व्यापक बनाया।

६ सर्वप्रथम पत्रिका में 'कविता' का कर दृष्टि का परिचय दिया

७ हर अंक में सम्पादकीय लेख नहीं छपने के बाद भी इसके स्तर में कोई गिरावट नहीं आई।

८ आलोचना में प्रकाशित लेखों, निबन्धों और समीक्षाओं से हिन्दी में महत्वपूर्ण साहित्यिक विवाद पैदा हुए जिनसे विचारों का कुहासा छटा और स्वस्थ दृष्टिकोण के निर्माण की प्रक्रिया तेज हुई।

६ इसमें उच्चस्तरीय पुस्तकों की समीक्षाएं ही प्रकाशित की गईं।

१० आलोचकों एवं समीक्षकों के लिए इस पत्रिका ने वैचारिक मंच का काम किया जिससे आलोचना, प्रत्यालोचना, विवाद, सवाद से किसी काव्य प्रवृत्ति को समझने का अवसर मिला।

११ इसमे समसामयिक विवादास्पद, विचारोत्तेजक एवं ज्वलन्त विषयों को बहुत महत्व दिया गया।

'आलोचना पत्रिका अभी अनवरत गति से प्रकाशित हो रही है और डॉ नामवर सिंह तत्परता एवं लगन से इसका सम्पादन कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। उन्होंने 'आलोचना' में स्तरीय एवं महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित करने का जो सिलसिला चला रखा है उससे यह पत्रिका इस समय हिन्दी आलोचना को नयी दिशा देने वाली सिद्ध हो रही है। उम्मीद की जा सकती है कि डॉ नामवर सिंह के संपादन में यह पत्रिका अभी और महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित करके शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना को एक सुदृढ़ रूप प्रदान करेगी।

परिशिष्ट

सम्पादक : शिवदान सिह चौहान

निबन्ध (सूची)

अंक : अक्टूबर १९५१

सस्कृत में महाकाव्यों की परम्परा– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, गोस्वामी तुलसीदास –प्रकाशचन्द गुप्त, श्री सुमित्रानन्दन पन्त–नरेन्द्र शर्मा, समाजशास्त्रीय आलोचना–डॉ. देवराज, भारतीय आलोचना पद्धति–गुलाब राय, लेखक और उसकी कला–कोन्स्तान्तिन फ्रेदिम, उर्दू भाषा की उत्पत्ति और उसका विकास–ऐहतेशाम हुसेन।

अंक २ : जनवरी १९५२

भारतीय आलोचना पद्धति–डॉ. भगीरथ मिश्र, सूर का मानवतावाद–प्रकाशचन्द गुप्त, नवनिर्माण (हिन्दी साहित्य के व्यापकता के उपादान)–डॉ. नगेन्द्र, प्रेमचन्द के वाद : उपन्यास साहित्य का प्रवृत्ति विकास–डॉ सत्येन्द्र, साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण–डॉ अब्दुल अली, समसामयिक बंगला साहित्य–गोपाल हाल्दार।

अंक ३ : अप्रैल १९५२

हिन्दी समीक्षा एक दृष्टि–डॉ. देवराज, आधुनिक साााहित्य के मूल्यांकन की समस्याएं– नेमिचन्द जैन, कबीर के काव्य में सामाजिक विद्रोह–प्रकाशचन्द गुप्त, रीतिकालीन काव्य : एक दृष्टिकोण–डॉ. भगीरथ मिश्र, साहित्य की साधना–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, युग समस्याएं और साहित्यकार–इलाचन्द जोशी, साहित्यिक हिन्दी का रूप–डॉ. हरदेव बाहरी, रस सिद्धान्त का स्वरूप–डॉ के बेडकर।

अंक ४ : जुलाई १९५२

सस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्यशास्त्र का नवनिर्माण–नन्द दुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य के विकास क्रम मे लोकवार्ता की पृष्ठभूमि–डॉ. सत्येन्द्र, प्रेमचन्द्र : कहानीकार–प्रकाशचन्द गुप्त हिन्दी कविता के पिछले दस वर्ष–त्रिलोचन शास्त्री, बंगला साहित्य मे आलोचना–गोपाल हाल्दार, रस सिद्धान्त का स्वरूप–हि. के. बेडकर।

इतिहास विशेषांक–

पूर्णांक ५ : अक्टूबर १९५२

इतिहास नया दृष्टिकोण–नामवर सिंह, हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थ और आ रामचन्द्र शुक्ल की देन–बाबू गुलाब राय, आदिकाल की सामग्री का पुनर्परीक्षण–आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, संतकाव्य की परम्परा–परशुराम चतुर्वेदी भक्ति काव्य–डॉ श्रीकृष्णलाल रीतिकाव्य–डॉ भगीरथ मिश्र आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास गुप्त आधुनिक युग का पूर्वार्द्ध डॉ० रघुवश

दो महायुद्धों के बीच हिन्दी कविता--नरेन्द्र शर्मा, हिन्दी उपन्यास--नलिन विलोचन शर्मा, ऐतिहासिक उपन्यास-- प्रभाकर माचवे, हिन्दी कहानी--ठाकुर प्रसाद सिह आधुनिक हिन्दी कहानी--देवराज उपाध्याय, हिन्दी नाटकों का विकास--बच्चन सिह, हिन्दी का निबन्ध साहित्य : एक सर्वेक्षण--विजयशंकर मल्ल, हिन्दी आलोचना--आ नन्द दुलारे वाजपेयी, पृथ्वीराज रासो का सौष्ठव--डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी, सूर सागर--डॉ. सत्येन्द्र, रामचरित मानस--डॉ. रांगेय राघव, बिहारी सतसई--विश्वम्भर 'मानव', कामायनी--गजानन माधव मुक्तिबोध, कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि--विजयेन्द्र स्नातक, गोदान--गोपाल कृष्ण कौल।

पूर्णांक ६ : जनवरी १६५३

हिन्दी गीति काव्य का विकास--हंसकुमार तिवारी, हिन्दी रंगमंच और नाट्य रचना का विकास--जगदीश चन्द माथुर, हिन्दी पत्र--पत्रिकाओं का विकास--डॉ रामरतन भटनागर, हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव--डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, हिन्दी साहित्य पर लोक साहित्य का प्रभाव--देवेन्द्र सत्यार्थी, यूरोपीय साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव--रामअवध द्विवेदी, छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण-- विजयमोहन शर्मा, छायावाद की भाव भूमि--जगदीश गुप्त, प्रगतिवाद--विजय चौहान, हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास--डॉ. हरदेव बाहरी, भाषा का विकास और प्रतीकवाद--राम सुरेश त्रिपाठी राजस्थानी भाषा और साहित्य--नरोत्तम दास स्वामी, मातृभाषाओं का महत्व--राहुल सास्कृत्यायन, हिन्दी जनपदों में लोक साहित्य संकलन की परम्परा--श्याम परमार, अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा--डॉ देवराज।

पूर्णांक ७ : 'आलोचना' अप्रैल १६५३

डॉ धर्मवीर भारती, डॉ रघुवंश, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेव नारायण साही सहकारी सम्पादन श्री क्षेमचन्द 'सुमन', सम्पादकीय, हिन्दी समीक्षा का गहन दायित्व 'निबन्ध', भारतीय सौन्दर्य--चिन्तन का क्रमिक विकास। सिन्धु सभ्यता से रीतिकाल तक--डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य और मनोविज्ञान--सी. जे. थुग हिन्दी कथा शिल्प में कथानक का ह्रास--डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, समकालीन आलोचना : कुछ खतरे--डॉ. देवराज. अंग्रेजी काव्य धारा : बीसवीं शताब्दी--डॉ एस. पी. खत्री, नयी कविता में रस और वैग्दिधता--जगदीश गुप्त, मराठी नवकाव्य और रस--विचार-- आत्माराम राव जी देशपाण्डे अनिल, नई कविता मे वर्ग--उन्मूलन और वैयक्तिक कुण्ठाएँ--लक्ष्मीकान्त वर्मा।

पूर्णांक ८ : जुलाई १६५३

सम्पादकीय, साहित्य में गतिरोध 'निबन्ध', महाकाव्य के उद्‌भव की सामाजिक व्याख्या--शम्भूनाथ सिह, कामायनी की कथा--पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव, रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड--डॉ. रामरतन भटनागर, उर्दू कविता मे राष्ट्रीय भावना--डॉ एजाज हुसेन, प्रबन्ध--सार, प्राकृत--अपभ्रंश--साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव--डॉ रामसिंह तोमर अनुशीलन · हिन्दी का अपना साहित्य--शास्त्र डा धीरेन्द्र वर्मा जायसी की मूल चन्द्रबली पाण्डेय

रामचरित मानस' का रचनाक्रम–डॉ कामिल बुल्के, भविष्यत् साहित्य– पालवेलरी भविष्यत्–काव्य– अरविन्द।

पूर्णांक ६ : १६५३ (आलोचना)

निबन्ध : आलोचना और अनुसन्धान–परशुराम चतुर्वेदी, सौन्दय तत्व और आलोचना के मानदण्डों का विकास–हरद्वारीलाल शर्मा, आलोचना में सहिष्णुता की मर्यादा– बौद्ध–संकेत– शांति भिक्षु, प्राचीन यूनानी साहित्य शास्त्र–डॉ. एस पी. खत्री, प्राचीन साहित्यशास्त्र की उपयोगिता–डॉ. देवराज, भरत–प्रणीत रस–सिद्धान्त : एक स्पष्टीकरण–दि. क. बेडकर, रस की व्याख्याताओं के दार्शनिक आधार–आनन्द प्रकाश दीक्षित, वामन के काव्य–सिद्धान्त– डॉ. नगेन्द्र रस तत्व और मार्क्सीय कसौटी–डॉ. रांगेय राघव, हिन्दी में रस–मिमांसा–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी रीतिशास्त्र–डॉ. भगीरथ मिश्र, गौड़ीय वैष्णव रस–सिद्धान्त– डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, आधुनिक आलोचना का उदय और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–शिवनाथ, शुक्लोत्तर समीक्षा–डॉ. जगदीश गुप्त, कवि गुलाब राय की समीक्षा–पद्धति–डॉ. भगवत स्वरूप मिश्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा की मानवतावादी भूमि : शम्भूनाथ सिंह, वर्तमान हिन्दी–आलोचना उपलब्धि और प्रभाव–नलिन विलोचन शर्मा, समालोचन और नैतिक मान–स वात्सयायन, पाश्चात्य समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तिया–डॉ. जयकान्त मिश्र, हीजेल का कला सिद्धान्त–डॉ. रवीन्द्र सहाय वर्मा, मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिष्ट परिणति–विजयदेवनारायण साही, इतिहास की मार्क्सोत्तर व्याखाएँ और साहित्यदर्शन–हर्षनारायण, प्रतीकवाद की स्थापना–राजनारायण विसारिया अति यथार्थवाद–रामस्वरूप चतुर्वेदी, वेलिन्सकी की मान्यताओं का विकास–सुरेश चन्द्र सेनगुप्त, आइ. ए. रिचर्ड्स. का समीक्षा सिद्धान्त–डॉ. राम अवध द्विवेदी, टी एस. इलियट के काव्य सिद्धान्त–केशव आनन्द, श्री अरविन्द का साहित्य दर्शन–डॉ इन्द्रसेन।

पूर्णांक १० : जनवरी १६५४ 'सम्पादकीय' :

हिन्दी साहित्य का इतिहास : मध्ययुग, 'निबन्ध', हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ मे भारतीय मध्ययुग–डॉ राजबली पाण्डेय, छायावादी काव्य दृष्टि–डॉ. रामरतन भटनागर, उपन्यास–कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण–डॉ. देवराज उपाध्याय, अंग्रेजी समीक्षा . बीसवीं शताब्दी–यदुपति सहाय, वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यो का विघटन–आइ. ए. एलट्रास, सन्तुलन का प्रश्न–सुमित्रानन्दन पंत।

पूर्णांक ११, अप्रैल १६५४

साहित्यकार और उसका परिवेश 'निबन्ध', विश्व उपन्यास साहित्य का क्रमिक विकास और उसका भविष्य : इलाचन्द जोशी, मराठी रस मीमांसा ' नई दिशाएं–प्रभाकर माचवे, साहित्य की नई मर्यादा : डॉ. धर्मवीर भारती, वेद मे गीति–काव्य का उद्‌गम : बलदेव उपाध्याय।

पूर्णांक १२ जुलाई १९५४ सम्पादन समिति
इतिहास का पुनर्नवीकरण 'निबन्ध', हिन्दी का यात्रा साहित्य–डॉ. रघुवंश मार्क्सवाद और साहित्य के स्थायी तत्व–हर्षनारायण, उर्दू आलोचना का विकास–मसीहुज्जमा।

पूर्णांक १३ अक्टूबर १९५४
समकालीन उपन्यास : सीमाएं और सम्भावनाएँ 'निबन्ध', प्रबन्ध–काव्य, रोमांस और उपन्यास–देवराज उपाध्याय, उपन्यास की विकास यात्रा, रोमांस से सामाजिक यथार्थ तक–अजित कुमार, उपन्यास के उपकरण–डॉ रामअवध द्विवेदी, उपन्यास और यथार्थ चित्रण–मोहन राकेश, उपन्यास और नीति–गुलाब राय, उपन्यास के दायित्व–रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी उपन्यास की विकास रेखा : उपलब्धियाँ और अभाव–नन्द दुलारे वाजपेयी, उदय काल : प्रेमचन्द के आगमन तक–विजय शकर मल्ल, प्रेमचन्द युग : आदर्शोन्मुख यथार्थ–डॉ. रामरतन भटनागर, प्रेमचन्दोत्तर काल : नये धरातल–लक्ष्मीकान्त वर्मा, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास–१ विश्वम्भर मानव प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास–२ शिवनाथ, प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास–३ यदुपति सहाय मध्वर्गीय वस्तुतत्व का विकास–बच्चन सिंह, पात्रों का निर्माण और विकास होरी, बलचनमा, और भुवन–डॉ. रामखेलावन पाण्डेय, हिन्दी उपन्यास शिल्प का विकास–डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, हिन्दी उपन्यास का धरातल–डॉ. देवराज लघु–उपन्यास– डॉ. प्रेमशंकर, ऐतिहासिक उपन्यास–राहुल संस्कृत्यायन, इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास–डॉ. जगदीश गुप्त, वैज्ञानिक कथा साहित्य–डॉ सम्पूर्णानन्द, फुटपाथ के उपन्यास –नरोत्तम नागर, साम्यवादी उपन्यास–मोती सिह, समकालीन भारतीय उपन्यास, समकालीन विश्व–उपन्यास : स्तर और आयाम–आई. ए. एक्ट्रास, उपन्यास का भविष्य–ज्योति स्वरूप सक्सेना।

पूर्णांक १४ : जनवरी १९५५
'सम्पादकीय' जनवादी साहित्य 'निबन्ध', साहित्य का स्थायी मूल्य–डॉ रांगेय राघव, हिन्दी का अपना समीक्षा–शास्त्र (सम्भावनाएं)–डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी का अपना समीक्षा–शास्त्र (आवश्यकता)–डॉ. भगीरथ मिश्र, हिन्दी सामाजिक कथा–नायकों का विकास–राजेन्द्र यादव, हिन्दी का भावी रूप–डॉ. धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी का भावी रूप–डॉ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ,हिन्दी का भावी रूप–सुमित्रानन्द पंत।

पूर्णांक १५ : अप्रैल १९५५
जनवादी साहित्य (२) निबन्ध, अनुकृति, अन्विति और काव्यगत आनन्द–रामशकर तिवारी, सन्त साहित्य और जैन हिन्दी कवि–परशुराम चतुर्वेदी, जापानी साहित्य १६२५–१९५५–के दोई, साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और–सामाजिक दायित्व (विचारार्थ प्रस्तुत आलेख), वैयक्तिक स्वातन्त्र्य : सांस्कृतिक जीवन की पहली शर्त –हर्षनारायण, भारतीय साहित्यकार की स्वातन्त्र्य धारणा का मूल उत्स– माधवे साहित्य सृजन की प्रक्रिया और लेखक का [illegible]
द्विवेदी वैयक्तिक और दायितव की

स्थिति–बालकृष्ण राव, कलाभिव्यक्ति का ध्येय : जीवन की पूर्ण स्वतन्त्रता–उदयशंकर भट्ट, स्वातन्त्र्य बनाम शहादत–जैनेन्द्र कुमार, बौद्धिक स्वातन्त्र्य, बौद्धिक अराजकता–भगवतीचरण वर्मा।

पूर्णांक १६ : नवम्बर १९५५ 'सम्पादन समिति'

दायित्व और स्वातन्त्र्य अविच्छिन्न मूल्य 'निबन्ध', संस्कृतियों का विकास और साहित्य–हर्षनारायण, मनोविश्लेषणा और आधुनिक काव्य की सम्भावनाएं–डॉ रामरतन भटनागर, पद्मावत की कथा का लोक–रूप– रवीन्द्र भ्रमर व्यक्ति–स्वातन्त्र्य और जनहित–डॉ. रांगेय राघव, साहित्य शास्त्र : नियतिवाद के विरुद्ध उद्बोध : डॉ. जगदीश गुप्त, सामाजिक विकास के ये चरण–अमृतलाल नागर, व्यष्टि और समष्टि की सन्धि–विद्यानिवास मिश्र।

पूर्णांक १७ : जनवरी १९५५

दायित्व और स्वातन्त्र्य . अविच्छिन्न मूल्य 'निबन्ध', साधारणीकरण का नवीन स्तर–रमाशंकर तिवारी, प्रयोग, प्रगति और परम्परा–लक्ष्मीकान्त वर्मा, हिन्दी उपन्यास में नये प्रयोग–ब्रजविलास श्रीवास्तव, यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या– स्वेतोजारप्रेत्रोविच, लेखक का उद्देश्य महत्वपूर्ण है–डॉ. शम्भूनाथ श्रीवास्तव, साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न–विजयदेवनारायण साही, ब्रीडा जुगुप्सामंगल व्यंजकत्वात–डॉ. हरदेव बाहरी।

पूर्णांक १८ अप्रैल १९५६

नये सम्पादक : नन्द दुलारे वाजपेयी,
सम्पादकीय वक्तव्य 'निबन्ध', कालिदास : साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या–रामविलास शर्मा, प्रतीकवाद–रामरतन भटनागर, समस्या और चिन्तन : कवि प्रेरणा का स्वरूप और काव्य प्रक्रिया–श्री नारायण मिश्र, साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल–रामलाल सिंह, अध्ययन : भारतीय लेखक : इलाचन्द जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ–अनन्त चतुर्वेदी, अध्ययन : विदेशी लेखक : दस्तो ए वस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएं–गंगाधर झा।

पूर्णांक १९ : जुलाई १९५६ (नाटक विशेषांक)

सम्पादकीय वक्तव्य 'निबन्ध', संस्कृत नाटक–आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत नाट्यशास्त्र : आरम्भ और विकास–शिवप्रसाद सिंह, यूनानी नाट्य शास्त्र मे ट्रजडी का स्वरूप–डॉ. रामअवध द्विवेदी, शेक्सपीयर के दुखान्त नाटक : नैतिक मूल्यों की समस्या–रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युगीन नाटकों का रूपविधान–भानुदेव शुक्ल, आधुनिक हिन्दी नाटक–डॉ. प्रेमशकर, प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता–डॉ दशरथ ओझा, पद्य नाटक की विशेषता–डॉ. रघुवशी, हिन्दी के गीत–नाट्य–डॉ बच्चन सिंह, हिन्दी में रूपक कथात्मक नाट्य परम्परा–जितेन्द्र नाथ पाठक हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्व का विकास–डॉ. शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी नाटक पर [illegible] प्रभाव–विश्वनाथ मिश्र रंग शिल्प–साधन और सिद्धान्त–सुरेश अवस्थी हिन्दी एकाकी का विकास प्रो [illegible] महेन्द्र रेडियो नाटक और

हिन्दी में उसका विकास–सिद्धनाथ कुमार, हिन्दी लोकनाट्य–रवीन्द्र भ्रमर, पश्चिमी नाटक : इब्सन और शॉ के पश्चात– रामरतन भटनागर, बंगला साहित्य के नाट्य तथा रंगमंच– श्री सुन्दरलाल त्रिपाठी, प्रादेशिक भाषाओं का नाट्य और मंच–प्रभाकर माचवे।

पूर्णांक २० : अक्टूबर १९५६ (श्री नन्द दुलारे वाजपेयी)
'नई कविता', साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्व–डॉ. भगीरथ मिश्र, रस, सौन्दर्य और आनन्द–प्रो विष्णु प्रसाद, आदर्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार अनन्त अध्ययन : भारतीय लेखक– भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास–अनन्त चतुर्वेदी, अध्ययन : विदेशी लेखक, मैक्सिम गोर्की–गंगाधर झा नई कविता– दो समीक्षाएं– ब्रजलाल वर्मा।

पूर्णांक २१ : जनवरी १९५७
सामयिक परिवेश 'निबन्ध', नई कविता : प्रवादों की परीक्षा–गंगाधर झा, आधुनिक पश्चिमी काव्य–रामरतन भटनागर, प्रतिबिम्बवाद–मनोहर वर्मा, संस्कृत–काव्य शास्त्र और शृंगार रस–डॉ सत्यदेव चौधरी, कवि की विशेषता–रमाशंकर तिवारी, चरित्र चित्रण–देवेन्द्र इस्सर, प्रौढ़ता के स्तर–डॉ. देवराज।

पूर्णांक २२: अप्रैल १९५७
समाज और साहित्य 'निबन्ध', नई कविता प्रयोग की समस्या–डॉ. शम्भूनाथ सिह, नवीन विकास बोध के चार आयाम–राजेन्द्र प्रसाद सिंह, काव्यशास्त्र का मूल और औचित्य–डॉ. सूर्यकान्त, साहित्य सृजन और आलोचना सिद्धान्त–डॉ रमेश कुन्तल मेघ, नया उपन्यास–डॉ. रामरतन भटनागर। अध्ययन : भारतीय लेखक– नागार्जुन · जीवन और कृतित्व–प्रो. बेचन, कवि और सामाजिक दायित्व–१ माला विन्दम चतुर्वेदी, कवि और सामाजिक दायित्व–२ डॉ. प्रेमशंकर।

पूर्णांक २३ : जुलाई १९५७
प्रगति की ओर 'निबन्ध', नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा–डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, काव्य में प्रतीक विधान–डॉ. रामअवध द्विवेदी, मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन–डॉ रामविलास शर्मा, जैनेन्द्र कुमार का नया उपन्यास जयवर्धन'–यशपाल,, अध्ययन : एक विदेशी लेखक–एन्टन चेखव (१८६०–१९०४)–गंगाधर झा, नीतिपरक हिन्दी मुक्तक काव्य–जितेन्द्रनाथ पाठक, हिन्दी नाट्य में प्रथम गद्य प्रयोग–डॉ. दशरथ ओझा।

पूर्णांक २४ : अक्टूबर १९५७
नये उपन्यास (सम्पादकीय), नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा–डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, शब्द निर्माण में लेखक का सहयोग–फणीश्वरनाथ 'रेणु', प्रगति और परम्परा–प्रकाशचन्द गुप्त, 'दिव्या' का वितर्क पक्ष–जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, शब्द निर्माण और लेखक–बालकृष्ण राव. नई कविता · एक प्रश्न–प्रो ब्रजलाल वर्मा सौन्दर्य का रूप भाव और तत्व डॉ तिवारी उमापति कृत

हरण' के गीत–कृष्णा नन्दन दीक्षित, 'परती परिकथा'–डॉ. प्रेमशंकर, रेणु और 'परती परिकथा'–प्रो. गोपीकृष्ण प्रसाद, 'परती परिकथा' : एक स्वतंत्र कलाकृति–श्री धनन्जय वर्मा।

पूर्णांक २५ : जनवरी १६५६ काव्यालोचन विशेषांक

आधुनिक काव्य चिन्तन 'निबन्ध', विश्वकाव्य, वैदिक काव्यधारा–डॉ. रामजी उपाध्याय, वाल्मीकि–आ. बलदेव उपाध्याय, कालिदास–डॉ. विश्वनाथ आचार्य सूरदास–डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, तुलसीदास–आ. विश्वनाथ मिश्र वर्ड्सवर्थ–प्रकाशचन्द गुप्त, शेली–सत्यनारायण त्रिवेदी, गेटे–भोलानाथ शर्मा रवीन्द्रनाथ–मनोहर वर्मा, आधुनिक हिन्दी काव्य : प्रसाद की साहित्य साधना–डॉ. सूर्यकान्त, निराला की कविता–बच्चन सिंह, कवि पंत–विजयशंकर मल्ल, महादेवी वर्मा–धनन्जय वर्मा, कवि बच्चन–राम स्वरूप चतुर्वेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर'–राजदेव सिंह, अचल का काव्य–कृष्णनन्दन दीक्षित अज्ञेय–जितेन्द्रनाथ पाठक।

पूर्णांक २६ : अप्रैल १६५६

सिद्धान्तों की प्रगति 'निबन्ध', भारतीय सिद्धान्त : रस–सिद्धान्त का क्रमिक विकास–डॉ. रामलाल सिंह, अलंकार और अलंकार्य का सम्प्रदाय–शंकर देव अवतरे, व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त–डॉ. भगीरथ मिश्र, काव्य चिन्तन का अप्रतिम ध्वनि– सिद्धान्त– डॉ. भोलाशंकर व्यास, पाश्चात्य सिद्धान्त स्वच्छन्दतावाद का परवर्ती काव्य चिंतन–डॉ. राम अवध द्विवेदी, मार्क्सवाद का काव्य–विषयक प्रतिपत्तियाँ–डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और काव्य–गंगाधर शर्मा, उपयोगितावाद : मानवतावादी और मनोवैज्ञानिक, (ताल्सताय और रिचर्ड्स)–डॉ. रामरतन भटनागर, पश्चिमी साहित्य के आदर्शवादी समीक्षा सिद्धान्त–डॉ. सिद्धार्थ , अस्तित्ववाद–मनोहर वर्मा, आधुनिक काव्य प्रवृत्तियाँ आधुनिक बंगला काव्य–धनन्जय वर्मा, आधुनिक मराठी कविता का विकास उसकी धारायें और प्रवृत्तियाँ–भवानी शंकर पण्डित, आधुनिक तेलगु काव्य–डॉ पी. एस. शास्त्री, आधुनिक अंग्रेजी कविता : एक मूल्यांकन–डॉ. अमरेश दत्त।

पूर्णांक २८ : अक्टूबर १६६३ नवांक २

सम्पादकीय· आलोचक और लेखक · शिक्षा का स्वरूप–आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, समाजवादी यथार्थवाद–डॉ. शिवकुमार मिश्र, निराला का काव्य–आनन्द दुलारे वाजपेयी, आज की कहानी–डॉ. इन्द्रनाथ मदान, सार्त्र की कला–प्रो प्रकाशचन्द्र गुप्त, लैटिन अमरीका में साहित्य और कला का विकास–प्रो लाजपत राय

एक विश्लेषण—सफलदीप सिंह, रसवाद : एक परीक्षण—डॉ. रमाशंकर तिवारी हैमिग्वे की कला—प्रो. प्रकाशचन्द गुप्त, हिन्दी काव्य में रंगतत्व—श्यामपाल परमार, इलिएट और हिन्दी की नई कविता—गोविन्द रजनीश, आधुनिक हिन्दी काव्य पर उर्दू का प्रभाव—महताब अली, यशपाल की कहानी कला—डॉ. इन्द्रनाथ मदान।

पूर्णांक २६ नवांक ४, अप्रैल १६६४

लेखक की स्वतंत्रता और 'परिसम्बद्धता' सिद्धान्त विवेचन : सिसृक्षा का स्वरूप—आ हजारी प्रसाद द्विवेदी, आधुनिकता और लोक चेतना— डॉ. बेचन, पाश्चात्य और हिन्दी की नई कविता में सांस्कृतिक विघटन—गोविन्द, सामाजिक कथा—नायिकाओं का विकास—डॉ. सुरेश सिनहा, नई कविता की भाषा : शब्द प्रयोग एक विहंगम दृष्टि : डॉ. सियाराम तिवारी, आ वाजपेयी का निराला विषयक विवेचन—प्रो धनन्जय वर्मा, विश्व साहित्य : कामू की कला—प्रकाशचन्द गुप्त।

पूर्णांक ३१ नवांक ५, जुलाई १६६४

सम्पादकीय—आज की कहानी आन्दोलन की उपलब्धियाँ, सिसृक्षा का स्वरूप आत्मदान की व्याकुलता— आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, सधारणीकरण—डॉ. नागेन्द्र हिन्दी साहित्य : रांगेय राघव के उपन्यास—मधुरेश, आधुनिकता, शमशेर और नागार्जुन— डॉ. बेचन, विश्वसाहित्य : शेक्सपियर और मानव प्रकृति—डॉ. बेचन।

पूर्णांक ३२ नवांक ६, अक्टूबर १६६४

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक, सिद्धान्त विवेचन : मार्क्सवादी कला दृष्टि और समाजवादी यथार्थवाद—नवलकिशोर, कला का जीव—शास्त्र— ब्लादीमीर बाइटूले, आधुनिक कवितसा और रस सिद्धान्त—डॉ. सावित्री सिनहा, आधुनिकता और नवीन कथा चरित्र—डॉ बेचन, हिन्दी साहित्य : यौन परिकल्पनाएं और हिन्दी की नयी कविता—गोविन्द रजनीश, आस्था और नयी कविता—डॉ. छोटेलाल दीक्षित, भारतीय साहित्य : अपभ्रंश कथा—काव्य—डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री कामायनी की अतिलोकिक अंतर्योजना—डॉ. रमाशंकर तिवारी, विश्व साहित्य एक महान अमरीकी कवि राबर्ट फ्रास्ट—सलाम मछली शहर, अंग्रेजी कविता एक दिशा संकेत—सकलदीप सिंह, जेम्स जायस कृत 'युलिसिस' एक कथा प्रयोग—रामसेवक सिंह।

पूर्णांक ३३ नवांक,७ जून १६६५

सम्पादकीय—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य (नया परिवेश) नये प्रश्न—नयी उपलब्धियाँ, लेखक और व्यक्ति स्वातंत्र्य—डॉ रामविलास शर्मा, परम्परा और प्रयोग—अमृतराय, विश्व साहित्य में भारतीय साहित्य का स्थान : अनुवाद की समस्या—डॉ. रघुवंश, विश्व साहित्य के प्रवेश की समस्या—प्रकाशचन्द गुप्त, सौन्दर्य शास्त्र के नये आधार—डॉ. कुमार विमल, सौन्दर्य शास्त्र के नये आयाम—डॉ रमेश मेघ हिन्दी कविता हिन्दी कविता
विवेचन और मल्याकन डा जगदीश गुप्त हिन्दी कविता डॉ

शिकुमार मिश्र, हिन्दी कविता : प्रयोगशील–डॉ. रमाशंकर मिश्र, हिन्दी गीत–कवित्त–ठाकुर प्रसाद, हिन्दी कविता ' प्रबन्धकाव्य–डॉ. रामदरश मिश्र, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना ' प्रगतिवादी समीक्षा : सीमा और सम्भावना–डॉ. चन्द्रभूषण तिवारी, नयी समीक्षा . सीमा और सम्भावना–डॉ. विश्वम्भर मानव, हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओ का स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य ' सन् १६४७ के बाद का ब्रज साहित्य–डॉ. कैलाशचन्द भाटिया, सन् १६४७ के अनन्तर अवधी साहित्य–डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित, हिन्दी में भारतीय साहित्य : हिन्दी में तमिल साहित्य–डॉ व. वि. राजगोपालन, मलयालम साहित्य हिन्दी में–बेल्लार्धाण अर्जुनन्, व्यक्ति और कृतित्व : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का काव्य–डॉ भगीरथ मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्तित्व और कृतित्व–डॉ. विनय मोहन शर्मा, स्वातन्त्र्योत्तर 'दिनकर' साहित्य–डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', स्वतंत्र्योत्तर काल की कृतियों का पुनर्मूल्यांकन : लोकायतन–इलाचन्द्र जोशी, चाँद का मुँह टेढ़ा है–विष्णु चन्द्र शर्मा, हम विषपायी जनम के–डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, हरी घास पर क्षण भर और जो अरी करुणा प्रभामय–डॉ. बेचन, व्यासा निर्भर–डॉ. सियाराम तिवारी, अन्धायुग–डॉ परमानंद श्रीवास्तव, चारुचन्द लेख–डॉ. शिवनाथ, रस सिद्धान्त : एक अभिनव पुनराख्यान–डॉ. मनोहर काले, कलम का सिपाही–नवल किशोर।

पूर्णांक ३४ नवांक, ८ जुलाई १६६५

सम्पादकीय : भाषा का प्रश्न और भारत की एकता ' स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा आधुनिकता का प्रश्न ' साहित्य सदर्भ में –डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक–डॉ. रमेश कुन्तल मेघ, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य, जीवन यथार्थ और युग के केन्द्रीय प्रश्नों का रूपायन–डॉ. रामगोपाल चौहान, हिन्दी उपन्यास और स्वप्न विश्लेषण–डॉ. रणवीर रांगा, हिन्दी कहानी : नयी प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ–डॉ बच्चन सिंह, हिन्दी की चौदह श्रेष्ठ कहानियाँ : पुरानी पीढ़ी का योगदान–मधुरेश, नयी पीढी की उपलब्धियॉ : बारह नयी कहानियां–प्रो. धनन्जय वर्मा हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य : राजस्थानी का नया साहित्य–डॉ. नरेन्द्र, हिन्दी में भारतीय साहित्य : हिन्दी में बंगला कथा–साहित्य–सकलदीप सिंह, व्यक्तित्व और कृतित्व : महोदेवी वर्मा–डॉ. शम्भूनाथ सिंह, डॉ. रांगेय राघव–डॉ. पद्मद सिंह शर्मा कमलेश, आ नन्द दुलारे वाजपेयी–डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ नगेन्द्र–डॉ. कुमार विकल, अमृत राय–प्रकाशचन्द्र गुप्त।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक ३
शिवदान सिंह चौहान

पूर्णांक ३५ नवांक, ६ अक्टूबर १६६५

सम्पादकीय : लेखक और युद्ध, स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा : बुद्ध और कविता–रामधारी सिंह 'दिनकर' स्वातंत्रयोत्तर नाटक–एकांकी रंगमंच : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : विकास की भूमिका–डॉ. सुरेश अवस्थी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो नाटक–चिरंजीव, हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात वीरेन्द्र स्वातंत्र्योत्तर निबन्ध साहित्य हिन्दी निबन्ध

प्रेरणा,प्रयास और उपलब्धि : डॉ. रामखेलावन पाण्डेय, स्वातंत्र्योत्तर काल साहित्य : स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल–साहित्य–मनमथनाथ गुप्त, स्वातंत्र्योत्तर कथा–साहित्य : हिन्दी मे आंचलिक उपन्यास–मधुकर गंगाधर, स्वातन्त्र्योत्तर कथा–साहित्य और चरित्र विकास–डॉ. बेचन, विश्व साहित्य में हिन्दी : विदेशो मे हिन्दी साहित्य–डॉ. प्रभाकर माचवे, हिन्दी क्षेत्र के प्रमुख भाषाओं का नया साहित्य : भोजपुरी लोक साहित्य–डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, मगही का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य--प्रो. कृष्णनारायण प्र. मागध, सन् सैतालिस के बाद का छत्तीसगढी साहित्य–डॉ सावित्री शुक्ल।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक ४

पूर्णांक ३६ नवांक, १० दिसम्बर १६६५

सम्पादकीय : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : नया मोड़–नये संदर्भ–नये प्रश्न स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा : साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप–विनय कुमार शुक्ल, मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य–देवी प्रसाद गुप्त, कथासाहित्य अस्तित्ववाद और नयी कविता–डॉ. रामगोपाल शर्मा, नई कविता : क्षणवाद के सदर्भ में –डॉ. छोटेलाल दीक्षित, नये कवि का दृष्टिकोण–विजयबहादुर सिह नयी कविता और सामाजिक चेतना–डॉ रामगोपाल शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण–डॉ सिद्धनाथ, आंचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी हिन्दी में रेखा चित्र और रिपोर्ताज–डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान : सीमाएं और सम्भावनाएं–डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, हिन्दी मे भारतीय साहित्य : हिन्दी में मराठी साहित्य--डॉ. प्रभाकर माचवे, हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य : निमाड़ी का प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य–रामनारायण उपाध्याय, व्यक्तित्व और कृतित्व : बाबू गुलाब राय– डॉ सत्येन्द्र, माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि–डॉ. रामाधार शर्मा, सियाराम शरण गुप्त के उपन्यास : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–डॉ. सियाशरण, प्र., डॉ रामकुमार वर्मा–डॉ. केदारनाथ लाल, इलाचन्द जोशी 'मृणमयी' से –'जहाज का पछी' तक–नवल किशोर, डॉ. रामविलास शर्मा : कवि आलोचक--डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर और नयी कविता–रामकुमार शर्मा, मुक्तिबोध का आलोचना दर्शन–डॉ. नरेन्द्रदेव वर्मा।

पूर्णांक ३६ अंक १० जनवरी १६६६

सम्पादकीय : आधुनिक समाज में 'अलगाव की समस्या, स्वातन्त्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा : समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न–डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी समीक्षाएं–विजयशकर त्रिवेदी, सातवाँ दशक : कविता की दिशा–डॉ. माहेश्वरी, दिनकर के काव्य मे नारी–डॉ. मधुर मालती सिंह, नया भाव–बोध और धर्मवरी भारती–बैजनाथ सिहल, सन् १६४७ के बाद के उपन्यास के साहित्य में, नयी समस्याएँ–डॉ दागमार अन्सारी महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य : उपलब्धियां और शर्मा भारतीय साहित्य की कहानियों मे

शिकुमार मिश्र, हिन्दी कविता : प्रयोगशील–डॉ. रमाशंकर मिश्र, हिन्दी गीत–कवित्त–ठाकुर प्रसाद, हिन्दी कविता : प्रबन्धकाव्य–डॉ. रामदरश मिश्र, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना : प्रगतिवादी समीक्षा : सीमा और सम्भावना–डॉ. चन्द्रभूषण तिवारी, नयी समीक्षा : सीमा और सम्भावना–डॉ. विश्वम्भर मानव, हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओ का स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य : सन् १९४७ के बाद का ब्रज साहित्य–डॉ. कैलाशचन्द भाटिया, सन् १९४७ के अनन्तर अवधी साहित्य–डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, हिन्दी में भारतीय साहित्य : हिन्दी में तमिल साहित्य–डॉ. व. वि. राजगोपालन, मलयालम साहित्य हिन्दी में–बेल्लार्धाण अर्जुनन्, व्यक्ति और कृतित्व : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का काव्य–डॉ. भगीरथ मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्तित्व और कृतित्व–डॉ. विनय मोहन शर्मा, स्वातन्त्र्योत्तर 'दिनकर साहित्य–डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', स्वतंत्र्योत्तर काल की कृतियों का पुनर्मूल्यांकन : लोकायतन–इलाचन्द्र जोशी, चाँद का मुँह टेढ़ा है–विष्णु चन्द्र शर्मा, हम विषपायी जनम के–डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, हरी घास पर क्षण भर और जो अरी करुणा प्रभामय–डॉ. बेचन, व्यासा निर्भर–डॉ. सियाराम तिवारी, अन्धायुग–डॉ. परमानंद श्रीवास्तव, चारुचन्द लेख–डॉ. शिवनाथ, रस सिद्धान्त : एक अभिनव पुनराख्यान–डॉ. मनोहर काले, कलम का सिपाही–नवल किशोर।

पूर्णांक ३४ नवांक, ८ जुलाई १९६५

सम्पादकीय : भाषा का प्रश्न और भारत की एकता : स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य संदर्भ में –डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक–डॉ. रमेश कुन्तल मेघ, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य, जीवन यथार्थ और युग के केन्द्रीय प्रश्नों का रूपायन–डॉ. रामगोपाल चौहान, हिन्दी उपन्यास और स्वप्न विश्लेषण–डॉ. रणवीर रांगा, हिन्दी कहानी : नयी प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ–डॉ. बच्चन सिंह, हिन्दी की चौदह श्रेष्ठ कहानियाँ : पुरानी पीढी का योगदान–मधुरेश, नयी पीढ़ी की उपलब्धियाँ : बारह नयी कहानिया–प्रो. धनन्जय वर्मा हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं का स्वातत्र्योत्तर साहित्य : राजस्थानी का नया साहित्य–डॉ. नरेन्द्र, हिन्दी में भारतीय साहित्य : हिन्दी में बगला कथा–साहित्य–सकलदीप सिंह, व्यक्त्वि और कृतित्व : महोदेवी वर्मा–डॉ. शम्भूनाथ सिंह, डॉ. रांगेय राघव–डॉ. पद्मद सिंह शर्मा कमलेश, आ. नन्द दुलारे वाजपेयी–डॉ. शिवकुमार मिश्र, डॉ. नगेन्द्र–डॉ. कुमार विकल, अमृत राय–प्रकाशचन्द्र गुप्त।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक ३
शिवदान सिंह चौहान
पूर्णांक ३५ नवांक, ९ अक्टूबर १९६५

सम्पादकीय : लेखक और युद्ध, स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा : बुद्ध और कविता–रामधारी सिंह 'दिनकर' स्वातंत्र्योत्तर नाटक–एकांकी रंगमंच : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : विकास की भूमिका–डॉ. सुरेश अवस्थी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी एकांकी तथा रेडियो नाटक–चिरंजीव, हिन्दी रंगमंच : राष्ट्रीय रंगमंच का सूत्रपात वीरेन्द्र निबन्ध साहित्य हिन्दी निबन्ध

प्रेरणा,प्रयास और उपलब्धि : डॉ. रामखेलावन पाण्डेय, स्वातंत्र्योत्तर काल साहित्य : स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी बाल–साहित्य–मनमथनाथ गुप्त, स्वातंत्र्योत्तर कथा–साहित्य : हिन्दी में आचलिक उपन्यास–मधुकर गगाधर, स्वातंत्र्योत्तर कथा–साहित्य और चरित्र विकास–डॉ. बेचन, विश्व साहित्य में हिन्दी : विदेशो मे हिन्दी साहित्य–डॉ प्रभाकर माचवे हिन्दी क्षेत्र के प्रमुख भाषाओं का नया साहित्य : भोजपुरी लोक साहित्य–डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, मगही का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य–प्रो. कृष्णनारायण प्र. मागध, सन् सैतालिस के बाद का छत्तीसगढी साहित्य–डॉ. सावित्री शुक्ल।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक ४

पूर्णांक ३६ नवांक, १० दिसम्बर १६६५

सम्पादकीय : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : नया मोड–नये संदर्भ–नये प्रश्न स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा : साहित्येतिहास : विधा एवं स्वरूप–विनय कुमार शुक्ल, मानवतावादी चिन्तनधारा और नया साहित्य–देवी प्रसाद गुप्त, कथासाहित्य अस्तित्ववाद और नयी कविता–डॉ. रामगोपाल शर्मा, नई कविता : क्षणवाद के सदर्भ में –डॉ. छोटेलाल दीक्षित, नये कवि का दृष्टिकोण–विजयबहादुर सिह नयी कविता और सामाजिक चेतना–डॉ. रामगोपाल शर्मा, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : एक विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण–डॉ. सिद्धनाथ, आंचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की नवीन उपलब्धि–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी हिन्दी में रेखा चित्र और रिपोर्ताज–डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी अनुसंधान : सीमाएं और सम्भावनाएं–डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, हिन्दी मे भारतीय साहित्य : हिन्दी में मराठी साहित्य–डॉ. प्रभाकर माचवे, हिन्दी क्षेत्र की प्रमुख भाषाओं का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य : निमाड़ी का प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य–रामनारायण उपाध्याय, व्यक्तित्व और कृतित्व : बाबू गुलाब राय– डॉ सत्येन्द्र, माखनलाल चतुर्वेदी : एक राष्ट्रीय कवि–डॉ. रामाधार शर्मा, सियाराम शरण गुप्त के उपन्यास : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन–डॉ सियाशरण, प्र., डॉ रामकुमार वर्मा–डॉ. केदारनाथ लाल, इलाचन्द जोशी 'मृणमयी' से –'जहाज का पछी' तक–नवल किशोर, डॉ. रामविलास शर्मा : कवि आलोचक–डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर और नयी कविता–रामकुमार शर्मा मुक्तिबोध का आलोचना दर्शन–डॉ. नरेन्द्रदेव वर्मा।

पूर्णांक ३६ अंक १० जनवरी १६६६

सम्पादकीय : आधुनिक समाज में 'अलगाव की समस्या, स्वातन्त्र्योत्तर सिद्धान्त चर्चा : समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न–डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव स्वातंत्र्योतर हिन्दी आलोचना : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी समीक्षाएं–विजयशकर त्रिवेदी, सातवाँ दशक : कविता की दिशा–डॉ माहेश्वरी, दिनकर के काव्य मे नारी–डॉ. मधुर मालती सिंह, नया भाव–बोध और धर्मवरी भारती–बैजनाथ सिहल, सन् १६४७ के बाद के उपन्यास के साहित्य में, नयी समस्याएँ–डॉ दागमार अन्सारी महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य · उपलब्धियां और लक्ष्मीकान्त शर्मा भारतीय साहित्य की कहानियों मे

नारी : एक विवेचन–रसिक बिहारी, राष्ट्र कवि सुब्रमण्य भारति–ना. राम सुब्रमण्यम मगही का नया साहित्य–आ. रामनरेश मिश्र, विश्व साहित्य : ब्रेख्त : आधुनिक यूरोपीय साहित्य का एक महान व्यक्तित्व–सु. माहेश्वरी।

'आलोचना' : सम्पादक–नामवर सिंह

पूर्णांक ३८ नवांक : अप्रैल १९६७

सम्पादकीय : संवाद–चुनाव के बाद का भारत, निबन्ध : नवलेख में राजनीतिक स्थान–ओमप्रकाश दीपक, आज के साहित्य में आक्रामकता–अशोक वाजपेयी स्वतंत्रता के बाद का संकट और मैं–रघुवीर सहाय, साहित्य–विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, कविता मे मूल्य और अर्थ : एक विश्लेषण–मलयज।

पूर्णांक ३९ नवांक ५ जुलाई-सितम्बर १९६७

हजारी प्रसाद द्विवेदी विशेषांक

सम्पादकीय : संवाद 'आलोचना' की भाषा, आ हजारी प्रसाद द्विवेदी से एक भेंट–मनोहर श्याम जोशी, संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक समीक्षा पद्धति–रघुवंश, भाषा वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका–रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव, नयी काव्य समीक्षा की सम्भावना–परमानन्द श्रीवास्तव, आक्रोश की भाषा और भाषा का आक्रोश–सुरेन्द्र चौधरी।

पूर्णांक ४० नवांक ३ (अक्टूबर-दिसम्बर १९६७)

सम्पादकीय : संवाद : रोमांटिक काम आधुनिक, ब्रेख्त–रंगमंच : संस्कृत नाटको पर एक नई दृष्टि–लोठा लुट्से, निबन्ध : वर्तमान सर्जना और दायित्व बोध–नित्यानन्द तिवारी, मूल्य–परिवर्तन : मानविकी के संदर्भ में–कुमार विमल पौराणिक प्रसंग और आधुनिक संवेदना–सिद्धनाथ कुमार, रचना और आलोचना–कमलाकान्त पाठक।

पूर्णांक ४१ नवांक ४, जनवरी मार्च १९६८

सम्पादकीय : संवाद : युवा लेखन पर एक बहस, गोर्की की जन्मशती पर गोर्की और यथार्थवाद–भीष्म साहनी, मक्सिम गोर्की और हिन्दी साहित्य–भारतभूषण अग्रवाल, आन्द्रेइवोज्नेसिंस्की की कविताएं : गोया पहला वाला–अनु. कैलाश वाजपेयी, निश्चल निस्तब्ध : तुम आपनी चाची के यहाँ रहती हो–भारत भूषण अग्रवाल।

पूर्णांक ४२ नवांक ५ अप्रैल-जून ६८

काव्य की रचना प्रक्रिया–मुक्तिबोध, काव्यभाषा और शैली विज्ञान–रवीन्द्र श्रीवास्तव सम्प्रेषणीयता कुछ कथन : साधारणीकरण का द्वन्द्व न्यास–रमेश कुन्तल मेघ पहले से,बस,फैलाव(कविता)–कान्ता, नैतिक मूल्य–यशदेवशल्य, भारतीय परिप्रेक्ष्य मराठी नवलेखन और विद्रोह प्रभाकर माचवे तेलगू की दिगम्बर पीढी एट

५० के लेखक ट और खरर्ले

नाव (बंगला)– सन्दीपन चटोपाध्याय।

पूर्णांक ४३ जुलाई-सितम्बर १६६८

सम्पादकीय : संवाद–कविता और राजनीति, आवश्यक निर्णय–पीटर वाइस, तानाशाही ने विरुद्ध एक वक्तव्य–रघुवीरसहाय, विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर (कविता)–गजानन– माधव मुक्तिबोध, मुक्तिबोध के पत्र–नेमिचन्द्र जैन मुक्तिबोध एक संस्मरण–हरिशंकर परसाई, मुक्तिबोध की सार्थकता–श्रीकान्त वर्मा, कहानीकार मुक्तिबोध : कौन मनु? –अन्येश्का सोनी, 'अंधेरे में' तथा मुक्तिबोध की अन्य कविताएँ–एक अन्तसुत्र–विष्णुखरे, मुक्तिबोध और अज्ञेय के काव्य बिम्ब–रणजीव–और इरशाद–अब्दुल वाजिद, इस व्यवस्था मे (कविता)–लीलाधर जगूड़ी, आज की कविता का व्याकरण : कुछ संकेत सूत्र–काशीनाथ सिंह, विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता–विष्णुचन्द्र शर्मा, अच्छे गद्य की पहचान–रामविलास शर्मा, देखो न हकीकत हमारे समय की (कविता)–विश्वनाथ त्रिपाठी, कलात्मक प्रतिभा–दि. के. बेडेकर, स्वतंत्रता का स्वरूप– यशदेव शल्य।

पूर्णांक ४४ : अक्टूबर-दिसम्बर १६६८

काव्यभाषा और काव्येतर भाषा–विद्यानिवास मिश्र, चीर–फाड़ (कविता)–भारत भूषण अग्रवाल, संत्रास का आतंक–भीष्म साहनी, दीवार–परमानन्द श्रीवास्तव कामायनी · एक असफल कृति–इन्द्रनाथ मदान, शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण–नित्यानन्द तिवारी, पाश्चात्य आलोचना की नई प्रवृत्तियाँ : टी. एस इलियट और नई आलोचना–रामसेवक सिंह, शिकागो समीक्षक–डॉ राजनाथ नाथ पकाई के मूल रूपकीय आलोचना सिद्धान्त–शिवमूर्ति पाण्डेय, तलघर (कविता)–प्रमोद सिनहा, प्रासंगिकी · युवा पीढ़ी : आहत होते जाने और किये जाने की प्रतिशिद्ध जिजीविषा का नामांकन–हृषीकेश।

पूर्णांक ४५ जनवरी-मार्च १६६६

गालिब के याद में, एक खत गालिब के नाम (कविता) कैलाश वाजपेयी, गालिब मेरी दृष्टि में–शमशेर बहादुर सिंह, गालिब की महत्ता–ख्वाजा अहमद फारुकी, गालिब की आधुनिकता–अहमद हुसेन, गालिब और सन् सत्तावन की राज्य क्रान्ति–कुँवर मोहम्मद अशरफ, मिर्जा गालिब अन्तर्विरोधों के बीच–विश्वनाथ त्रिपाठी, गालिब की फारसी कविता–नूरूल हसन अन्सारी, गालिब का व्यंग्य और हास्य–कमर रईस, गालिब के गद्य के नये आयाम–काजी अब्दुल सत्तार, गालिब और सर सैयद–फारूख जलाली, तुम्हें हम बली समझते–रियाज पंजाबी, गालिब हिन्दी में–राजेन्द्र शर्मा, अगले झूठ के लिए (कविता)–मंगलेश डबराल, लोकतन्त्र के खिलाफ–त्रिनेत्र जोशी, समकालीन कविता : अन्धेरे से साक्षात्कार–सुरेन्द्र चौधरी सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा मलयज कविता की भाषा

नारी : एक विवेचन—रसिक बिहारी, राष्ट्र कवि सुब्रमण्य भारति—ना राम सुब्रमण्यम मगही का नया साहित्य—आ. रामनरेश मिश्र, विश्व साहित्य : ब्रेख्त ' आधुनिक यूरोपीय साहित्य का एक महान व्यक्तित्व—सु. माहेश्वरी।

आलोचना' : सम्पादक—नामवर सिह

पूर्णांक ३८ नवांक : अप्रैल १९६७

सम्पादकीय : संवाद—चुनाव के बाद का भारत, निबन्ध : नवलेख में राजनीतिक स्थान—ओमप्रकाश दीपक, आज के साहित्य में आक्रामकता—अशोक वाजपेयी स्वतंत्रता के बाद का संकट और मैं—रघुवीर सहाय, साहित्य—विश्लेषण का सघटनात्मक दृष्टिकोण—रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, कविता में मूल्य और अर्थ . एक विश्लेषण—मलयज।

पूर्णांक ३९ नवांक ५ जुलाई-सितम्बर १९६७

हजारी प्रसाद द्विवेदी विशेषांक

सम्पादकीय : संवाद 'आलोचना' की भाषा, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से एक भेट—मनोहर श्याम जोशी, संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक समीक्षा पद्धति—रघुवंश, भाषा वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका—रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव, नयी काव्य समीक्षा की सम्भावना—परमानन्द श्रीवास्तव, आक्रोश की भाषा और भाषा का आक्रोश—सुरेन्द्र चौधरी।

पूर्णांक ४० नवांक ३ (अक्टूबर-दिसम्बर १९६७)

सम्पादकीय : संवाद : रोमांटिक काम आधुनिक, ब्रेख्त—रंगमंच . संस्कृत नाटको पर एक नई दृष्टि—लोठा लुट्से, निबन्ध : वर्तमान सर्जना और दायित्व बोध—नित्यानन्द तिवारी, मूल्य—परिवर्तन : मानविकी के संदर्भ में—कुमार विमल , पौराणिक प्रसंग और आधुनिक संवेदना—सिद्धनाथ कुमार, रचना और आलोचना—कमलाकान्त पाठक।

पूर्णांक ४१ नवांक ४, जनवरी मार्च १९६८

सम्पादकीय : संवाद : युवा लेखन पर एक बहस, गोर्की की जन्मशती पर गोर्की और यथार्थवाद—भीष्म साहनी, मक्सिम गोर्की और हिन्दी साहित्य—भारतभूषण अग्रवाल, आन्द्रेइवोज्नेसिंस्की की कविताएं : गोया पहला वाला—अनु. कैलाश वाजपेयी, निश्चल निस्तब्ध : तुम आपनी चाची के यहाँ रहती हो—भारत भूषण अग्रवाल।

पूर्णांक ४२ नवांक ५ अप्रैल-जून ६८

काव्य की रचना प्रक्रिया—मुक्तिबोध, काव्यभाषा और शैली विज्ञान—रवीन्द्र श्रीवास्तव सम्प्रेषणीयता कुछ कथन : साधारणीकरण का द्वन्द्व न्यास—रमेश कुन्तल मेघ पहले से,बस,फैलाव(कविता)—कान्ता, नैतिक मूल्य—यशदेवशल्य, भारतीय परिप्रेक्ष मराठी नवलेखन और विद्रोह प्रभाकर माचवे तेलगू की दिगम्बर पीढी ए
५० के लेखक ट और खरर्ल

नाव (बंगला)– सन्दीपन चटोपाध्याय।

पूर्णांक ४३ जुलाई-सितम्बर १६६८

सम्पादकीय · संवाद–कविता और राजनीति, आवश्यक निर्णय–पीटर वाइस, तानाशाही ने विरुद्ध एक वक्तव्य–रघुवीरसहाय, विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर (कविता)–गजानन– माधव मुक्तिबोध, मुक्तिबोध के पत्र–नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध एक संस्मरण–हरिशंकर परसाई, मुक्तिबोध की सार्थकता–श्रीकान्त वर्मा, कहानीकार मुक्तिबोध : कौन मनु? –अन्येश्का सोनी, 'अंधेरे में' तथा मुक्तिबोध की अन्य कविताएँ–एक अन्तसुत्र–विष्णुखरे, मुक्तिबोध और अज्ञेय के काव्य बिम्ब–रणजीव–और इरशाद–अब्दुल वाजिद, इस व्यवस्था मे (कविता)–लीलाधर जगूड़ी, आज की कविता का व्याकरण : कुछ संकेत सूत्र–काशीनाथ सिंह, विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता–विष्णुचन्द्र शर्मा, अच्छे गद्य की पहचान–रामविलास शर्मा, देखो न हकीकत हमारे समय की (कविता)–विश्वनाथ त्रिपाठी, कलात्मक प्रतिभा–दि. के. बेडेकर, स्वतंत्रता का स्वरूप– यशदेव शल्य।

पूर्णांक ४४ : अक्टूबर-दिसम्बर १६६८

काव्यभाषा और काव्येतर भाषा–विद्यानिवास मिश्र, चीर–फाड़ (कविता)–भारत भूषण अग्रवाल, संत्रास का आतंक–भीष्म साहनी, दीवार–परमानन्द श्रीवास्तव कामायनी · एक असफल कृति–इन्द्रनाथ मदान, शुक्लोत्तर आलोचना : एक विश्लेषण–नित्यानन्द तिवारी, पाश्चात्य आलोचना की नई प्रवृत्तियाँ : टी. एस इलियट और नई आलोचना–रामसेवक सिंह, शिकागो समीक्षक–डॉ. राजनाथ, नाथ पकाई के मूल रूपकीय आलोचना सिद्धान्त–शिवमूर्ति पाण्डेय, तलघर (कविता)–प्रमोद सिनहा, प्रासंगिकी : युवा पीढ़ी : आहत होते जाने और किये जाने की प्रतिशिद्ध जिजीविषा का नामांकन–हृषीकेश।

पूर्णांक ४५ जनवरी-मार्च १६६६

गालिब के याद में, एक खत गालिब के नाम (कविता) कैलाश वाजपेयी, गालिब मेरी दृष्टि में–शमशेर बहादुर सिह, गालिब की महत्ता–ख्वाजा अहमद फारूकी, गालिब की आधुनिकता–अहमद हुसेन, गालिब और सन् सत्तावन की राज्य क्रान्ति–कुँवर मोहम्मद अशरफ, मिर्जा गालिब अन्तर्विरोधों के बीच–विश्वनाथ त्रिपाठी, गालिब की फारसी कविता–नूरूल हसन अन्सारी, गालिब का व्यंग्य और हास्य–कमर रईस, गालिब के गद्य के नये आयाम–काजी अब्दुल सत्तार, गालिब और सर सैयद–फारूख जलाली, तुम्हें हम बली समझते–रियाज पंजाबी, गालिब हिन्दी में–राजेन्द्र शर्मा, अगले झूठ के लिए (कविता)–मंगलेश डबराल, लोकतन्त्र के खिलाफ–त्रिनेत्र जोशी, समकालीन कविता · अन्धेरे से साक्षात्कार–सुरेन्द्र चौधरी सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा मलयज कविता की भाषा —— श्रीवास्तव

पूर्णांक ४६ अप्रैल जून १९६९

चार अफ्रीकी कविताएँ · प्रस्तुतकर्ता–विद्यानिवास मिश्र, शब्द अर्थ : भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि–विद्यानिवास मिश्र, अतिस्तत्ववाद और नई कविता–रामविलास शर्मा, अस्तित्ववाद और सौन्दर्यशास्त्र–रामकुमार विमल, आज की कविता : कुछ मौलिक सवाल–रामदेव आचार्य, दो कविताएँ–शिवकुटी लाल वर्मा।

पूर्णांक ४७ जुलाई-सितम्बर १९६९

लेनिन · एक साहित्यिक सिद्धान्तकार के रूप में–स्तेफान मोरावस्की, चार कविताएँ, व्यक्तिगत विरोधाभास–विष्णुचन्द्र शर्मा, भारतीय काव्यशास्त्र की नई व्याख्या–राममूर्ति त्रिपाठी, कविकर्म : सौन्दर्य का उत्स–विजेन्द्र नारायण सिह चौराहे पर ग्रीनबीच का एकालाप–श्रीराम वर्मा, चिति की लीला में प्रतीक का प्रकार्य–रमेश कुन्तल मेघ, एक चीज के लिए–विष्णु खरे।

पूर्णांक ४८ : अक्टूबर-दिसम्बर १९६९

अब वक्त आ गया है–अशोक वाजपेयी, संवाद : विश्वविद्यालय और साहित्य शिक्षा, सम्पूर्ण साहित्य के भाव का विकास–रामस्वरूप चतुर्वेदी, शिक्षण के उद्देश्य में परिवर्तन–देवेन्द्रनाथ शर्मा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता–विश्वनाथ त्रिपाठी, कविता के अध्यापन की रूढ़ियां–परमानन्द श्रीवास्तव, परिप्रेक्ष्य का विस्तार–रमेश कुन्तल मेघ, पिता के लिए एक कविता–मंगलेश डबराल, गुरुनानक देव–हजारी प्रसाद द्विवेदी, गुरुनानक देव एक सामयिक मूल्यांकन–अतर सिंह, बाजार में–रमेश कुन्तल मेघ, मुद्राओं की भाषा तथा विद्रोह की व्यावसायिकता–विजयमोहन सिंह, मार्क्सवाद और समकालीन विचारधारायें–सुरेन्द्र चौधरी, साहित्यिक द्वन्द्व . गुप्त : द्विवेदी संघर्ष के सदर्भ मे–विष्णुकान्त शास्त्री, श्वेदवाद के अंधेरे में नीग्रो चेतना–जॉन एल कपूर, केलिश कवि म्विग्नि एव की पाच कविताएँ–अनु. गिरिधर राठी।

पूर्णांक ४९ : जनवरी-मार्च १९७०

विचारों से विदाई पर एक अभिभाषण–अशोक वाजपेयी, पांच कविताएँ–मलयज बिम्ब प्रक्रिया–रामस्वरूप चतुर्वेदी, एक तरह से देखो तो–विपिन कुमार अग्रवाल साहित्य क्यों ? –नित्यानन्द तिवारी, लेखक और आलोचक · विकासमानता का प्रश्न–देवराज, भाषा और सृजनशीलता–रमेशचन्द्र शाह, बिल्कुल वही–प्रभात कुमार त्रिपाठी, आधुनिक त्रासदी · बलिदान और क्रान्ति–रमेश कुन्तल मेघ एब्सर्डिटी : साम्प्रदायात्मक विश्लेषण–देवकी नन्दन द्विवेदी, ओसिप भेद लस्तय की पांच कविताएँ–कमलेश, परिवर्तित नैतिकम मूल्य और साहित्यकार की स्थिति–यशदेव शल्य, वक्रोक्तिसिद्धान्त आधुनिक परिप्रेक्ष्य–विजेन्द्रनारायण सिह अपूर्व ज्यामिति से बाहर विजय सोनी की चित्र प्रदर्शनी पर शमशेर बहादुर सिह

साहित्य में लेनिन–ई. चेलिशेव, जो शब्दों की घटनाओं को सुलगाता था–विश्वनाथ त्रिपाठी, लेनिन के दो पत्र गोर्की के नाम–डेविड एम. मार्गोलीज, लेनिन की एक समीक्षा–डेविड एम. मार्गोलीज, फाडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति–डेविड एम मार्गोलीज, यथार्थवाद मिथक और सृजनशीलता–रोजगारोदी, पार्टी साहित्य और समाजवाद–अर्नस्ट फिशर, जार्ज लुकाव के साथ इंटरव्यू–इस्तवान साइमन एव डर्विरन जित्थनि, अलेक्सदिर सेंको विंचकी पांच कविताएँ, निकोलाइ जिमोव्येव की तीन कविताएँ मार्कश्चेग्लोव : एक प्रतिभाशाली रूसी आलोचक–८० लब्शिन कुमार विमल की चार कविताएँ, हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों के बीच–शिवदान सिंह चौहान, इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता–रमेश कुन्तल मेघ, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद–सुरेन्द्र चौधरी, रेजीदेने और सशस्त्र क्रान्ति की समस्याएँ–जोआ कारलीम, प्रासंगिकी साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे–प्रभातकुमार त्रिपाठी

पूर्णांक ५१ : जुलाई-सितम्बर १६७०

मुक्तिबोध मूल्यांकन–परिचर्चा– इन्द्रनाथ मदान, चार कविताएँ–केदारनाथ सिह मुक्तिबोध का आत्म संघर्ष . अपरपक्ष–जगदीश शर्मा, टेबिल–विष्णु खरे, मुक्तिबोध ा शुद्ध प्रगतिवादी थे–जगदीश कुमार, जार्ज लुकाव से एक भेंट, दो कविताएं–नाजिया हिकमत, शास्त्रीयतावादी समीक्षक पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–विष्णुकान्त शास्त्री, दो कविताएँ–विजयदेव नारायण साही, काव्य भाषा का स्वरूप–विजेन्द्रनारायण सिंह, एक आध बार–कृष्णकुमार, लेखक ओर मानवीय दायित्व–नवल किशोर।

पूर्णांक ५२ : अक्टूबर-दिसम्बर १६७०

मार्क्स और एंगेल्स के सौन्दर्यशास्त्रीय विचार–स्टेफान मोरोव्सकी, घर संभलते हुए (कविता)–लीलाधर जगूडी, भाषा की काव्य मुक्ति–रमेशचन्द्र शाह, कविता सही भाषा की तलाश–विजेन्द्र, वापसी(कविता)–कुमार विकल, बेकेट के साथ एक शाम–कैलाश वाजपेयी, बर्तोल ब्रेख्त की दो कविताएँ–रणजीव, हिन्दी पत्रकारिता की पृष्ठभूमि–बतरोही, दो कविताऍ–श्रीराम वर्मा, अफ्रीकी कथा–साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ–आनन्द स्वरूप वर्मा, क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद–विलीयामसन, मतदान से पहले (कविता) –त्रिनेत्र जोशी, साहित्य और सहृदय–सरनाथ सिंह शर्मा 'अरुण'।

पूर्णांक ५३ : जनवरी- मार्च १६७१

कमलेश की चार कविताएँ, आधुनिक भारतीय लेखन का संकट–श्रीकान्त वर्मा, दर्शन : एक क्रान्तिकारी अस्त्र के रूप में–अनु. गोपाल भारद्वाज, निकानोर पाराकी कविताएँ प्रस्तुतकर्ता–विष्णु खरे, मानवतावादी सौन्दर्य शास्त्र की परिकल्पना–नवल किशोर, नाट्यशास्त्र एवं सांख्य दर्शन में–दि. के वेडकर सिद्धों का रस सौन्दर्य –योगाचार–रमेश कुन्तल मेघ, रचनात्मक समीक्षा और भारतीय काव्यशास्त्र–राममूर्ति तिवारी, दो कविताऍ–श्याम किशोर सिंह, नाट्यकला दृष्टि मनोहर काले से कविता तक एक

अंतयात्रा–ग्रेगरी क्रोमों, एक शरीफ इन्सान और इन्सानपरस्त लेखक–शिवदान सिंह चौहान।

पूर्णांक ५४ : अप्रैल-जून १६७१

लेखक, उत्पादक के रूप में–वाल्टर बेंजामिन, प्लाट का मोर्चा–विजेन्द्र मुक्तिबोध का मानवतावाद–ओमप्रकाश ग्रेवाल, काव्य की रचना प्रक्रिया और मुक्तिबोध–आनन्द प्रकाश दीक्षित, आधुनिक अफ्रीकी कविता–विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, हिन्दी कविता और हिन्दी गद्य : सही परिप्रेक्ष्य का सवाल–रमेश चन्द्र शाह, आ. शुक्ल और क्रोचे का अभिव्यंजनावाद–रामकृपाल पाण्डेय, समीक्षा और सृजन–प्रेमशंकर, काव्य के संदर्भ में कुछ प्रश्न और कुछ अनुभाव–दिलीप चित्रे आधुनिकता और समकालीन कविता–इन्द्रनाथ मदान, कविता : बंगला देश के कवि शमसुर्रहमान की तीन कविताएं–प्रस्तुतकर्ता– विष्णुकान्त शास्त्री, हासभाग्नुज खंजे सवर्गर की पाँच कविताएँ– मंगलेश डबराल, चार कविताएँ–चन्द्रकान्त देवताले, तवरोध में–परमानन्द श्रीवास्तव, लावारिस चौबे–लामोश करिशाक।

पूर्णांक ५५ : जुलाई-सितम्बर १६७१

सम्पाकीय जार्ज लुकाव, लेख : जार्ज लुकाव के जीवन की प्रमुख घटनाएँ यथार्थता के परम आग्रही जार्ज लुकाव–इ. वान. इरोसी, जार्ज लुकाव के साथ एक अंतरंग वार्ता, कला और वस्तुपरक सत्य–जार्ज लुकाव, भारतीय लेखक की समस्या–शिवदान सिंह चौहान, शुद्ध साहित्यिक मूल्यों का प्रश्न–निर्मला जैन नागार्जुन का काव्य–पवन कुमार मिश्र, कला कालजयी क्यों ?–जेरेमी हार्थर्न साहित्यानुशीलन में विचारधारा की ख्याति–फ्रेडरिक क्रूच।

पूर्णांक ५६ : अक्टूबर-दिसम्बर १६७१

पाब्लो नेरूदा–सम्पादकीय, पाब्लो नेरूदा की आठ कविताएँ–अनु. कमलेश भाषा और साहित्य–अशोक रा. केलकर, रचना प्रक्रिया–बटरोही, ऑसू की प्रयोगशाला में प्रसाद–रमेशचन्द्र शाह, मैक्सिम गोर्की अप्रासंगिक ?–गिरधर राठी, इंथर विटर्ज और नई आलोचना–शिवमूर्ति पाण्डेय, अनुभूति और सहानुभूति–मैनेजर पाण्डेय, आधुनिकता और समकालीन कहानी–इन्द्रनाथ मदान हिन्दी कहानी पर मार्डव रोडारमल के विचार–काशीनाथ सिंह।

पूर्णांक ५७ : जनवरी-मार्च १६७२

लूसिएँ गोल्डमान–सम्पादकीय, साहित्य का समाजशास्त्र : इतिहास, वर्तमान स्थिति और पद्धति मूलक, समस्या–लेसिए गोल्डमान (अनु. कमलेश), सौन्दर्यशास्त्र संज्ञा की उपयुक्तता का प्रश्न–जगदीश शर्मा, ब्राह्मण और शूद्र प्रथा : कन्नड़ संदर्भ में–अनन्त मूर्ति, कला सृजन में परम्परा और प्रतिक्षा–मैनेजर पाण्डेय उपन्यास–मानवीय स्वतंत्रता का कथा–बिम्ब– नवल किशोर, भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमानों का नई संभावनाओं में संचार–राममूर्ति त्रिपाठी, आ. शुक्ल पर विज्ञान का प्रभाव–रामकृपाल पाण्डेय, नयी कविता : भारतीय मनुष्य के संदर्भ में गोविन्द द्विवेदी।

पूर्णांक ५८ : अप्रैल-जून १९७२

प्रेषणीयता का प्रश्न—प्रेमशंकर, रीति विज्ञान की नयी पुरानी भूमिका—विद्यानिवास मिश्र, संस्कृत वागमय में अश्लीलता—विचार—अ. र. हर्डीकर, छायावाद सप्तिकाव्य—रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रतिबद्धता और अजनबीपन—कुछ दूसरी मुद्राएं—परमानन्द इतिहास —चिन्ता और मुक्तिमार्ग—कमलेश, कला और क्रान्ति—हरबर्ट मारकूस आ हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचना—भूमि— विश्वनाथ त्रिपाठी, मिथक : अन्तर्मन का सृजनशील सांस्कृतिक द्वन्द्व—शम्भूनाथ, साहित्य की वर्तमान विधाओं का भविष्य—मिर्सिया मलिक, मुक्त छन्द का उद्भावन और उसकी पहचान—शिवमंगल।

पूर्णांक ५९ : जुलाई-सितम्बर १९७२

लेख : समकालीन कविता में आजादी की तसवीर—भारतभूषण अग्रवाल, काडवेल की नई कृति — रोमांस एण्ड रियलिज्म—मैनेजर पाण्डेय, हिन्दी गद्य की जातीय प्रवृत्ति : एक ऐतिहासिक विश्लेषण—रामचन्द्र तिवारी, सौन्दर्यशास्त्र और समीक्षा—जगदीश शर्मा, आधुनिक कहानी—वटरोही, नागार्जुन के उपन्यास—मधुरेश, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी —उपन्यासों में व्यक्ति प्रतिष्ठा— हेमेन्द्र कुमार पानेरी , रक्तबीज—राजेन्द्र यादव, कथा साहित्य और निजता का संदर्भ—नित्यानद तिवारी, 'छायावाद' और पं. मुकुटधर पाण्डेय—नंद किशोर नवल, यथार्थ की पकड़ और काव्य—भाषा का गठन— रेखा खरे,, एक चर्चित नाटक . सखाराम वाईण्डर—डॉ. विजय बापट।

पूर्णांक ६० : अक्टूबर-दिसम्बर १९७२

काव्यभाषा का प्रश्न—पाश्चात्य भाषा के प्रसंग में—रमेश चन्द्र शाह, न यो न त—हरद्वारी लाल शर्मा, लुशुन : सामाजिक संदर्भों की वैज्ञानिक व्याख्या—सदाशिव द्विवेदी, समकालीन रचना में स्वतंत्रता का अर्थ—श्री कान्त वर्मा, पाश्चात्य प्रभावो के संदर्भ में वर्तमान काव्यभाषा की समस्या—विजयदेव ना. शाही, भारती काव्यशास्त्र नई व्याख्या—राममूर्ति त्रिपाठी, काव्य में बिम्ब विधान : आधुनिक कविता के सदर्भ में—टी. म. रेड्डी, नयी कविता : स्त्री पुरुष सम्बन्धों के सिलसिले मे —गोविन्द द्विवेदी, हिन्दी कहानी का सातवाँ दशक : नया जीवन—बोध नयी सोच तथा नयी मानसिकता—डॉ. रमेश तिवारी, राजाराम मोहन राय के जन्म का वर्ष—चित्तरंजन वन्द्योपाध्याय।

पूर्णांक ६१ : जनवरी-मार्च १९७३

'नगर महरा' —त्रिलोचन शास्त्री, संरचनात्मक मानवशास्त्र के जनक क्लोद लेबी—स्त्रोस के साथ एक अंतरंग वार्ता—आन्दे आंकू, फास्था मोरे और ज्याक मोसू, भारतेन्दु युग और उर्दू—रामविलास शर्मा, यशपाल : कुछ पत्र और—मधुरेश, स्वातंत्र्योत्तर पंजाबी कविता—एक दृष्टिकोण—अतर सिंह, ज्याँ पाल सार्त्र—सांस्कृतिक ह्रास के प्रश्न पर परिसंवाद, अर्नस्ट फिशर : सांस्कृतिक ह्रास के प्रश्न पर परिसवाद एड्अर्ड गोल्ड स्टइकेर सास्कृतिक ह्रास के प्रश्न पर परिसवाद मीर्लों कदेरा—सास्कृतिक ह्रास के प्रश्न पर परिसवाद प्रतिबद्धता

संदर्भ के साथ–अरुण माहेश्वरी, एक सामरिक चुप्पी–कुमार विकल, भाषा दर्शन और भारतीय चिन्तन–विद्यानिवास मिश्र, वर्णगीत का मर्म–महादेवी– रमेश चन्द्र शाह।

पूर्णांक ६२ : अप्रैल-जून १६७३

साहित्य और आस्था–निर्मला वर्मा, साहित्य और समाजशास्त्र–माल्कम ब्रेडवरी : आ. जगदीश शर्मा, साहित्य कल्पना और समाजशास्त्रीय कल्पना–रिचर्ड हामर्ट–अनु मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और समाजशास्त्र– रेमण्ड विलियम्स–अनु रामकृपाल पाण्डेय, दो डायरियां और अपनी कविता एक संवाद–रामदेव आचार्य उपन्यास और संदर्भ– राजेन्द्र यादव, परिचित तथ्यों का आत्मीय और कलात्मक अध्ययन–मधुरेश, गोविन्द उपाध्याय की तीन कविताएँ, भावुक समीक्षक क्रान्तिप्रिय द्विवेदी–विष्णुकान्त शास्त्री, सवाल जनभाषा का काव्यभाषा का–सदाशिव द्विवेदी समकालीन कविता का सही सेहरा–डॉ नन्दकिशोर नंदन, पिकासो : कला विषयों का संकट–रमेश, सामंती समझ और स्वायत्त अनुभव–खंड– नेमिचन्द उपन्यास की पारस्परिक अवधारणा की स्वीकृति के बावजूद–परमानन्द श्रीवास्तव एक ऐतिहासिक विभीषिका का–भारत भूषण अग्रवाल, पीड़ा और अस्तित्व का प्रमाण–गीता कपूर, कृतियों की राहों से आधुनिकता के पड़ाव तक–बच्चन सिंह।

पूर्णांक ६३ : जुलाई-सितम्बर १६७३

एक सांस्कृतिक नीति के आयाम–ज्योति स्वरूप सक्सेना, सरोज स्मृति' और निराला– मलयज, चार कविताएँ–गिरधर राठी, आ. शुक्ल की भाषा की पहचान–शम्भूनाथ त्रिपाठी, आधुनिकता और नाट्य आलोचना–इन्द्रनाथ मदान घर के बारे में दो कविताएँ–मंगलेश डबराल, समसामयिक मराठी कविता–चन्द्रकान्त पाटील, समसामयिक आज मराठी कविता– एक संचयन–अनु चन्द्रकान्त पाटील भारतेन्दु और हिन्दी–राम आधार सिंह, आज की दुनिया में फिल्म–विनोद भारद्वाज, परिसंवाद–देवेन्द्र कुमार, कलात्मक बिम्ब : कुछ विचार–भत्रि रेड्डी, राजा निरवसिया 'से राजा निर बंसिया' तक–विजयमोहन सिंह, खत्म हो जाने का भय–विजय मोहन सिंह, सार्थकता से परे–देवेन्द्र मोहन, इतिहास के अजायबघर में महादेवी के लेखों का आलोचनात्मक यथार्थवाद–रेखा अवस्थी।

पूर्णांक ६४ : अक्टूबर-दिसम्बर १६७३

सम्पादकीय : समसामयिक सिन्धी कविता : कुछ नोट्स–मोती लाल जोतवाणी, लेख : गद्य की सत्ता–रामस्वरूप चतुर्वेदी, साहित्य सृजन और कुछ विचारधारायें–मधुसुदन बख्शी, समीक्षा के नये प्रतिमान–जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, भारत संक्रान्ति में–संदर्भ दार्शनिक परिस्थिति–यशदेव शल्य, छायावादी काव्यभाषा के अध्ययन की समस्याएँ– परमानन्द श्रीवास्तव, भुनेश्वर : एक सर्वथा आधुनिक और सर्जनात्मक व्यक्तित्व–गिरीश रस्तोगी, सेंघोर की तीन कविताएँ–टिप्पणी एवं अनुवाद–सुरेश सलिल।

वर्ष—नवांक २८ पूर्णांक ६५ जनवरी—मार्च १९७४

पूर्णांक ६६ अप्रैल-जून १९७४

सम्पादकीय : संवाद, आज की स्थिति में प्रगतिशीलता, प्रगतिवाद : मूल्य और आन्दोलन नये सदर्भ में—मुरलीमनोहर सिंह, प्रगतिशीलता का अर्थ : सर्वहारा संभावनात्मक तादात्म्य—विश्वनाथ त्रिपाठी, विघटनकारी बुद्धि विलास के बजाय क्रान्तिकारी एकता—शिवमंगल सिह, विभ्रमों और यांत्रिका चिन्ताओं का एक और दौर—डॉ माहेश्वर, प्रगतिशील आन्दोलन : जातीय संस्कृति के तत्व—सुरेन्द्र तिवारी, कट्टरपंथी मनोवृत्ति के खतरे—भीष्म साहनी, क्रान्तिकारी नवाब मे प्रतिक्रान्तिकारी चेहरे—गंगाप्रसाद विमल, वामपंथ और साहित्य में संयुक्त मोर्चा—सुरेन्द्र चौधरी, अकाम के साथ अनुभवो की साझेदारी और मयोप्रोग्रेसिविज्म—डॉ मु. हसन, प्रगतिवादी लेखन की भूमिका—सुधी, प्रगतिशील कविता का कार्य—शमशेर बहादुर सिंह, क्रान्तिकारी साहित्य सृजन में मध्यवर्ग की भूमिका—संजीव सक्सेना, प्रगतिवाद—युगव्याप्ति तथा अन्तर्विरोध—रेखा अवस्थी भाषा, गणितात्मक भाषा सूत्रात्मक भाषा और काव्या. भाषा—विद्यानिवास मिश्र निष्कर्षों की यांत्रिकता से युक्त पूर्वाग्रह रहित उदार दृष्टि— मधुरेश।

पूर्णांक ६७, जुलाई-सितम्बर १९७४

पूर्णांक ६८ : अक्टूबर-दिसम्बर १९७४

सम्पादकीय, संस्कृति के मार्क्सीय सिद्धान्तों में आधार और ऊपरी ढाँचे की सार्थकता—रेमंड विलियम्स, सर्जनात्मक आलोचना—परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन लेखन : प्रेषणीयता का नया संदर्भ—नन्द भारद्वाज, राही का आधा गाँव और भारतीय मुसलमानों का संकट—इन्दुप्रकाश पाण्डेय, शैली विज्ञान और काव्य का अध्ययन— कृपाशंकर सिंह।

पूर्णांक ६९ : जनवरी-मार्च ७५

लेख : जार्ज लूकाव के विरोध—वोल्ट ब्रेस्ट, सजग भाषा का रचना में स्वीकार और अतिक्रमण—परमानन्द श्रीवास्तव, कहानी परत—दर—परत— पवन कुमार मिश्र, राजीनिति और समकालीन कविता—नन्द किशोर नवल, मानव—स्वातंत्र एवं अस्तित्व का प्रश्न— मार्क्सवादी विश्लेषण—श्रीराम पाठक, वर्तमान सांस्कृतिक साहित्यिक स्थिति —रामवक्ष, सौन्दर्यशास्त्र का वैज्ञानिक दृष्टिकोण—सदाशिव द्विवेदी, असौन्दर्य— संवेदनाशास्त्र की परिकल्पना—गुरुचरण सिंह मोगिया, नाट्याध्ययन : परम्परा से प्रयोग की ओर—सत्येन्द्र कुमार तनेजा।

पूर्णांक ७० : अप्रैल-जून ७५

पूर्णांक ७१ : जुलाई-सितम्बर ७५

पूर्णांक ७३ : जनवरी-मार्च ७६

लेख : साहित्य का इतिहास क्या है ?—मैनेजर पाण्डेय, 'जासु काल को दंड' तुलसी की सामाजिक चेतना—रमेश कुन्तल मेघ, कविता और मनुष्य के प्रति रुख—परमानन्द श्रीवास्तव, चालू भूगोल से हटकर—वागीश शुक्ल. विपात्र—चन्द्रकान्त वान्दिवडेकर सृजन और यथार्थ बोध—त्रिलोक तुलसी।

पूर्णांक ७४ : अप्रैल-जून १९७६
लेख : समकालीन इतिहास–विरोधी साहित्य चिन्तन–मैनेजर पाण्डेय, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और साहित्यिक इतिहास–लूसिये गोल्डमान, समकालीन कविता और सामाजिक यथार्थ–विजेन्द्र, श्रीकान्त वर्मा की कविता–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कामायनी : अभिप्रायों की परतें–जगदीश शर्मा, हिन्दी गद्य मे युगान्तर और भगवत शरण उपाध्याय–जयशंकर त्रिपाठी, लेखक का दायित्व–आरित्रपूडि प्रासंगिकता का प्रश्न–गंगाप्रसाद विमल, रोशनी की तलाश में हिन्दी रगमंच–चन्द्रमोहन, आधुनिक नाट्यालोचन–नरनारायण राय।

पूर्णांक ७५ : जुलाई-सितम्बर ७६
लेख : संरचना वाद और साहित्य का इतिहास–मैनेजर पाण्डेय, प्रगतिशील साहित्य और रूप की समस्या–नन्द किशोर नवल, आलोचक–एक साक्षी भोक्ता–अशोक रा. केलकर, संस्कृति बोध–एक और स्पष्टीकरण–देवराज, कविता की कला–पाब्लो नेरूदा से एक बातचीत–अनु. मंगलेश, मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि : वस्तु और रूप के संदर्भ में–लल्लन राय, नयी कहानी का सांस्कृतिक परिवेश–रामवृक्ष, समकालीन कहानी–उदय प्रकाश, आज की हिन्दी कहानी–इन्द्रनाथ मदान।

पूर्णांक ७६ : अक्टूबर-दिसम्बर १९७६
पूर्णांक ७७ : जनवरी-मार्च १९७७
लेख : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण–रामविलास शर्मा, हिन्दी आलोचना–दो धाराएँ–नंद किशोर नवल, आलोचना और इतिहास–मैनेजर पाण्डेय काव्य–बिम्ब– सुरेन्द्र वारजिंगे, नानक धारा की ऐतिहासिक मूल्य–गुरुचरन सिह, लुशुन की नातिदीर्घ टिप्पणियाँ–प्रस्तुतकर्ता–अलखनारायण।

पूर्णांक ७८ : अप्रैल ७ जून १९७७
लेख :, हिन्दी की जातीय पत्रिका सरस्वती–रामविलास शर्मा, अछूत की शिकायत (हीरा डोम) प्रस्तुत कर्ता–रामविलास शर्मा, आ. रामचन्द्र शुक्ल–नन्द किशोर नवल, काव्य संसार और शैली विज्ञान–रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव, शैली विज्ञान अध्ययन की अवधारणा–कृपाशंकर सिंह, टी एस. एलियट का संवेदना पृथक्करण सिद्धान्त–राजनाथ,, जगदीश चन्द के उपन्यास–भगवान सिंह, रस : पुनर्दृष्टि की प्रासंगिकता–प्रभाकर श्रोत्रिय, समकालीन कहानी संरचना–श्रीमती जगन सिह, अमरकान्त की कहानियाँ–विजमोहन सिंह।

पूर्णांक ७९ : जुलाई-सितम्बर १९७७
लेख ', राष्ट्रीय विकास के सांस्कृतिक आयाम–पूरनचन्द जोशी, संसर्गगत काव्य संसार–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, काव्यशास्त्र और साहित्य–चिन्तन– रामस्वरूप चतुर्वेदी, सरस्वती में संस्कृति (१९००–१९२०)–रामवक्ष, शमशेर : भावसाध्य पावनता–प्रभाकर श्रोत्रिय, डॉ. रामविलास शर्मा की कविताएँ–नारायण, गुजराती के कवि– महावीर सिह चौहान नाट्य समीक्षा नयी

क्षितिज की खोज–नरनारायण राय, मार्क्सवादी समीक्षा : समसामयिक परिदृश्य पर कुछ टिप्पणियॉ–मोतीलाल।

पूर्णांक ८० : अक्टूबर-दिसम्बर ७७

देखता जो हूँ (उपन्यासाश)–सुमित्रानन्दन पंत, पंत जी की दो अप्रकाशित कविताएँ, नयी चेतना का महान गायक चला गया–हजारी प्रसाद द्विवेदी, पंत जी की परवर्ती कविताएँ–केदारनाथ सिंह, पंत जी का रूवाभ–नामवर सिंह, आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र –बच्चन सिंह, आशा के लिए पॉच कविताएँ–विष्णुचन्द्र शर्मा, अर्धक्रियापेक्ष काव्यूम– मनोहर, हरूद्दीन–ऋतुराज, शाब्दिक सौन्दर्य, कथावस्तु और शैली विज्ञान–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, गद्य संरचना के शैली वैज्ञानिक अध्ययन में शैली चिन्ह–विचारण का प्रयोग–कृष्णकुमार श्रीवास्तव, कविता और मानक भाषा के आपसी रिश्ते की पहचान और सर्जनात्मक समीक्षा कृपांशकर सिह, दो कविताएं–परमानन्द श्रीवास्तव, हिन्दी आलोचना मे समन्वयवाद–नन्दकिशोर नवल, कुँवरनारायण : आत्मजयी की सारस्वत प्रज्ञा–प्रभाकर श्रोत्रिय, दो कविताएं–नन्द चतुर्वेदी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कविता केवल कविता नहीं (लीलाधर जगूडी की कविता)–परमानन्द श्रीवास्तव, मुक्तिबोध–मूल्यांकन के नये आयाम–रंजना जोशी, दो कविताएँ–रवीन्द्र भारती, समकालीन हिन्दी कविता में विद्रोह–गोविन्द रजनीश, स्वतंत्रता पूर्व की प्रतिबन्धित बंगला कविता–माहेश्वर, आधुनिकता और सस्कृति–गंगा प्रसाद विमल, कहानी से बदलते समीकरण और अज्ञेय–गिरिराज किशोर।

पूर्णांक ८४ : अक्टूबर-दिसम्बर ७८

लेख · हिन्दी की परवर्ती आलोचना–नंद किशोर नवल, हिन्दी उपन्यास का भविष्य–राजेन्द्र यादव, सौन्दर्य का समाधि–लेख– 'प्रलय की छाया'–निर्मला जैन, वर्ण व्यवस्था, नारी और भक्ति आन्दोलन–विश्वनाथ त्रिपाठी नाट्य रचना विधान और जीवन सन्दर्भ नर नारायण राय, आचार्य शुक्ल की समाजोन्मुख दृष्टि–किशोर लाल व्यास, हिन्दी कहानी का अजनबी संसार और मानवीय अस्तित्व का सवाल–अचला शर्मा।

पूर्णांक ८५ : जनवरी-मार्च ७६

पूर्णांक : ८६-८७ अप्रैल-जून ७६ एवं जुलाई-सितम्बर ७६

लेख : (नामवर सिंह), परम्परा और इतिहास बोध–निर्मल वर्मा, परम्परा इतिहास बोध और मैं–सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी में इतिहास और काल–बोध– विद्यानिवास मिश्र, साहित्य का इतिहास–सांस्कृतिक सर्जनशीलता– रघुवंश, आचार्य द्विवेदी का साहित्येतिहास–दर्शन–बच्चन सिंह, तीसरी आँख और शव–साधन का वैकल्पिक मिथक–सुरेन्द्र चौधरी, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि–मैनेजर पाण्डेय, मध्यकालीन बोध मे आधुनिक दृष्टि ——— चतुर्वेदी आ द्विवेदी की दृष्टि में मध्यकालीनता और आधुनिकता गगा प्रसाद भक्ति की पुनर्व्याख्या मे आचार्य हजारी

प्रसाद द्विवेदी का योगदान–शिवकुमार, कला इतिहासकार पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी–कपिला वात्स्यायन , 'कालजयी' परम्परा के कथा शिल्पी –देवराज, आ द्विवेदी और प्रगतिवाद–नंद किशोर नवल, 'कालजयी अवधूत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–शिवमंगल सिंह 'सुमन', आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हमारे युग के रिनेसाँ–पुरुष– रमेश कुन्तल, शैली के धनी–आ. द्विवेदी–भोलानाथ तिवारी 'कुटज' का शैली वैज्ञानिक अध्ययन–विश्वनाथ सिंह यादव, पण्डित हजारी पद द्विवेदी : एक संस्मरण–कपिला वात्स्यायन, अनामदास का पोथा (भाग दो) का एक अंश–, पंडित बनारसी चतुर्वेदी के नाम पत्र, डॉ शिवमंगल सिंह 'सुमन' के नाम पत्र, दूसरी परम्परा की खोज–नामवर सिंह, कविताएं, आ. द्विवेदी की दो आरम्भिक कविताएँ।

पूर्णांक ८८-८६ : अक्टूबर-दिसम्बर ७६ तथा जनवरी-मार्च ८०

प्रेमचन्द स्मृति अंक, प्रेमचन्द : विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता–सम्पादक प्रेमचन्द की अमरता के मूल स्रोत–पूरनचन्द जोशी, प्रेमचन्द आज के संदर्भ मे–भीष्म साहनी, प्रेमचन्द और स्वतंत्रता आन्दोलन–भैरव प्रसाद गुप्त, प्रेमचन्द की परम्परा–शमशेर सिंह नरूला, प्रेमचन्द का सौन्दर्य शास्त्र–नंद किशोर नवल, प्रेमचन्द और प्रगतिशील आन्दोलन–खगेन्द्र ठाकुर, प्रेमचन्द की विचारधारा और उसका सामाजिक आधार– रामवक्ष, नैतिक मूल्यों की समस्या और प्रेमचन्द–द्वारिका प्रसाद चारमित्र, प्रेमचन्द सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत–कृष्ण बिहारी मिश्र, प्रेमचन्द क्रान्तिकारी चेतना के प्रतीक–नइम अहमद, यथार्थ और प्रेमचन्द–श्याम कश्यप, प्रेमचन्द की उपन्यास कला–गोपाल राय, प्रेमचन्द की कहानियाँ–परमानन्द श्रीवास्तव, नयी नैतिकता : मेहता और मालती– शम्भूनाथ प्रेमाश्रय : गांधीवाद और काल्पनिकता–काथरीन थोमा, प्रेमचन्द और परवर्ती कथा–परिदृश्य– शिवकुमार मिश्र, प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचन्द की प्रासंगिकता–मैनेजर पाण्डेय।

पूर्णांक ६० : अप्रैल-जून-८०

लेख : (नामवर सिंह), यह अंक–सम्पादक, दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान –चन्द्रकान्ता– राजेन्द्र यादव, नागार्जुन के उपन्यास : प्रतिबद्ध जीवन दृष्टि की शक्ति और सीमा–चन्द्रेश्वर, अस्तित्व का चौथा आयाम कृष्णा सोबती की कथादृष्टि– अर्चना वर्मा, एक चिथड़ा सुख : किसका सुख किसका दुख–गिरिराज किशोर, भारतीय आत्मा की मनमारू अभिव्यक्ति–कृष्णा सोबती प्रेमचन्द की भाषा–शिल्प एक आलोचनात्मक अध्ययन–जाफर रजा, प्रेमचन्द की शैली भोलानाथ तिवारी प्रेमचन्द का संघर्ष–श्री पाण्डेय प्रेमचन्द की सार्थकता सुरेश शर्मा

निर्झर की झराझर कंचन रेखा–नंद किशोर नवल, फैण्टेसी का शिल्प बनाम मुक्तिबोध--लल्लन राय।

पूर्णांक ६३-६४ : जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून १९८९

सम्पादक–नामवर सिह, सहसम्पादक–नंद किशोर नवल, कविता की जमीन और जमीन की कविता–नागार्जुन से बातचीत, कहाँ--कहाँ से गुजर गये–मनोहर श्याम जोशी, इक जिन्दा जालिम चंगा ए–कृष्णा सोबती, नागार्जुन : आज के कवियों की दृष्टि में, खतरनाक ढंग से कवि होने का साहस-- केदारनाथ सिह हिन्दी का वाल्ट ह्विटमैन–विष्णु खरे, मनुष्य की सच्ची पहचान की कविता–रघुवीर सहाय, शतरज से संसार का सधा खिलाड़ी--अरुण कमल, नागार्जुन की कविताएँ, नागार्जुन के समकालीन कवि, शमशेर की कविता : विकास की तीन मंजिले–श्याम कश्यप, रूप–रस की शहनाई–नंद किशोर नवल, जब देखा तब जीवन देखा–राजेश जोशी, समकालीन काव्य समीक्षा, नये कलावाद का उत्थान–श्याम कश्यप, सकीर्णता और उदारता के छोर–नंद किशोर नवल, दो विशिष्ट कवि : मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो–विष्णु खरे, जमीन की गरमाहट और खुशबू का कवि–विनोद भारद्वाज, एक अनौपचारिक कविता संवाद–भृगुनन्दन त्रिपाठी, समकालीन कविता अपनी झोली से बाहर–प्रभात त्रिपाठी, तर्क से अतर्क्य तक–गिरधर राठी दूसरों के सिर में घुसकर सोचने की कला से मुक्ति–सोमदत्त, सृजनशील आत्म सदर्भ का अग्निगृह–सुरेश शर्मा, हवा को जीवन में बोने वाली कविताएँ–अपूर्वानन्द, डूबती हुई हलचल की कविताएँ–अपूर्वानन्द, अन्तराल मे अटकी संवेदना–गोविन्द द्विवेदी, प्रगतिशील कविता का नया दौर--गीता शर्मा, संघर्ष हीनता के बावजूद–उदय प्रकाश, आंचलिकता का अतिरिक्त आग्रह–उदय प्रकाश, अपनी जूड़ों और अपने स्थानीय देशी रंग में कविता--परमानन्द श्रीवास्तव, विसंगति के अहसास के साथ– परमानन्द श्रीवास्तव, अकेला दुख भी रखता है मानी–रमेश चन्द्र शाह, स्थितियो का मानचित्र–प्रयाग शुक्ल, खबर की कविता और कविता की खबर–रामवक्ष, निष्प्रयोजन कवि–प्रतिभा के खतरे–गीता शर्मा, खत्म होती हुई एक दुनिया–सुरेश शर्मा, मानवीय चिन्ता की कविताएँ–केदारनाथ सिह बडबोलेपन से बचकर–चारुमित्र, सड़क से हटकर चलते हुए–विष्णु खरे।

पूर्णांक ६५ : जुलाई-सितम्बर ८९

नामवर सिंह सह सम्पादक–नद किशोर नवल, लेख : मार्क्स और समाजिक विकास–रामविलास शर्मा, कथानक की जरूरत–नित्यानन्द तिवारी, भाषावादी आलोचना दृष्टि और रचनात्मक संवेदना–परमानन्द श्रीवास्तव, आ. शुक्ल की आलोचना में 'नयी आलोचना' के तत्व--सियाराम तिवारी, आ. शुक्ल और सूरदास–नंद किशोर नवल, लुसुन का साहित्य : एक सूर्यनाद–नील कान्त, प्रेमचन्द की भाषा गोपाल राय विपक्ष में केवल कविता है परेश आज की अफ्रीकी कविता रमेश दवे

एच स्टोन, राष्ट्रीय एकता और प्रेमचन्द–खगेन्द्र ठाकुर, प्रेमचन्द और हरिजन समस्या–ब्रजकुमार पाण्डेय, 'रग–भूमि' एक राजनीतिक उपन्यास–गोपाल, कवि निराला वैचारिक यात्रा–नद किशोर नवल।

पूर्णांक ६७-६८ : जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून १६८२
सम्पादक नामवर सिंह, सहसम्पादक–नद किशोर नवल रामविलास शर्मा–घर की बात (ऊँच गॉव, झाँसी, लखनऊ, आगरा), दो आरम्भिक कविताए–रामविलास शर्मा, हरसिगार की छाया मे –नद किशोर नवल, मेरे प्रिय डाक्टर–केदारनाथ अग्रवाल, मार्क्सवादी आलोचना के बुनियादी सरोकार और डॉ रामविलास शर्मा–शिवकुमार मिश्र ।

पूर्णांक ६६-१०० : जुलाई-सितम्बर, अक्टूबर-दिसम्बर १६८२
नामवर सिह सह सम्पादक–नद किशोर नवल, (लेख), जातीय अस्मिता और राष्ट्रीय एकता के प्रतीक–भारती– सम्पादक, रघुवीर सहाय और मलयज का आलोचना कर्म –अरुण कमल, इतिहास विरोध की दयनीय परिणति–नद किशोर नवल, आधुनिकता और भारतीयता–नयी पुरानी चिन्ताए–परमानन्द श्रीवास्तव, हिन्दी कथा आलोचना–धुधलके के गिरफ्त मे–गोपाल, परम उदारतावाद के चरम सकीर्णतावाद तक की 'सैद्धान्तिक' यात्रा–श्याम कश्यप हिन्दी आलोचना विकास की मंजिले–खगेन्द्र ठाकुर, केदारनाथ अग्रवाल एक अन्तरग रगकर्मी–कमला प्रसाद, सैद्धान्तिक 'शब्द' और व्यावहारिक 'कर्म'–अजय तिवारी, अँधेरे से अँधेरे मे–चारुमित्र, सही परिप्रेक्ष्य का अभाव–गीता शर्मा, प्रेमचन्द विश्वकोश–गोपाल, कला, साहित्य और, संस्कृति–खगेन्द्र ठाकुर, विरोधाभासो की समृद्धि का स्तूप–विजय मोहन सिह, साहित्य की इतिहास दृष्टि और 'मार्क्सवादी दृष्टि'–बच्चन सिह, कविताएँ एक शताब्दी की समाप्ति पर– तमिल मूल–इन्कलाब' 'हिन्दी अनुवाद–डॉ टी एस बुधुस्वामी'।

पूर्णांक वर्ष ३१-३२, अंक ६४-६५, जनवरी, मार्च, अप्रैल-जून १६८३
नामवर सिंह–सहसम्पादक नंद किशोर नवल 'सम्पादकीय', धराशायी भू से गर्वोन्मत्त हिमशिखर तक–विजय मोहन सिह, अह के लियो जजमान–वागीश शुक्ल, मध्यवर्गीय कुमाउनी समाज के बहाने अतीत की अनुभव यात्रा–बटरोही, यथार्थ और कल्पना का सर्जनात्मक द्वन्द्व–श्याम कश्यप, अन्धे गायक की कथा–गोपाल, मानवीय स्थिति से उलझाव भरा सम्पर्क–परमानन्द श्रीवास्तव, जिजीविषा और व्यवस्था का टकराव–खगेन्द्र ठाकुर, घर मे लगी आग की दास्तान–अजय तिवारी, अग्निबीज – यथार्थवादी कला की समस्या–चारुमित्र, रजबाडे से रजबाडे तक की यात्रा–कुलानन्द मिश्र, परिपाटी बद्ध लेखन का नमूना–शैलेश्वर सती प्रसाद, प्रेमचन्द सवर्ण से अवर्ण तक की यात्रा का समाजशास्त्र–विजेन्द्र नारायण सिह, सांवली गहराइयो की कहानियाँ–विजयमोहन सिह, रघुवीर चौधरी की कथात्रयी–उपरवास, सहवास, और अन्तरवास लोकचेतना की तलाश–महावीर सिंह चौहान, आनन्द मठ और वन्देमातरम् · एक शताब्दी परिचर्या–कीर्तिकचन्द्र दत्त।

अंक ६६, जुलाई सितम्बर १६८३

नामवर सिंह, सहसम्पादक–नन्द किशोर नवल–सम्पादकीय', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और हिन्दी नवजागरण, लेख : नेमि बाबू, मेरी कहानी बडी उदास है, उर्फ अपने पत्रों में मुक्बितोध–श्रीराम वर्मा, आ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के पत्र–विष्णुकान्त शास्त्री, भारतीय नाट्यसौन्दर्य–मनोहर काले, साहित्य का सत्य–नाग बोडस, खण्डित दृष्टि का परिणाम–अरुण कमल, समीक्षा के साथ सम्बन्ध–विजय मोहन सिंह, उजाले की मौत के विरुद्ध–मृणाल पाण्डे।

वर्ष ३२ अंक ६७ अक्टूबर-दिसम्बर १६८३

नामवर सिंह, सहसम्पादक– नंद किशोर नवल 'सम्पादकीय' , लेख : यान्निस रित्सोस : नौ कविताएं–टिप्पणी और अनुवाद–विष्णु खरे, आ. शिवपूजन सहाय की डायरी के अंश–प्रस्तुतकर्ता–युगलमूर्ति, समकालीन कविता की दशा–रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रसाद की इतिहास दृष्टि–दिनेश प्रसाद, आधुनिकतावाद और यथार्थवाद का अन्तर्विरोध–नंद किशोर नवल।

वर्ष ३२, अंक ६८ जनवरी-मार्च १६८४

नामवर सिंह, सहसम्पादक–नन्द किशोर नवल, लेख : आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता–सुरेश जोशी, रेणु की कहानी : तीसरी कसम–विश्वनाथ त्रिपाठी, मुक्तिबोध की भाषा–चेतना– शैलेश्वर सती प्रसाद, आधुनिक हिन्दी कविता और लोकचेतना–परमानन्द श्रीवास्तव।

वर्ष ३३, अंक ६६ अप्रैल-जून १६८४

नामवर सिंह, सहसम्पादक–नंद किशोर नवल, लेख : खुद अपने बारे में–अरुण कमल, बेटरवाईस और प्रतिरोध का सौन्दर्यशास्त्र–अनिल भट्टी, प्रेमचन्द शरदचन्द विवाद : १६२२–२३–वीर भारत तलवार, भारतीय भाषाओं में उपन्यास का उदय–सत्यकाम, हिन्दी आंचलिक उपन्यास बनाम लोक चेतना–विवेकी राय, तुलसी की यमुना तथा तुलसी के राम–जगदीश चन्द्र दीक्षित।

अंक ३० जुलाई-सितम्बर ८४

नामवर सिंह, सहसम्पादक–नंद किशोर नवल, कविता–वाद्य–केदारनाथ सिंह, लेख : यांत्रिक पुनरुत्पादन के युग में कलाकृति–वाल्टर वे. न्यार्मन, हमारी परम्परा और हमारी शतखण्ड संस्कृति : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण–गोविन्द पुरुषोत्तम देव पाण्डेय, कार्लमार्क्स के पाँच बीज शब्द–रमेश कुन्तल मेघ, मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ (हिन्दी आलोचना के सम्बन्ध में)–शिवकुमार मिश्र, भारतीय काव्यशास्त्र और मार्क्सवाद– खगेन्द्र ठाकुर, मार्क्स और हिन्दी के रचनाकार : एक सर्वेक्षण, हिन्दी प्रदेश में समाजवादी चेतना का प्रस्तर–वीर भारत तलवार, विश्वसाम्राज्य विरोधी क्रान्ति और एशिया–रामविलास शर्मा, समीक्षा : भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद–गिरीश मिश्र।
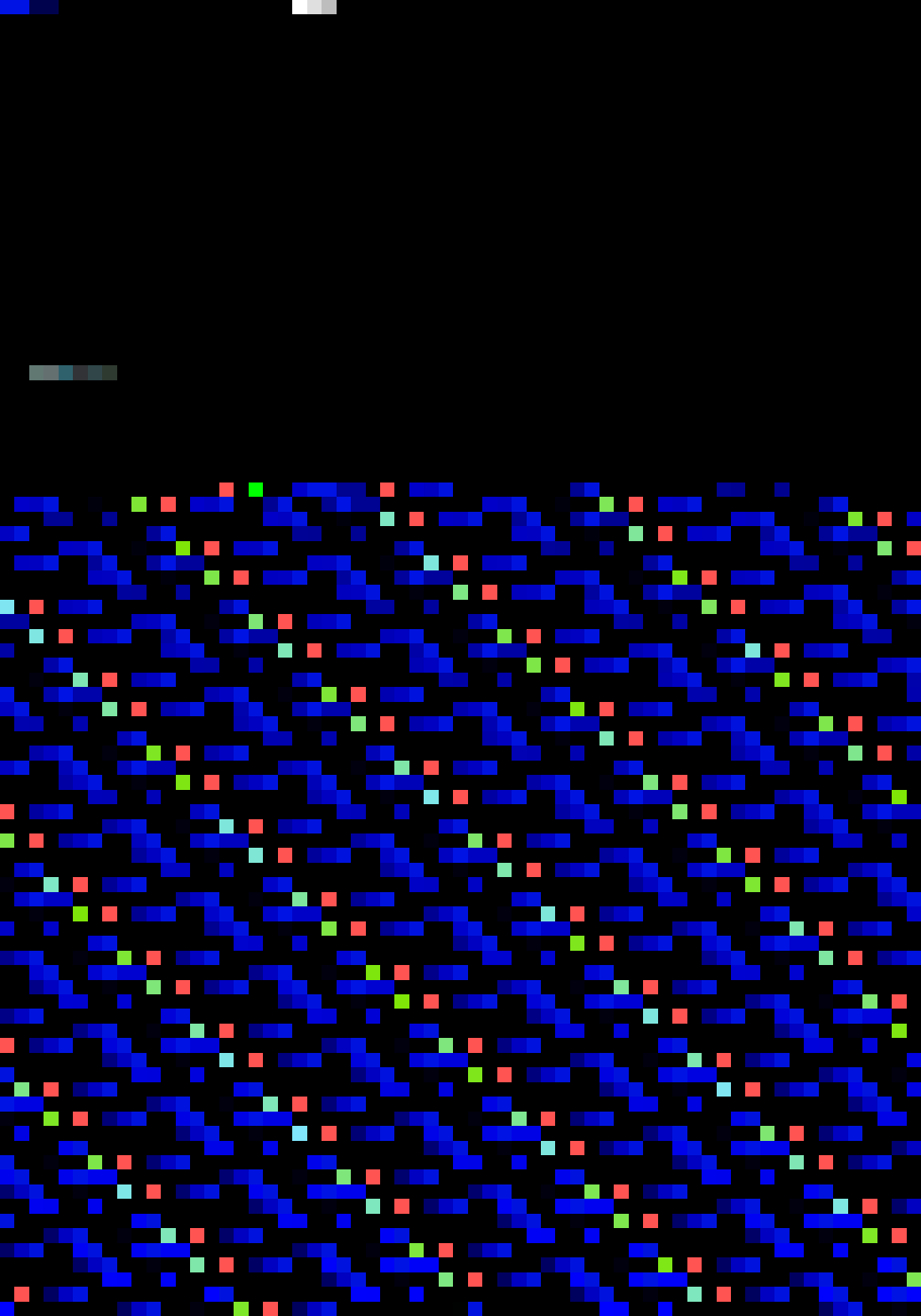
अंक ७१-अक्टूबर ८४

लेख : अंतोनियो ग्राम्भी और साहित्य का समाजशास्त्र–बच्चन सिंह, कविता का समाज शास्त्र–प्रेमशंकर, मुक्तिबोध की कहानियाँ : कथा परम्परा की जीवन्त कड़ी– रवीन्द्र वर्मा, आतिश के अनार' की याद में –राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, लोकनाटक और हिन्दी नाट्य प्रयोग–सिद्धनाथ कुमार, समकालीन रंगमंच–नागबोडस, काव्यानुवाद– ललितमोहन बहुगुणा।

अंक ७२ जनवरी ८५

कबीर की विद्रोह मानसिकता की पृष्ठभूमि–कृपाशंकर सिंह, प्रेमचन्द की कथा शिल्प–गोपाल, राहुल जी का साहित्यालोचन–नंदकिशोर नवल, गद्यलेखक हरिशंकर परसाई–श्याम कश्यप, मतवाला और राष्ट्रीय आन्दोलन–अरुण कुमार, निम्न मध्यवर्ग का संसार और यथार्थवादी साहित्य की समस्याएं–प्रदीप सक्सेना।

अंक ७३ अप्रैल ८५ (शुक्ल अंक)

आचार्य शुक्ल का इतिहास पढ़ते हुए–बच्चन सिंह, आचार्य शुक्ल का साहित्य चिन्तन–विकास की दिशा– जगदीश शर्मा, भारतीय काव्यशास्त्र और आचार्य शुक्ल–विष्णु कान्त शास्त्री, लोकमंगल और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–रघुवंश, कलावाद का खण्डन और लोकमंगल की स्थापना–मैनेजर पाण्डेय, कतिपय योरोपीय 'वादों' पर आचार्य शुक्ल का भारतीय आलोचना–रमेश कुन्तल मेघ, भक्तिकाव्य और आचार्य शुक्ल –शिवकुमार मिश्र, छायावाद और रहस्यवाद की आलोचना और यथार्थवाद के लिए संघर्ष–नित्यानन्द तिवारी, छायावाद–रहस्यवाद की आलोचना और यथार्थवाद के लिए संघर्ष–परमानन्द श्रीवास्तव, आचार्य शुक्ल की आलोचना भाषा–रामस्वरूप चतुर्वेदी, महाजनो गत–नामवर सिंह।

अंक ७४ जुलाई ८५ (शुक्ल अंक)

भारत को क्या करना चाहिए ?–रामचन्द्र शुक्ल 'अनु. अपूर्वानंद, राष्ट्रीय आन्दोलन और रामचन्द्र शुक्ल–वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय आन्दोलन का सांस्कृतिक आयाम और आ. शुक्ल–मुरली मनोहर प्र. सिंह, राजनीतिक आन्दोलन और आचार्य शुक्ल–नन्द किशोर नवल, समकालीन राजनीतिक आन्दोलन और आ. शुक्ल–कर्णसिंह चौहान, आ. शुक्ल द्वारा दार्शनिक विचारधाराओं की आलोचना–शम्भुनाथ, आचार्य शुक्ल की विश्वदृष्टि कितनी प्रासंगिक–नीलकान्त, धर्म दर्शन और विज्ञान की समीक्षा तथा नया मानववाद–वागीश शुक्ल, आ. शुक्ल और रहस्यवाद–खगेन्द्र ठाकुर, आ. शुक्ल की मानसिक बनावट (भारतीयता के सम्बन्ध में)–निर्मल जैन, लोक साहित्य और आ. शुक्ल–दिनेश्वर प्रसाद, कलावाद का खण्डन और लोकमंगल की स्थापना– विजय मोहन सिंह।

अंक ७५ अक्टूबर ८५

फादर कामिल बुल्के : एक अंतरंग बातचीत–दिनेश्वर प्रसाद, विचारधारा और साहित्य–खगेन्द्र ठाकुर, साहित्य और विचारधारा–प्रतिबद्धता का प्रश्न–रमाकान्त शर्मा, वैज्ञानिकता एवं काव्यार्थ–ललितमोहन बहुगुणा, समकालीन कविता और